जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ – 341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (उत्तरार्द्ध)

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन

सप्तम पत्र

जैन धर्म दर्शन और भारतीय धर्म दर्शन

---

laoxZ-I	%	rÙoehekalk
laoxZ-II	%	vfgalk ,oa vifjxzg
laoxZ-III	%	ozr ,oa deZ
laoxZ-IV	%	tSu izek.k
laoxZ-V	%	tSu ;ksx

विशेषज्ञ समिति

प्रो. दयानन्द भार्गव
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. अरूण मुखर्जी
पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. कुसुम जैन
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ. विमला भण्डारी
पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष, जैनविद्या विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष
प्राच्यविद्या एवं भाषा विभाग,
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूँ

डॉ. समणी शुभ प्रज्ञा
सहायक आचार्य
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

लेखक दलः

प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

डॉ. समणी स्थितप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

मुनिश्री चन्द्र 'कमल'
लाडनूं

साध्वी यशोधरा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा
लाडनूं

समणी जयन्तप्रज्ञा
समणी शारदाप्रज्ञा

समणी डॉ. हिमप्रज्ञा
सहा. प्रोफेसर, जैन विश्वभारती संस्थान,

समणी चिन्मयप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

डॉ. अशोक कुमार जैन
सह–आचार्य, जैनविद्या
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

प्रो. जिनेन्द्र जैन
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर

प्रो. जे.आर. भट्टाचार्य
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूं

प्रो. हरिशंकर पाण्डेय
सह–आचार्य, संस्कृत एवं प्राकृत
डॉ. सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनूं

सम्पादक मण्डल– 1. प्रो. समणी चैतन्य प्रज्ञा
विभागाध्यक्ष – जैनविद्या विभाग,
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

2. डॉ. समणी शुभप्रज्ञा
सहायक–आचार्य, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

संस्करण : 2016

मुद्रण प्रतियां : ......

प्रकाशक :
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ –341306 (राजस्थान)

विषयानुक्रमणिका

संवर्ग–1 : तत्त्वमीमांसा

इकाई–1 : सत् का स्वरूप—वेदान्त, बौद्ध एवं जैन

संरचना

1.0 प्रस्तावना

विश्व का वैविध्य दृग्गोचर है। जगत् के विस्तार को देखकर उसके मूल स्रोत की जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। विश्व का विस्तार एवं मूल सत् रूप है अथवा असत् रूप है। यह जिज्ञासा भी दार्शनिकों के चिन्ता का विषय रही है। एक समान दृष्टिगोचर होने वाले जगत् के बारे में चिन्तकों में विचार भेद रहा है।

विश्व के संदर्भ में विचार करने वाली दृष्टियों की परस्पर भिन्नता होने के कारण उससे प्राप्त परिणाम में भिन्नता होनी स्वाभाविक ही है। तत्त्व के संदर्भ में विमर्श करने वाली मुख्यत: दो दृष्टियां हैं—अभेददृष्टि एवं भेददृष्टि। अभेद दृष्टि अनेकता में एकता का दर्शन करती है। वह सामान्यग्राहिणी दृष्टि है। यह दृष्टि प्रारम्भ में विश्व के समस्त पदार्थों में समानता का दर्शन करती है और धीरे-धीरे अभेद की ओर उन्मुख होते हुए अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व का एक कारण स्वीकार कर लेती है और निश्चय करती है कि जो कुछ प्रतीति में आ रहा है वह तत्त्व वास्तव में एक ही है अनेक नहीं है, भ्रान्ति/अविद्या के कारण अनेक की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार वह अभेदगामिनी दृष्टि समानता की प्राथमिक भूमिका को छोड़कर अन्त में तात्त्विक एकता की भूमिका पर अवस्थित हो जाती है। इस दृष्टि के अनुसार एकत्व ही एकमात्र सत् है। अभेदग्राही होने के कारण यह विचारसरणि या तो भेदों की तरफ ध्यान ही नहीं देती, यदि भेद पर विचार करती भी है तो उन्हें व्यावहारिक या अपारमार्थिक या बाधित कहकर छोड़ देती है। इस दृष्टि के अनुसार भेद मिथ्या या काल्पनिक है। अभेद या एकत्व ही वास्तविक सत् है। इस दृष्टि का आधार समन्वय मात्र है। इस सामान्यग्राहिणी दृष्टि के द्वारा समग्र देश-काल-व्यापी तथा देश-काल-विनिर्मुक्त एक मात्र सत्-तत्त्व या ब्रह्माद्वैतवाद के अनुसार भेद तथा भेद के ग्राहक प्रमाण मिथ्या हैं। सत् अभेद रूप है तथा वह तर्क एवं वाणी का विषय नहीं है मात्र अनुभवगम्य है।

विश्व के बारे में अनुभव करने वाली दूसरी दृष्टि विशेषग्राहिणी भेद दृष्टि है। उसकी तत्त्वमीमांसा में भेद ही प्रमुख तत्त्व है। इस दृष्टि के अनुसार विश्व में समानता एवं अभेद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। यह दृष्टि विश्व में असमानता ही असमानता देखती है और शनैः शनैः असमानता के मूल का अन्वेषण करती हुयी अन्त में वह विश्लेषण की उस भूमिका पर आरूढ़ हो जाती है जहां उसे एकत्व की अनुभूति तो होती

ही नहीं बल्कि वह समानता को भी मिथ्या या कृत्रिम ही स्वीकार करती है। इस दृष्टि के अनुसार संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं। विश्व भेदों का पुञ्ज मात्र है। विश्व में एक तत्त्व या साम्य का वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है। अविद्या के कारण व्यक्ति विभिन्नता में एकता का दर्शन करता है। जैसे दीपक की लौ निरन्तर नई-नई पैदा होती रहती है मात्र दृष्टि भ्रम से व्यक्ति उसे एक मानता रहता है। वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्व परस्पर अत्यन्त भिन्न है। मिथ्याज्ञान के कारण उसमें एकत्व का अध्यारोप कर लिया जाता है। इस दृष्टि के अनुसार सत् पदार्थ केवल देश एवं काल से ही भिन्न नहीं है बल्कि स्वरूप से भी भिन्न है तथा वे मात्र अनुभवगम्य हैं।

एकान्त अभेदग्राहिणी दृष्टि से अद्वैत वेदान्त का मत प्रादुर्भूत हुआ तथा एकान्त भेदग्राहिणी दृष्टि के द्वारा बौद्ध दर्शन का क्षणभंगवाद उत्पन्न हुआ। ये दोनों परस्पर विरोधी दृष्टियां एकान्त का आश्रय लेने के कारण विश्व के मूलभूत तत्त्व के संदर्भ से सर्वथा विरोधी हो जाती है तथा एक-दूसरे पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप करती रही हैं।

दर्शन जगत् में विश्व के बारे में चिन्तन करने वाली एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि का विकास हुआ जिसे अनेकान्त दृष्टि कहा जाता है। इस दृष्टि के अनुसार विश्व में दृष्टिगोचर होने वाला भेद एवं अभेद दोनों ही अपनी विशेष प्रकार की अपेक्षा से सत्य है। अभेद एवं भेद दोनों ही दृष्टियां अपने विषय क्षेत्र में सत्य हैं एवं उनसे उपलब्ध तथ्य में सत्यांश अवश्य है। अभेदात्मक एवं भेदात्मक दोनों ही प्रतीतियां वास्तविक हैं किन्तु उनकी वास्तविकता परस्पर सापेक्ष होने से ही हो सकती। यदि अभेद या भेद दृष्टि अपने को पूर्ण एवं अन्य को अवास्तविक मानती है तो वे स्वयं ही अप्रामाणिक हो जाती हैं।

सामान्य एवं विशेष की प्रतीति अपने विषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण प्रमाण नहीं है, प्रमाण का अंशमात्र है। वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो भेदाभेदात्मक है। वह न केवल अभेदरूप है एवं न केवल भेदरूप अपितु उभय रूप है। वस्तु अनेक विरोधी धर्मों का समुदाय है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सामान्य-विशेष आदि परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले धर्म युगपत् एक समय में रहते हैं। यह वस्तु मात्र का स्वरूप है। संग्रह नय का आश्रय लेने वाली अभेददृष्टि के अनुसार सत् को अभेदरूप माना जा सकता है किन्तु ऋजुसूत्र नय का आश्रय लेने वाली भेददृष्टि से प्राप्त वस्तु का स्वरूप भी यथार्थ है। तात्पर्य यह है कि अनेकान्त दृष्टि के अनुसार भेद एवं अभेद दोनों ही वास्तविक सत् हैं। जलराशि में अखण्ड एक समुद्र की प्रतीति भी सत्य है एवं अंतिम जलकण की प्रतीति भी सम्यक् है। एक इसलिए वास्तविक है कि अभेद दृष्टि भेदों को अलग-अलग रूप से ग्रहण न करके सबको एक साथ सामान्यरूप से देखती है। स्थान, समय आदि कृत भेद जो एक-दूसरे से व्यावृत्त है उनको अलग-अलग रूप से विषय करने वाली बुद्धि भी वास्तविक है। एकमात्र सामान्य की प्रतीति के समय सत् शब्द का अर्थ इतना विशाल हो जाता है कि उसमें कोई शेष बचता ही नहीं है किन्तु जब हम विश्व को गुण, धर्मकृत भेदों से विभाजित करते हैं, तब विश्व एक सत् रूप न रहकर अनेक सत् रूप प्रतीत होने लगता **है। 'विश्वमेकं सतोऽविशेषात्'** की ध्वनि भी यथार्थ है एवं विश्व की अनेकता भी यथार्थ है। अनेकान्त दृष्टि विरोध का समाहार करके वस्तु की सम्यक् व्यवस्था करती है। इस दृष्टि का पक्षकार जैनदर्शन रहा है। इसके अनुसार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक ही वस्तु नित्य, अनित्य, सामान्य-विशेष रूप है। इस दर्शन के आचार्यों ने विभिन्न विरोधी दृष्टियों का नयवाद के सिद्धान्त के द्वारा सम्यक् समाहार किया है।

इस दर्शन में सत् के स्वरूप का विमर्श भी अनेकान्त दृष्टि से ही हुआ है। विभिन्न दर्शनों का अवलोकन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी ने 'सत्' रूप में पदार्थों को पहले स्वीकार कर लिया फिर उसके लक्षण एवं स्वरूप पर विमर्श किया है। वेदान्त दर्शन ने ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करके उसके

स्वरूप को कूटस्थ नित्य अपनी अभेदग्राहिणी दृष्टि से स्वीकार किया है। बौद्ध ने भेदग्राही दृष्टि के द्वारा सत् के स्वरूप को क्षणिक स्वीकार किया है।

1.1 उद्देश्य

जैन दर्शन ने अनेकान्त दृष्टि के आधार पर सत् को उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्ययुक्त स्वीकार किया। प्रस्तुत पाठ में वेदान्त, बौद्ध एवं जैन दृष्टि से सत् के स्वरूप के बारे में विमर्श किया जायेगा।

1.2 वेदान्त दर्शन में सत् का स्वरूप

सभी भारतीय दर्शनों में सत् के स्वरूप, संख्या आदि के विषय में विमर्श हुआ है। यद्यपि उनकी 'सत्' के स्वरूप एवं संख्या सम्बन्धी अवधारणा में मतैक्य नहीं है। सभी चिन्तकों ने स्वमन्तव्य पोषक 'सत्' की विचारणा प्रस्तुत की है।

वेदान्त दर्शन से हमारा तात्पर्य शंकर अद्वैत वेदान्त से है। इस दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय है। संसार में नानात्व नहीं है। एकत्व ही यथार्थ है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'** ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:"** ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म स्वरूप ही है, ब्रह्म से भिन्न उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, यह वेदान्त दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है।

इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म परमार्थसत्ता है। यथार्थ परम सत् ब्रह्म ही है। ब्रह्म मूल तत्त्व है। ब्रह्म को व्याख्यायित करते हुये कहा गया जिससे इन सब भूतों की उत्पत्ति हुई है और उत्पन्न होने के बाद जिससे ये जीवन धारण करते हैं तथा मृत्यु के समय जिसमें समाहित हो जाते हैं वही ब्रह्म है। संसार के पदार्थ सदा अपनी आकृतियां बदलते रहते हैं अत: परमार्थ रूप से संसार को सत् नहीं कहा जा सकता। इस परिवर्तनशील पदार्थों से युक्त नाम रूपात्मक विश्व की पृष्ठभूमि में ऐसी सत्ता है जो स्थिर है, सर्वदा एवं सर्वथा अपरिवर्तनशील है वही ब्रह्म है एवं परमार्थ सत् है। शंकर के अनुसार ब्रह्म विशुद्ध, सब गुणों से मुक्त निरुपाधिक सत्ता है, जिसे निर्गुण ब्रह्म भी कहा जाता है। वह अव्याख्येय, अनिर्वचनीय यथार्थ सत्ता है। ब्रह्म एक, अनन्त एवं कूटस्थ नित्य है। ब्रह्म विशुद्ध है, नितान्त आत्मस्वरूप, एक एवं अद्वितीय है अर्थात् उस जैसी कोई दूसरी सत्ता नहीं है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही मौलिक तत्त्व है। संसार में दृष्टिगोचर होने वाली अनेक आत्माएं तथा अन्य पदार्थ उस एक मौलिक ब्रह्म रूप आत्मा के कारण ही है उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है। अविद्या के नाश होने पर पुन: वे ब्रह्म में ही विलीन हो जाती हैं।

शंकराचार्य का कथन है कि मूलरूप से ब्रह्म एक होने पर भी अनादि अविद्या के कारण वह अनेक जड़ एवं चेतन पदार्थों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार विपर्यय ज्ञान के कारण रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है। रस्सी सर्प रूप में न तो उत्पन्न होती है और न ही वह सर्प को उत्पन्न करती है फिर भी रज्जु में सर्प का भ्रमज्ञान होता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म अनेक जीवों के रूप में उत्पन्न भी नहीं करता फिर अनेक जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इस अनेकता की प्रतीति माया के कारण हैं। जीवों की अनेकता मिथ्या है। यदि जीव का अज्ञान दूर हो जाये तो उसे ब्रह्मभाव की अनुभूति हो सकती है। शंकर के मत को **'केवलाद्वैतवाद'** भी कहा जाता है क्योंकि वे केवल एक अद्वैत ब्रह्म आत्मा को ही सत्य मानते हैं, शेष समस्त पदार्थों को मायारूप अथवा मिथ्या मानते हैं। जगत् को मिथ्या मानने के कारण इनके मत को मायावाद भी कहा गया है, जिसका दूसरा नाम विवर्तवाद भी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि शंकर के अनुसार ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता है। शेष पदार्थ व्यावहारिक या प्रतिभासिक सत् है। वेदान्त दर्शन में सत्ता तीन प्रकार की मानी गयी है—1. पारमार्थिक 2. व्यावहारिक एवं 3. प्रातिभासिक।

1. **पारमार्थिक सत्—**वेदान्त के अनुसार एक, सर्वव्यापक, अपरिवर्तनशील, कूटस्थ नित्य ब्रह्म ही पारमार्थिक सत् है।
2. **व्यावहारिक सत्—**दृश्यमान चराचर जगत् यह ब्रह्म का विवर्तमात्र है। इसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। यह व्यावहारिक सत् है। जगत् में अनुभव में आने वाले घट पट आदि पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता है।
3. **प्रातिभासिक सत्—**स्वप्न आदि में प्रतिभासित होने वाला पदार्थ पारमार्थिक एवं व्यावहारिक सत् भी नहीं है। उनका प्रतिभास मात्र होता है अत: वे प्रातिभासिक सत् है।

वेदान्त प्रत्ययवादी दर्शन है। इसकी अवधारणा के अनुसार जो दृश्य जगत् है, वह वास्तविक नहीं है। पारमार्थिक सत्य इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है तथा उसको वाणी के द्वारा अभिव्यक्त भी नहीं किया जा सकता।

'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

अतीन्द्रिय चेतना के द्वारा गृहीत ब्रह्म तत्त्व ही वास्तविक है स्थूल जगत् की पारमार्थिक सत्ता नहीं है।

1.3 बौद्ध दर्शन में सत् की अवधारणा

बौद्ध दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण चराचर जगत् क्षणिक है। क्षणभङ्ग.वाद बौद्ध दर्शन का मूल सिद्धान्त है। संसार के समस्त पदार्थ क्षणिक हैं। वे प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। पहले क्षण के पदार्थ का दूसरे क्षण निरन्वय विनाश हो जाता है। दूसरे क्षण का पदार्थ प्रथम क्षण के पदार्थ से सर्वथा भिन्न हो जाता है। अविद्या/अज्ञान के कारण पदार्थों में समानता दिखाई देती है वस्तुत: वह होती नहीं है। संसार का प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। वस्तु का प्रत्येक क्षण में स्वाभाविक नाश होता है। क्षणभंग के कारण ही बौद्ध दर्शन विनाश को निर्हेतुक मानता है। प्रत्येक क्षण में विनाश स्वयं होता है। विनाश के लिए किसी बाह्य हेतु की आवश्यकता नहीं होती है। तर्कभाषा में कहा—**'नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरूपजातमङ्ग.ीकर्त्तव्यम्, तस्मादुत्पन्नमात्रमेव विनश्यति, उत्पत्तिक्षण एव सत्त्वात्'** बौद्धदर्शन के अनुसार जो सत् रूप है वह एकान्त रूप से क्षणिक है। कोई भी सत् पदार्थ क्षणिकता की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। **'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्, यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्, यथा घट:।'** सब अस्तित्ववान् पदार्थ क्षणिक है। अक्षणिक/नित्य पदार्थ की कल्पना शशश्रृंगवत् निरर्थक है। नित्य पदार्थ क्रम अथवा युगपत् दोनों ही प्रकार से अर्थक्रिया नहीं कर सकता। जिसमें अर्थक्रिया नहीं होती वह सत् रूप भी नहीं हो सकता। सत् वही है जो अर्थ क्रिया करे—**अर्थक्रिया-सामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुन: न्यायबिन्दु पृ.17**

बौद्ध दर्शन के अनुसार क्षणिक पदार्थ ही अर्थक्रिया करने में समर्थ है अत: एकमात्र क्षणिक पदार्थ/वस्तु ही सत् रूप है।

वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक ये चार बौद्धदर्शन के प्रमुख सम्प्रदाय हैं। बौद्ध दर्शन में इन दार्शनिक शाखाओं की उत्पत्ति 'सत्ता' के प्रश्न को लेकर ही हुयी है। बौद्ध के अनुसार सम्पूर्ण प्रमेय क्षणिक है यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है किन्तु प्रमेय के स्वरूप के सम्बन्ध में इन दार्शनिक विचारधाराओं में गंभीर भिन्नता है। सत् के विवेचन के संदर्भ में इन चारों ही विचारधाराओं के संक्षिप्त मंतव्य को प्रस्तुत प्रकरण में अभिव्यक्त किया जायेगा।

1.3.1 वैभाषिक

वैभाषिक मत के अनुसार इस नानात्मक जगत् की वास्तविक सत्ता है। बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त धर्मों का स्वतंत्र अस्तित्व है। बाह्य पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव हमें प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्रतिक्षण हो रहा है। उदाहरणार्थ चक्षुइन्द्रिय के द्वारा घट नामक पदार्थ का ज्ञान हुआ। घटज्ञान प्राप्त करके हम घट नामक पदार्थ को प्राप्त करते हैं उस घट पदार्थ से जल आहरण आदि अर्थक्रिया होती है। अर्थक्रियाकारिता के कारण

यह घट यथार्थ है और इस यथार्थता का ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष से हो रहा है अतः जगत् की स्वतंत्र सत्ता प्रत्यक्षगम्य है। वैभाषिक मत के अनुसार बाह्य एवं आभ्यन्तर के भेद से जगत् भी दो प्रकार का है। दोनों प्रकार के जगत् की सत्ता परस्पर निरपेक्ष है।

स्थूल रूप से यह जगत् 'नामरूपात्मक' है। 'नाम' मन तथा मानसिक प्रवृत्तियों की साधारण संज्ञा है, जिन्हें वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञानरूप से विभक्त करने पर नाम के चार स्कन्ध बन जाते हैं तथा 'रूप' जगत् के जड़ पदार्थों का सामान्य अधिवचन है, रूप से रूप नामक स्कन्ध का अवबोध हो रहा है। इस प्रकार **'नाम रूप'** जगत् का ही विस्तृत विभाजन करने से **'पञ्चस्कन्ध'** की अवधारणा सम्पुष्ट हो जाती है। संक्षेप में वैभाषिक मत के अनुसार सत् बाह्य एवं आभ्यन्तर उभयरूप है एवं वह क्षणिक है।

जैसा कि कहा भी गया है कि—

"तत्र ते सर्वास्तिवादिनो बाह्यमन्तरं च वस्तु अभ्युपगच्छति भूतं च भौतिकं च चित्तं चैत्तं च"

बाह्य एवं आभ्यन्तर जगत् को वास्तविक सत् मानने के साथ ही इस दर्शन का यह मुख्य सिद्धान्त है कि बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष हो सकता है।

1.3.2 सौत्रान्तिक

सौत्रान्तिक विचारधारा भी बाह्य एवं आभ्यन्तर जगत् को वास्तविक/सत् रूप स्वीकार करती है। इनके अनुसार केवल चित्त (विज्ञान) की ही वास्तविक सत्ता नहीं है अपितु बाह्य पदार्थों की भी सत्ता निर्विवाद है। वैभाषिक की तरह ही यह बाह्य जगत् को तो वास्तविक मानता है किन्तु उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है वह अनुमानगम्य है यह सौत्रान्तिकों का अभिमत है। उनका मन्तव्य है कि बाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं अतः किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है। जिस क्षण में किसी वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियों का सम्पर्क होता है, उस क्षण में वह वस्तु प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर अतीत के गर्भ में चली जाती है। केवल तज्जन्यसंवेदन शेष रहता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नील, पीत आदि चित्र चित्त के पट पर खिच जाते हैं। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब की सत्ता का अनुमान किया जाता है वैसे ही मन पर जो प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है उसी को वह देखता है और उसके द्वारा वह उसके उत्पादक बाहरी पदार्थों का अनुमान करता है। सर्वसिद्धान्तसंग्रह में इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि—

नीलपीतादिभिश्चित्रैर्बुद्याकारैरिहान्तरैः।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते॥

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि इस विचारधारा के अनुसार बाह्य जगत् का अस्तित्व वास्तविक है एवं उसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है।

1.3.3 योगाचार

योगाचार के अनुसार विज्ञान ही एकमात्र परमार्थ सत् है। बाह्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। चित्त को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ मृग-मरीचिका के समान निःस्वभाव तथा स्वप्न के समान निरुपाख्य है। जिसे बाह्य पदार्थ कहा जाता है उनका विश्लेषण करें तो वहां आंख से देखे गये रंग-आकार हाथ से स्पर्श किये गये रुक्षता-स्निग्धता आदि गुण ही मिलते है इसके अतिरिक्त किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता है। विज्ञान ही वास्तविक है। लंकावतारसूत्र में कहा है—

चित्तं वर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते चित्तं नान्याच्चित्तमेव निरुध्यते॥

चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है। चित्त को छोड़कर दूसरी वस्तु न तो उत्पन्न होती है न ही उसका नाश होता है चित्त ही एकमात्र तत्त्व है। इस जगत् में न तो भाव पदार्थ विद्यमान न ही अभाव। चित्त के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ सत् नहीं। बाह्य दृश्य जगत् का अस्तित्व ही नहीं है। चित्त एकाकार है तथा वही इस जगत् में विचित्र रूपों में दिखाई देता है—

दृश्यते न विद्यते बाह्यं, चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहयोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्।।

चित्त ही कभी देह रूप में और कभी उपयोग की वस्तुओं के रूप में प्रतिष्ठत रहता है, अतः चित्त की ही वास्तविक सत्ता है। जगत् उस चित्त का ही परिणमन है। यह सम्पूर्ण जगत् को विज्ञानमय मानता है, अतः विज्ञानाद्वैतवादी है।

1.3.3.1 सत्तास्वरूप विमर्श

विज्ञान द्वैतवादी बौद्ध पारमार्थिक एवं व्यावहारिक के भेद से सत्ता के दो प्रकार मानते हैं। इनके अनुसार व्यावहारिक सत्ता पुनः दो भागों में विभक्त है—1. परिकल्पित सत्ता और 2. परतन्त्र सत्ता। परमार्थ को परिनिष्पन्न सत्ता कहा जाता है। इनके अनुसार सत्ता के तीन रूप बन जाते हैं—

1. परिनिष्पन्न सत्ता (परमार्थ, वास्तविक)
2. परिकल्पित सत्ता (व्यावहारिक)
3. परतन्त्र सत्ता (व्यावहारिक)

व्यावहारिक सत्ता को संवृत्ति सत् भी कहा जाता है। विज्ञानवाद के अनुसार जगत् का समस्त व्यवहार आरोप या उपचार से संचालित है। वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं—जैसे रस्सी में सर्प का आरोप। इस दृष्टांत से ज्ञात होता है कि रज्जु में जो सर्प का आरोप किया है वह मिथ्या है क्योंकि जैसे ही उस भ्रान्ति का निराकरण होगा रज्जु का रज्जुत्व ज्ञाता के सम्मुख उपस्थित हो जायेगा। यहां सर्प की भ्रान्ति का ज्ञान परिकल्पित है। रज्जु की सत्ता परतन्त्र शब्द से अभिहित की जाती है तथा वह वस्तु जिससे रज्जु बनकर तैयार हुयी है वह परिनिष्पन्न सत्ता कहलाती है।

परिकल्पित सत् कल्पनामात्र है परतन्त्र सत्ता बाह्य वस्तु सापेक्ष है। परतन्त्र शब्द का ही अर्थ है दूसरे के ऊपर अवलम्बित होने वाला। इसका तात्पर्य यह है कि परतन्त्र सत्ता स्वयं उत्पन्न नहीं होती अपितु हेतु-प्रत्यय के द्वारा उत्पन्न होती है।

परिकल्पित सत्ता में ग्राह्य-ग्राहक भाव का स्पष्ट आभास होता है। किन्तु यह भेद की कल्पना नितान्त भ्रान्त है। ग्राह्य एवं ग्राहक भाव दोनों ही परिकल्पित है क्योंकि विज्ञान तो एकाकार है उसमें न तो ग्राहकत्व और न ग्राह्यत्व। अविद्या के कारण ऐसी परिकल्पना होती रहती है। जब तक यह संसार है तब तक यह द्विविध कल्पना चलती रहती है जिस समय ये दोनों भाव निवृत्त हो जाते हैं उस समय परिनिष्पन्न सत् की अवस्था प्राप्त हो जाती है। परतन्त्र सदा परिकल्पित लक्षण के साथ मिश्रित होकर हमारे सामने उपस्थित होता है। जिस समय उसका मिश्रण समाप्त हो जाता है और वह अपने विशुद्ध रूप में प्रतीत होने लगता है वही उसकी परिनिष्पन्नावस्था है।

योगाचार मत के सत् के स्वरूप का अनुशीलन करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है इसके अनुसार सत्/सत्य त्रिद्या विभक्त है। जैसा कि मैत्रेयनाथ ने कहा भी है—

कल्पितः परतन्त्रश्च परिनिष्पन्न एव च।
अर्थादभूतकल्पाच्च द्वयाभावाच्य कथ्यते॥

1.3.4 माध्यमिक (शून्याद्वैतवादी)

माध्यमिक दर्शन की विचारधारा के अनुसार शून्य ही परमार्थ सत् है। माध्यमिक मत के प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन के अनुसार यह जगत् मायिक है। स्वप्न में दृष्ट पदार्थों की सत्ता के समान जगत् के समग्र पदार्थों की सत्ता काल्पनिक है। विश्व व्यावहारिक रूप से सत्य है, परमार्थ रूप से वह शून्य है। समग्र जगत् स्वभाव-शून्य है। यहां शून्य का अर्थ अभाव नहीं है किन्तु शून्य का अर्थ है तत्त्व की अवाच्यता। शून्य (तत्त्व) सत्, असत्, उभय एवं अनुभय रूप नहीं है वह चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है। जैसा कि माध्यमिक कारिका में कहा गया—

न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः॥

माध्यमिक मत के अनुसार सत् दो प्रकार का है—

1. संवृत्ति सत् (अविद्याजनित व्यावहारिक सत्ता) 2. पारमार्थिक सत् (प्रज्ञाजनित सत्य)

आर्य नागार्जुन का अभिमत है कि भगवान् बुद्ध ने इन दो सत्यों को लक्ष्य करके ही धर्म का उपदेश दिया था—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥

सांवृत्तिक सत्य वह है जो संवृत्ति के द्वारा उत्पन्न हो। संवृत्ति शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की जाती है उसका एक अर्थ है—अविद्या। जो सत्य के ऊपर आवरण डाल देती। **'संव्रियत आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद् आवृतप्रकाशनाच्चानयति संवृत्तिः'** अविद्या, मोह तथा विपर्यास संवृत्ति के ही पर्यायवाची नाम हैं।

अविद्या या मोह के द्वारा उत्पादित काल्पनिक सत्य को सांवृतिक सत्य कहा जाता है। यह सत्य दो प्रकार का है—1. लोकसंवृत्ति तथा 2. अलोक संवृत्ति। लोकसंवृत्ति वह है जिसे साधारण जनमानस सत्य मानकर व्यवहार करता है, जैसे घट, पट आदि पदार्थ। अलोक संवृत्ति उसे कहते हैं जिसे कुछ व्यक्ति ही ग्रहणकर सकते हैं जैसे शंख का पीत रंग। प्रज्ञाकारमति ने लोकसंवृत्ति को तथ्यसंवृत्ति एवं अलोकसंवृत्ति को मिथ्यासंवृत्ति की संज्ञा दी है। लोकदृष्टि से प्रथम संवृत्ति सत्य एवं दूसरी प्रकार की संवृत्ति असत्य है किन्तु परमार्थ रूप से तो दोनों ही असत्य हैं। परमार्थ सत्—परमार्थ सत्य संवृत्ति सत् से सर्वथा भिन्न होता है। वस्तु का अकृत्रिम स्वरूप ही परमार्थ है। उस सत् का ज्ञान होने से संवृत्तिजन्य क्लेशों का नाश हो जाता है। परमार्थ सत् अवाच्य है। शून्यता, तथता, भूतकोटि और धर्मधातु ये पर्यायवाची हैं। परमार्थ सत् अवक्तव्य है उसका कथन नहीं किया जा सकता। परम तत्त्व न तो वाणी का विषय है न चित्त का। वाक् और मन—दोनों ही उस तत्त्व तक नहीं पहुंच सकते अतः वह अचिंत्य एवं अवाच्य है। उस तत्त्व की मात्र अनुभूति की जा सकती है अतः वह 'प्रत्यात्म वेदनीय' है। संवृत्ति एवं परमार्थ सद् को व्याख्यायित करते हुये कहा गया—

यत्र भिन्ने न तद् बुद्धिरन्यापोहे धिया च तत्।
घटाम्बुवत् संवृत्ति सत् परमार्थसदन्यथा॥

1.4 जैन दर्शन में सत् का स्वरूप

भारतीय दर्शन जगत् में सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मतभेद है। वेदान्त दर्शन सत् (ब्रह्म) को एक एवं कूटस्थ नित्य मानता है। बौद्ध के अनुसार सत् क्षणिक है, मात्र उत्पाद-विनाशशील है, नित्यतायुक्त किसी पदार्थ का जगत् में अस्तित्व ही नहीं है। सांख्यदर्शन चेतन तत्त्व रूप सत् पदार्थ को कूटस्थ नित्य एवं

प्रकृति रूप सत् को परिणामी नित्य मानता है। नैयायिक-वैशेषिक दर्शन अनेक पदार्थों में से आत्मा, परमाणु काल आदि सत् तत्त्वों को कूटस्थ नित्य मानता है तथा घट, पट आदि कुछ पदार्थों को मात्र उत्पाद एवं व्यय युक्त ही मानता है नित्य रूप नहीं मानता है।

जैन दर्शन के अनुसार सत्/वस्तु नित्यानित्यात्मक उभय रूप है। वस्तु केवल कूटस्थ भी नहीं है और केवल निरन्वयविनाशी भी नहीं है। सांख्य दर्शन की तरह उसका एक तत्त्व सर्वथा नित्य एवं दूसरा तत्त्व परिणामिनित्य भी नहीं है। न्याय-वैशेषिक की भांति आत्मा आदि कुछ पदार्थ नित्य एवं घट, पट आदि कुछ अनित्य है ऐसा भी नहीं हैं। जैन दर्शन के अनुसार चेतन और जड़, अमूर्त्त, और मूर्त्त, सूक्ष्म और स्थूल सभी सत् पदार्थ उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्ययुक्त हैं। सम्पूर्ण वस्तु जगत् त्रयात्मक है। वाचक उमास्वाति ने कहा भी है—

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'

अद्वैत वेदान्त ने द्रव्य को पारमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक कहकर उसके अस्तित्व को ही नकार दिया। बौद्धों ने पर्याय को पारमार्थिक मानकर द्रव्य को काल्पनिक मान लिया। जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य और पर्याय दोनों पारमार्थिक सत्य है। हमारा ज्ञान जब संश्लेषणात्मक होता है तब द्रव्य उपस्थित रहता है और पर्याय गौण हो जाता है और जब ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है तब पर्याय प्रधान एवं द्रव्य गौण हो जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुये कहा है—

'अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं'।

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक अर्थात् सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य एवं विशेष का परस्पर अविनाभाव है। वे एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते अर्थात् एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य हुआ पर्याय रहित द्रव्य एवं द्रव्य रहित पर्याय सत्य नहीं है।

द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा॥

जैन दर्शन के मन्तव्यानुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु में एक ही काल में अनन्त विरोधी धर्म युगपत् रहते हैं। एक ही वस्तु एक ही समय में उत्पत्तिशील, विनश्वर एवं ध्रुवता युक्त है। उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्ययुक्त त्रयात्मक वस्तु ही अर्थ क्रिया करने में समर्थ है। एकान्त द्रव्यवाद, एकान्त पर्यायवाद एवं निरपेक्ष द्रव्य एवं पर्यायवाद के आधार पर वस्तु की व्यवस्था नहीं हो सकती। अर्थक्रियाकारित्व वस्तु का लक्षण है एवं वह लक्षण एकान्त नित्य एवं अनित्य तथा निरपेक्ष नित्य एवं अनित्य पदार्थ में घटित ही नहीं हो सकता। अर्थक्रियाकारित्व द्रव्यपर्यायत्मक उभयस्वभाववाली वस्तु में घटित हो सकता है अतः उभयात्मक वस्तु की ही वास्तविक सत्ता है।

जैन दर्शन में सत्, तत्त्व, तत्त्वार्थ एवं पदार्थ इन शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में होता रहा है। जो सत् रूप पदार्थ हैं वे ही द्रव्य हैं तात्त्विक है। दर्शन शास्त्र में सर्वप्रथम स्वयं के दर्शन से सम्मत तत्त्वों का निर्देश प्रारम्भ में कर दिया जाता है। वैशेषिक सूत्र में द्रव्य आदि छः पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। उनमें से द्रव्य गुण एवं कर्म इन तीनों को 'सत्' इस पारिभाषिक संज्ञा से अभिहित किया गया है। न्याय सूत्र में प्रमाण आदि सोलह तत्त्वों को भाष्यकार ने सत् शब्द से व्यवहृत किया है। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। जैन आगमों में संक्षेप में जीव एवं अजीव ये दो तत्त्व तथा विस्तार में नवतत्त्वों का उल्लेख प्राप्त है।

जैनधर्म के प्रमुख आचार्य तत्त्वव्याख्याता वाचकमुख्य ने सत् का बीज जो भगवान् महावीर की वाणी में था, उसका पल्लवन किया। आगमों में तिर्यक् और ऊर्ध्व दोनों प्रकार के पर्यायों का आधार द्रव्य को माना है। जो सर्वद्रव्यों का अविशेष है। **'अविसेसिए दव्वे विसेसिए जीव दव्वे अजीव दव्वे'।** किन्तु आगमों में द्रव्य की सत् संज्ञा नहीं थी। जब अन्य दर्शनों में 'सत्' इस संज्ञा का समावेश हुआ तब जैन दार्शनिकों के समक्ष भी 'सत्' किसे कहा जाए यह प्रश्न उपस्थित हुआ।

उमास्वाति ने कहा द्रव्य ही सत् है। **'सद् द्रव्यलक्षणम्'** सत् को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' ऐसी परिभाषा होने से जैन दर्शन का सत् अन्य दर्शनों से स्वतः ही विलक्षण हो गया तथा जैन दृष्टि से सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। वाचक ने सत्य को नित्य कहा किन्तु नित्य की स्वमन्तव्य पोषक परिभाषा करके उसे एकान्त के आग्रह से मुक्त रखा। **'तद्भावाव्यं नित्यम्'** उत्पाद और व्यय के होते हुए भी जिसका सद्रुप समाप्त नहीं होता यही सत् की नित्यता है। पर्यायों के बदल जाने पर भी द्रव्य की सत्ता समाप्त नहीं होती। वह निरन्तर-पूर्व-उत्तर पर्यायों में अनुस्यूत होती रहती है।

उमास्वाति ने चतुर्विध सत् की कल्पना की है। सत् को उन्होंने चार भागों में विभक्त किया है— 1. द्रव्यास्तिक, 2. मातृकापदास्तिक, 3. उत्पन्नास्तिक, 4. पर्यायास्तिक। सत् का इस प्रकार का विभाजन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। यह उनकी मौलिक अवधारणा है। उमास्वाति ने इस चतुर्विध सत् का विशेष व्याख्यान नहीं किया। ज्ञान की स्थूलता एवं सूक्ष्मता के आधार पर सत् के चार पदों का निरूपण किया। टीकाकार सिद्धसेनगणी ने इनकी कुछ स्पष्टता की है। प्रथम दो सत् (द्रव्याश्रित) द्रव्यनयाश्रित है तथा अंतिम दो भेद पर्यायनयाश्रित है। सत् के चार विभागों के अन्तर्गत आचार्य उमास्वाति ने सत् की सम्पूर्ण अवधारणा को समाहित करने का प्रयत्न किया है। द्रव्यास्तिक सत् का कथन द्रव्य के आधार पर है, मातृकापदास्तिक का कथन द्रव्य के विभाग के आधार पर, उत्पन्नास्तिक का व्याकरण तात्कालिक वर्तमान पर्याय के आधार पर है तथा पर्यायास्तिक का कथन भूत एवं भावी पर्याय के आधार पर हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। द्रव्यास्तिक के अनुसार—**'असन्नाम नास्त्येव द्रव्यास्तिकस्य'** असत् कुछ होता ही नहीं वह सत् को ही स्वीकार करता है। **'सर्ववस्तु सल्लक्षणत्त्वादसत्प्रतिषेधेन सर्वसंग्रादेशो द्रव्यास्तिकम्'।** द्रव्यास्तिक सत् संग्रह नय के अभिप्राय वाला है। 'सर्वमेकं सदविशेषात्' इस सत् के द्वारा सप्तभंगी का प्रथम भंग 'स्यात् अस्ति' फलित होता है।

मातृकापदास्तिक सत् के द्वारा द्रव्यों का विभाग होने से अस्तित्व एवं नास्तित्व धर्म प्रकट होता है। मातृकापद व्यवहारनयानुसारी है द्रव्यास्तिक के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को सत् कह देने मात्र से वह व्यवहार उपयोगी नहीं हो सकता। व्यवहार विभाग के बिना नहीं हो सकता। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय का द्रव्यत्व तुल्य होने पर भी वे परस्पर भिन्न स्वभाव वाले हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय नहीं हो सकती यही मातृकापदास्तिक का कथन है। विभक्ति का निमित्त होने के कारण मातृकापद, व्यवहार उपयोगी है—

'स्थूलकतिपयव्यवहारयोग्यविशेषप्रधानमातृकापदास्तिकम्'।

उत्पन्नास्तिक सत् का सम्बन्ध मात्र वर्तमान काल से है। वह अतीत एवं अनागत को अस्वीकार करता है। अतः यह नास्ति रूप है। वर्तमान को स्वीकार करता है अतः अस्ति है। इससे सप्तभंगी का अवक्तव्य नाम का भंग फलित होता है। पर्यायनयानुगामी होने से इसकी दृष्टि भेदप्रधान है। सम्पूर्ण व्यवहार की कारणभूत वस्तु निरन्तर उत्पाद विनाशशील है। कुछ भी स्थितिशील नहीं है, वह उत्पन्नास्तिक का कथन है। इसकी मान्यता उत्पत्ति में ही है। **'उत्पन्नास्तिकमुत्पन्नेऽस्तिमतिः'** अनुत्पन्न स्थिति को यह स्वीकार ही नहीं करता।

पर्यायास्तिक सत् विनाश को स्वीकार करता है। जो उत्पन्न हुए हैं वे अवश्य ही विनश्वर स्वभाव वाले हैं। जितना उत्पाद है उतना ही विनाश। **'विनाशेऽस्तिमतिपर्यायास्तिकम्'** कुछ मानते हैं कि पर्यायस्तिक उत्पद्यमान पर्याय को ही मानता है। **'उत्पद्यमानाः पर्यायाःपर्यायास्तिमुच्यते'** इन दोनों मतों का समन्वय करने से फलित होता है कि पर्यायास्तिक नय भूत एवं अनागत को स्वीकार करता है तथा वर्तमान का निषेध करता है अतः यह अस्तिनास्ति रूप है। भूत भविष्य की अपेक्षा अस्ति वर्तमान की अपेक्षा नास्ति है। इससे भी अवक्तव्य भंग का कथन होता है। क्योंकि अस्ति नास्ति को एक-साथ नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में द्रव्यास्तिक से परम संग्रह का विषय भूत सत् द्रव्य और मातृकापदास्तिक से सत् द्रव्य के व्यवहाराश्रित धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य का विभाग उनके भेद-प्रभेद अभिप्रेत है। प्रत्येक क्षण में नवनवोत्पन्न वस्तु का रूप उत्पन्नास्तिक और प्रत्येक क्षण में होने वाला विनाश या भेद पर्यायास्तिक से अभिप्रेत है। प्रत्येक क्षण में

नवनवोत्पन्न वस्तु का रूप उत्पन्नास्तिक और प्रत्येक क्षण में होने वाला विनाश या भेद पर्यायास्तिक से अभिप्रेत है। उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य इस त्रिपदी का समावेश चतुर्धा विभक्त सत् में हो जाता है।

1.5 सारांश

जैन दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। वह जगत् की वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है। सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों ही जगत् का तात्त्विक अस्तित्व है। वस्तुवाद के अनुसार सत् को बाह्य, आभ्यन्तर, पारमार्थिक, व्यावहारिक, परिकल्पित, परतन्त्र, परिनिष्पन्न आदि भेदों में विभक्त नहीं किया जा सकता। सत्य, सत्य ही है, उसमें विभाग नहीं होता। प्रमाण में अवभासित होने वाले सारे तत्त्व वास्तविक है। इन्द्रिय, मन एवं अतीन्द्रिय ज्ञान इन सब साधनों से ज्ञात होने वाला प्रमेय वास्तविक है। इन साधनों से प्राप्त ज्ञान में स्पष्टता-अस्पष्टता, न्यूनाधिकता हो सकती है किन्तु इनसे ज्ञात पदार्थों का अपलाप नहीं किया जा सकता अर्थात् सत् पारमार्थिक, सांवृतिक के भेदों में विभक्त नहीं किया जा सकता है। द्रव्य एवं पर्याय, नित्यता एवं अनित्यता ये सब वस्तु के स्वरूप हैं। इनमें से किसी एक का अपलाप करना जैन दर्शन के अनुसार वस्तुसत्य का अपलाप करना है। जैन के अनुसार सत् अर्थात् वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।

1.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. जैन दर्शन के अनुसार 'सत्' के स्वरूप को विश्लेषित करें।

अथवा

बौद्ध दर्शन के अनुसार 'सत्' की मीमांसा प्रस्तुत करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वेदान्त के त्रिविध 'सत्' की अवधारणा को स्पष्ट करें।
2. दार्शनिकों का 'सत्' के सम्बन्ध में मतैक्य क्यों नहीं है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'सत् कूटस्थ नित्य है' इसको मानने वाली .... विचारधारा है।
2. किसके अनुसार संवृत्ति परमार्थ के भेद से सत् द्विधा विभक्त है—
   अ. वेदान्त ब. बौद्ध स. सांख्य द. जैन
3. वेदान्त दर्शन के अनुसार सत् कितने प्रकार का है—
   अ. दो ब. पांच स. तीन द. आठ
4. उमास्वाति ने सत् को कितने भागों में विभक्त किया—
   अ. पांच ब. सात स. दो द. चार
5. पर्यायास्तिक सत् .... को स्वीकार करता है।
6. मातृकापदास्तिक सत् के द्वारा द्रव्यों का .... होता है।
7. जैन दर्शन जगत् की .... सत्ता स्वीकार करता है।
8. जैन के अनुसार प्रमाण से अवभासित होने वाले सारे तत्त्व .... हैं।
9. वेदान्त के अनुसार जगत् .... है।
10. बौद्ध दर्शन विनाश को ...... मानता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. वेदान्त	2. ब	3. स	4. द	5. विनाश
6. विभाग	7. वास्तविक	8. वास्तविक	9. मिथ्या	10. निर्हेतुक।

इकाई–2 : आत्मा का स्वरूप

संरचना

2.0 प्रस्तावना

दार्शनिक जगत् में दृश्य और मूर्त पदार्थ की भांति अदृश्य और अमूर्त पदार्थ की खोज चालू रही है। अदृश्य और अमूर्त्त के विषय में सबका एक मत होना संभव नहीं है। दृश्य और मूर्त्त के विषय में भी सब एक मत नहीं है, तब फिर अदृश्य और अमूर्त्त के विषय में सबकी सहमति की आशा कैसे की जा सकती है?

आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व का अभ्युपगम हजारों वर्षो से चला आ रहा है। भारतीय दर्शनों में श्रमण और ब्राह्मण दोनों परंपराओं के अनेक आचार्य आत्मा को पौद्‌गलिक मानते रहे हैं। आत्मा के अस्तित्व को नकारने में सबसे अधिक प्रसिद्धि वृहस्पति या चार्वाक दर्शन को मिली है। सूत्रकृतांग के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महावीर के युग में भूतवादियों के अनेक संप्रदाय रहे हैं। अजितकेशकंबल एक श्रमण संप्रदाय के आचार्य थे, साथ-साथ आत्मा के अस्तित्व को नकारने में भी आत्मा के अस्तित्व का स्वर सबने उच्चरित

किया है बौद्ध दर्शन में आत्मा का विषय एक जटिल पहेली है। उसके अस्तित्व और नास्तित्व-दोनों की घोषणा किसी झिझक के बिना नहीं की जा सकती। जैन दर्शन में आत्मा की स्थिति बहुत स्पष्ट है।

2.1 उद्देश्य- इसके अध्ययन से विविध दर्शनों में आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा।

2.2 जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला, कर्त्ता और भोक्ता, स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह-परिमाण, न अणु, न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिमाण का है।

2.2.1 जीव स्वरूपतः अनादि-अनन्त और नित्य अनित्य

जीव अनादि-निधन (न आदि और न अन्त) है। अविनाशी और अक्षय है। द्रव्य नय की अपेक्षा से उसका स्वरूप नष्ट नहीं होता, नित्य और पर्याय नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न वस्तुओं में वह परिणत होता रहता है, इसलिए अनित्य है।

2.2.2 संसारी जीव और शरीर का अभेद

जैसे पिंजड़े से पक्षी, घड़े से बेर ओर गंजी से आदमी भिन्न नहीं होता, वैसे ही संसारी जीव शरीर से भिन्न नहीं होता। जैसे दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गंध ये एक लगते हैं वैसे ही संसार दशा में जीव और शरीर एक लगते हैं

2.2.3 जीव का परिणाम

जीव का शरीर के अनुसार संकोच ओर विस्तार होता है जो जीव हाथी के शरीर में होता है, वह कुन्थु के शरीर में भी उत्पन्न होता है। संकोच और विस्तार-दोनों दशाओं में प्रदेश-संख्या, अवयव-संख्या समान रहती है।

2.2.4 आत्मा और काल की तुलना

अनादि-अनन्त की दृष्टि से जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अनादि और अविनाशी है।

2.2.5 आत्मा और आकाश की तुलना

अमूर्त्त की दृष्टि से जैसे आकाश अमूर्त है। फिर भी वह अवगाह-गुण से माना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त्त है और वह विज्ञान-गुण से जाना जाता है।

2.2.6 जीव और ज्ञान आदि का आधार आधेय सम्बन्ध

जैसे पृथ्वी सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान आदि गुणों का आधार है।

2.2.7 जीव और आकाश की तुलना- नित्य की दृष्टि से

जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अविनाशी-अवस्थित होता है।

2.2.8 जीव और सोने की तुलना नित्य-अनित्य की दृष्टि से

जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं तब भी वह सोना ही रहता है, केवल नाम और रूप में अन्तर पड़ता है। ठीक उसी प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव की पर्यायें बदलती हैं। रूप आर नाम बदलते हैं, जीव द्रव्य बना का बना रहता है।

2.2.9 जीव की कर्मकार से तुलना कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से

जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

2.2.10 जीव और सूर्य की सतुलना भयानुयायित्व की दृष्टि से

जैसे दिन में सूर्य जहां प्रकाश करता है तब दीखता है और रात को दूसरे क्षेत्र में चला जाता है प्रकाश करता है। तब वह दीखता नहीं वैसे ही वर्तमान शरीर में रहता हुआ जीव उसे प्रकाशित करता है और उसे छोड़कर दूसरे शरीर में जा उसे प्रकाशित करने लग जाता है।

2.2.11 जीव का ज्ञान गुण से ग्रहण

जैसे कमल, चंदन आदि की सुगंध का रूप नहीं दीखता, फिर भी वह घ्राण के द्वारा ग्रहण होती है, वैसे ही जीव के नहीं दीखने पर भी उसका ज्ञानगुण के द्वारा ग्रहण होता है।

भंभा, मृदंग आदि के शब्द सुने जाते हैं किन्तु उनका रूप नहीं दीखता, वैसे ही जीव नहीं दीखता। तब भी उसका ज्ञान गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

2.2.12 जीव का चेष्टा विशेष द्वारा ग्रहण

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में पिशाच घुस जाता है तब वह नहीं दीखता फिर भी आकार और चेष्टाओं द्वारा जान लिया जाता है कि यह पुरुष पिशाच से अभिभूत है। वैसे ही शरीर के अन्दर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दु:ख, बोलना-चलना आदि विविध चेष्टाओं द्वारा जाना जाता है।

जैन दर्शन का प्राचीन ग्रन्थ 'आयारो' है। उसमें आत्मा के स्वरूप की चर्चा की गई है- "जो आत्मा है, वह विज्ञाता है।" आत्मा का लक्षण है विज्ञान। जिसके द्वारा जानता है, वह आत्मा है। आत्मा ज्ञाता है, यह द्रव्याश्रित परिभाषा है। जो ज्ञाता है वह आत्मा है। जो आत्मा है, वह ज्ञाता है। इसमें चेतना और उपयोग का अभेदात्मक कथन है। इसका भेदात्मक रूप है जिसके द्वारा जानता है, वह ज्ञान है। जिसको जाना जाता है वह आत्मा है। पर्यायिनय की अपेक्षा से आत्मा का यह लक्षण अभिव्यंजित है।

"तं पडुच्च पडिसंखाए" उस ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा का प्रतिसंख्यान होता है, ज्ञान होता है। भेदात्मक परिभाषा में आत्मा साध्य है उसे जानने का साधन है ज्ञान। अभेदात्मक परिभाषा में विज्ञाता और आत्मा का एकत्व है, ध्याता और ध्येय का एकीभाव है।

आत्मा का यह स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। "चैतन्य लक्षणो जीव" 'उपयोग लक्षणो जीव:' ये सारे सूत्र इसके फलित हैं। यहाॅ जाने का अर्थ है उपयोग। उपयोग चेतना में होता है। चेतन शक्ति है और उपयोग उसकी प्रवृत्ति है। "यश्च विज्ञाता पदार्थानां परिच्छेदक: उपयोग:" विज्ञाताऽवस्था ही उपयोग अवस्था है। आत्मा का यह स्वरूप संसारी आत्मा से सम्बद्ध है।

मुक्त आत्मा का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। मुक्त आत्मा वह है जो अनुसंचरण से अतीत है। भारतीय दर्शन में एक विषय रहा है अज्ञेयवाद। जो ज्ञेय नहीं है, वह अज्ञेय है। उपनिषदों में ब्रह्म को अज्ञेय कहा गया है। जैनदर्शन में मुक्त आत्मा का जो लक्षण वर्णित है उसे अज्ञेयवाद का स्वरूप समझा जा सकता है। मुक्त अवस्था के स्वरूप को बताते हुए आचारांग में कहा गया है-'सव्वे सरा णियट्टंति' जहां से सारे स्वर लौट आते हैं। उपनिषद में इसका संवादी सूत्र है- "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" मन और वाणी से अतीत है ब्रह्म। मन और वाणी की पहुंच से परे हैं आत्मा।

आत्मा न शब्द गम्य है, न तर्क गम्य है, न मति गम्य है। यह आचारांग का अज्ञेयवाद है। जगत् में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं, हेतुगम्य और अहेतुगम्य। आत्मा अहेतुगम्य है, अज्ञेय है। वह न शब्द के द्वारा ज्ञेय है, न तर्क के द्वारा ज्ञेय है और न मति के द्वारा ज्ञेय है।

मुक्त आत्मा के स्वरूप की विस्तृत मीमांसा करते हुए भगवान् महावीर ने कहा-वह ओज है। ओज के दो अर्थ हो सकते हैं -अकेला और राग द्वेष रहित। "पुढोसत्ता" दशवैकालिक सूत्र का यह कथन इसी तथ्य की पुष्टि करता है। प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है पृथक् अस्तित्व है। वेदान्त अनुसार सब आत्माएं

स्वतंत्र नहीं हैं। वे ब्रह्म में विलीन हो जाती है। जैन और सांख्य दर्शन आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं। 'ओए' शब्द आत्मा की स्वतंत्रता का द्योतक है।

मुक्त आत्मा का प्रतिष्ठान नहीं होता, आधार नहीं होता है। आत्मा का प्रतिष्ठान है-शरीर। मुक्त आत्मा शरीर रहित होती है। आत्मा क्षेत्रज्ञ होता है केवल ज्ञाता होता है।

मुक्त आत्मा के लक्षण को एक अलग कोण से भी व्याख्यायित किया गया है। निषेधात्मक दृष्टि से उसके स्वरूप का विवेचन किया गया है। उपनिषद में भी नेतिवाद प्रचलित है। नेतिवाद का अर्थ है न इति, न इति। आत्मा यह भी नहीं है वह भी नहीं है। 'अर्थात आदेशो नेति नेति' यह वृहदारण्यक उपनिषद का प्रसिद्ध सूत्र है। ब्रह्म की तरह आत्मा का स्वरूप भी नेतिवाद की भाषा में बतलाया गया है।

आत्मा दीर्घ-लम्बा नहीं है ह्रस्व नहीं है, वृत्त-गोल नहीं है, परिमण्डल-वलयाकर नहीं है, त्रिकोण, चतुष्कोण भी नहीं है। उसका कोई संस्थान नहीं है, आकार नहीं है।

वह न कृष्ण है, न नील है, न रक्त है, न पीत है, न श्वेत है। वह न सुगंध है, न दुर्गन्ध है। वह न रिक्त है, न कटु है, न कषाय है, न अम्ल है न मधुर है। वह न कठोर है, न मृदु है, न स्निग्ध है, न रूक्ष है, न गुरू है, न लघु है, न शीत है, न उष्ण है।

वह वर्णातीत, रसातीत, गंधातीत और स्पर्शातीत है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान ये पुद्गल के लक्षण हैं। आत्मा पुद्गल नहीं है। जो दृश्य जगत् है, वह पुद्गल है। आत्मा अदृश्य है। जो कुछ भी हमें दिखाई देता है, वह पुद्गल है। मुक्त आत्मा पुद्गल से सर्वथा पृथक् है। इस निरूपण के द्वारा अदृश्यवाद को दृश्यवाद का निषेध कर प्रस्थापित किया गया है।

मुक्त आत्मा शरीर युक्त नहीं है। वह जन्मधर्मा नहीं है। उसके किसी भी प्रकार का बंध नहीं होता। संसारी आत्मा के बंध निरन्तर होता रहता है, कर्म पुद्गल चिपकते रहते हैं। मुक्त आत्मा विशुद्ध और निर्लेप होती है। वह न स्त्री है, न पुरूष है, न नपुंसक है।

यह भी नहीं है, यह भी नहीं है आखिर आत्मा है क्या? उसका धर्म क्या है? स्वरूप क्या है? उसका कार्य क्या है? इस सन्दर्भ में उसकी विधायक परिभाषा करते हुए कहा गया मुक्त आत्मा केवल ज्ञाता है वह सर्वतः चैतन्यमय है।

ज्ञातृभाव और चैतन्य दोनों अदृश्य तत्त्व हैं। उन्हें कैसे देखा जा सकता है? आत्मा का निषेधात्मक स्वरूप भी अज्ञेय है, विधायक स्वरूप भी ज्ञेय नहीं है। फिर उसे जानने का साधन क्या है?

इस प्रश्न को समाहित करने के लिए आयारो में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया गया है। "उपमा ण विज्जई" आत्मा को बताने के लिए कोई उपमा नहीं है। उपमा के बिना कैसे/क्या उसे बताया जा सकता है?

न्यायशास्त्र में दो प्रकार की व्याप्तियां हैं। बहिर्व्याप्ति, अन्तर्व्याप्ति। पक्षीकृत विषय में ही साधन के साथ साध्य की व्याप्ति मिले, अन्यत्र न मिले, यह अन्तर्व्याप्ति होती है। आत्मा में चैतन्य गुण है इसलिए वह है इसकी व्याप्ति है-"जहां-जहां चैतन्य है वहां-वहां आत्मा है।" यह व्याप्ति समग्र विषय को अपने आप में समेट लेती है। इसका कोई अन्य समान धर्मा नहीं है इसलिए इसके लिए कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता।

बहिर्व्याप्ति में विषय के सिवाय भी साधन के साथ साध्य की व्याप्ति मिलती है। जैसे-"जहां -जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि है" इसका दृष्टान्त बन सकता है-रसोईघर। वे सारे स्थान इसे सिद्ध करने में सहायक हैं जहां अग्नि जलती है।

आकाश अनन्त है। वह अपने विषय को स्वयं में समग्रता से समेटे हुए है। उसके समान कोई तत्त्व नहीं है। जिससे उसे बताया जा सके। आकाश की भांति आत्मा को किसी भी उपमा से उपमित नहीं किया जा सकता। आत्मा एक अमूर्त्त सत्ता है इसलिए वह दृष्टि का विषय भी नहीं है। "अपयस्स पयं णत्थि" आत्मा अपद है उसके लिए कोई पद नहीं है।

2.3 बौद्धदर्शन में आत्मा का स्वरूप

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते है। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु-सत्य नहीं, काल्पनिक-संज्ञा (नाम) मात्र कहते है। क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप(भौतिक तत्त्व, काया) के संघात संसार-यात्रा के लिए काफी हैं। इनसे परे कोई नित्य आत्मा नहीं है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर बौद्ध मौन रहे हैं। इसका कारण पूछने पर बुद्ध कहते हैं कि "यदि मैं कहूं आत्मा है तो लोग शश्वतवादी बन जाते है, यदि यह कहूं कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए उन दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूं।

नागार्जुन लिखते हैं-"बुद्ध ने यह भी कहा कि आत्मा है और आत्मा नहीं है यह भी कहा है। तथा बुद्ध ने आत्मा और अनात्मा किसी का भी उपदेश नहीं किया।"

बुद्ध ने आत्मा क्या है, कहां से आया है और कहां जायेगा-इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर दुःख और दुःख निरोध -इन दो तत्त्वों का ही मुख्यतया उपदेश किया।

बुद्ध ने कहा-"तीर से आहत पुरुष के घाव को ठीक करने की बात सोचनी चाहिए। तीर कहां से आया, किसने मारा आदि-आदि प्रश्न करना व्यर्थ है।

बुद्ध का यह 'मध्यम मार्ग' का दृष्टिकोण है। कुछ बौद्ध मन को भौतिक तत्त्वों से अलग स्वीकार करते हैं।

2.4 उपनिषद् में आत्मा का स्वरूप

उपनिषद् और गीता के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण, मन से भिन्न, विभु-व्यापक और अपरिणामी है। वह वाणी द्वारा अगम्य है। उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति के द्वारा बताया है। वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव्य है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गंध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न अन्तर है, न बाहर है।

2.5 औपनिषदिक आत्मा के विविध रूप और जैन दृष्टि से तुलना

औपनिषदिक सृष्टि-क्रम में आत्मा का स्थान पहला है। 'आत्मा' शब्द-वाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियां, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न-रसमय ही है, अन्न और रस का विकार है। इस अन्नरसमय पुरुष की तुलना औदारिक शरीर से होती है। इसके सिर आदि अंगोपांग माने गये हैं। प्राणमय आत्मा (शरीर) अन्नमय कोष की भांति पुरुषाकार है किन्तु उसकी भांति अंगोपांग वाला नहीं है। पहले कोश की पुरुषाकारता के अनुसार ही उत्तरवर्ती कोष पुरुषाकार है। पहला कोश उत्तरवर्ती कोश से पूर्ण व्याप्त या भरा हुआ है। इस प्राणमय शरीर की तुलना श्वासाच्छ्वास-पर्याप्ति से की जा सकती है।

प्राण आत्मा जैसे अन्नमयकोश के भीतर रहता है, वैसे ही मनोमय आत्मा प्राणमय कोश के भीतर ररहता है।

इस मनोमय शरीर की तुलना मनःपर्याप्ति से हो सकती है। मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश है।

निश्चयात्मिका बुद्धि जो है, वही विज्ञान है। वह अन्तःकरण का अध्यवसाय रूप धर्म है। इस निश्चयत्मिका बुद्धि से उत्पन्न होने वाला आत्मा विज्ञानमय है। इसकी तुलना भावमन, चेतन-मन से होती है। विज्ञानमय आत्मा के भीतर आनन्दमय आत्मा रहता है। इसकी तुलना आत्मा की सुखानुभूति की दशा से हो सकती है।

2.6 अद्वैत वेदान्त-सम्मत आत्म विचार के साथ तुलना

1. जैन दर्शन में जीव और आत्मा में कोई भेद नहीं माना जाता है, दोनों शब्द एक ही सत्ता के सूचक हैं, लेकिन वेदान्त दर्शन में आत्मा जो ब्रह्म कहलाता है, जीव से भिन्न माना गया है। जैनदर्शन आत्मा का जो स्वरूप है, वेदान्त दर्शन में वही जीव का स्वरूप है। वेदान्त दर्शन की आत्मा का स्वरूप वही है जो जैन दर्शन में वर्णित निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप है।
2. जैन एवं सांख्य दार्शनिकों की तरह वेदान्ती भी मानते हैं कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है। आत्मा का चैतन्य जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में मौजूद रहता है। न्याय-वैशेषिकों की तरह चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं मानकर उसका स्वभाव मानते हैं।
3. वेदान्त दर्शन में आत्मा को सत्, चित्, आनन्द और ज्ञानात्मक स्वरूप बतलाया है। जैन दर्शन में सत्, चित् और आनन्द के साथ ही अनन्त-दर्शन और अनन्त वीर्य स्वरूप बतलाया है।
4. शंकराचार्य सांख्यों की तरह आत्मा को वास्तविक कर्त्ता और भोक्ता न मानकर उपाधियों के कारण कर्त्ता भोक्ता मानता है लेकिन जैन दार्शनिक आत्मा को यथार्थ रूप से न्याय-वैशेषिक और मीमांसकों की तरह कर्त्ता भोक्ता मानते हैं।
5. शंकाराचार्य ने आत्मा को एक और जीव को अनेक माना है लेकिन जैन दर्शन में आत्मा को अनेक मानते हैं।
6. अद्वैत वेदान्त में आत्मा न्याय-वैशेषिक और सांख्य योग की भांति निष्क्रिय है। किन्तु जैन दर्शन में आत्मा को सक्रिय माना गया है।
7. जैन दर्शन में आत्मा को सावयवी (प्रदेशी) और अव्यापक माना गया है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा को निरवयवी और व्यापक माना गया है।
8. वेदान्त में विशुद्ध ज्ञान के द्वारा आत्मा मोक्ष अवस्था को प्राप्त करती है और जैनदर्शन में सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र के द्वारा आत्मा मोक्ष को प्राप्त करता है।

2.7 सांख्य दर्शन में आत्मा

सांख्य दर्शन में पुरुष को ही आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है। पुरुष-आत्मा प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों से भिन्न है। आत्मा विषय-सुख आदि को तथा इनके कारण पुण्य आदि कर्मो का नहीं करता, इसलिए वह अकर्त्ता है। आत्मा में एक तिनके को भी टेढ़ा करने का सामर्थ्य नहीं है। कर्त्ता प्रकृति है। प्रवृत्ति करना प्रकृति का ही स्वभाव है। पुरुष सत्त्वादि गुणों से सर्वथा रहित है। सत्त्वादि प्रकृति के धर्म हैं वे आत्मा के धर्म नहीं हो सकते।

आत्मा भोक्ता है-भोगने वाला है, वह अनुभव करता है। वह विषयों का साक्षात् भोग नहीं करता, किन्तु प्रकृति के विकार रूप बृद्धिदर्पण में सुख-दु:खादि विषय प्रतिबिम्बित होते हैं। वह बुद्धिदर्पण उभयमुख पारदर्शी दर्पण है, इसमें दोनों ओर प्रतिबिम्ब झलकता है। बुद्धिदर्पण में प्रतिबिम्बित सुख-दु:खादि की छाया अत्यन्त निर्मल पुरुष में पड़ती है। पुरुष के स्वच्छ स्वरूप में बुद्धि प्रतिबिम्बित सुख दु:खादि की छाया पड़ना पुरुष का भोग है। इसी भोग के कारण पुरुष भोक्ता कहा जाता है।

पुरुष का स्वरूप चैतन्य युक्त है ज्ञान युक्त नहीं। ज्ञान बुद्धि का धर्म है। सुख-दु:ख आदि विषय इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि तक आते हैं। बुद्धि उभयत: पारदर्शी दर्पण के समान है। उसमें जिस प्रकार एक ओर सुख-दु:खादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी तरह उसमें दूसरी ओर पुरुष के चैतन्य का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है। बुद्धि में चैतन्य और विषय का युगपत् प्रतिबिम्ब पड़ने से ही पुरुष अपने को 'मै ज्ञाता हूं मैं भोक्ता हूं' आदि मानने लगता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है–

अमूर्त्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने।।

सांख्य दर्शन में आत्मा अमूर्त्त है, चेतन है, भोक्ता है,नित्य है, सर्वगत है,निष्क्रिय है, अकर्त्ता है, निर्गुण है और सूक्ष्म है।

2.8 जैन दर्शन और सांख्य दर्शन की तुलना

1. जैनदर्शन आत्मा को अनादि निधन चेतन रूप में स्वीकार करता है। सांख्य दर्शन में भी पुरुष को इसी रूप में स्वीकार किया गया है।
2. जैन दर्शन शरीर से आत्मा को भिन्न मानकर अनन्त जीवों का अस्तित्व स्वीकार करता है। यही बात सांख्य योग परम्परा भी मानती है।
3. जैन परम्परा देह परिमाण मानकर संकोच–विस्तारशील और द्रव्य दृष्टि से परिणामी नित्य मानती है। सांख्ययोग परम्परा चेतन तत्त्व को कूटस्थ नित्य एवं व्यापक मानती है। वह चेतन में कोई संकोच–विस्तार या परिणमन स्वीकार नहीं करती।
4. जैन परम्परा अनेक गुणों या शक्तियों में से जिन ज्ञान, वीर्य, श्रद्धा जैसी शक्तियों को जीव में सहज मानती है, वैसे उन शक्तियों को सांख्ययोग परम्परा चेतन में न मानकर सूक्ष्म शरीररूप बुद्धितत्त्व में मानती है।
5. जैन परम्परा में जीव मात्र की सहज योग्यता समान होने पर भी पुरुषार्थ एवं निमित्त के बलाबल के अनुसार विकास माना जाता है वैसे ही सांख्ययोग परम्परा में सूक्ष्म या बुद्धितत्त्व को लेकर यह सब घटाया जाता है। यद्यपि बुद्धितत्त्व सभी जीवों में है फिर भी उसका विकास विवेक, पुरुषार्थ और अन्य निमित्तों के बलाबल पर अवलम्बित है।

2.9 नैयायिक–वैशेषिक मत में आत्मा

न्यायसूत्र में बारह प्रमेयों की चर्चा की गई है। आत्मा को एक प्रमेय के रूप में स्वीकार किया गया है। आत्मा अवस्था विशेष में हेय भी होता है तथा उपादेय भी। जब आत्मा सुख, दुःख आदि का भोक्ता होता है तब वह हेय है और जब सुख, दुख भोग से रहित होकर निरूपाधि हो जाता है तब उपादेय है। आत्मा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख–दुःख तथा ज्ञानादि गुणों का आश्रय है। चेतनत्त्व, कर्त्तृत्व, सर्वगतत्व आदि धर्मो से आत्मा की प्रतीति होती है। नैयायिक–वैशैषिक दर्शन के अनुसार आत्मा नित्य, अमूर्त्त तथा व्यापक होकर भी अनेक है।

2.10 जैनदर्शन और न्याय वैशेषिक दर्शन की तुलना

1. जैन दर्शन में ज्ञान को आत्मा का स्वरूप माना गया है। न्याय वैशेषिक ज्ञान को आगन्तुक गुण मानते हैं, वास्तविक नहीं।
2. जैन दर्शन मोक्ष अवस्था में आत्मा को चैतन्य स्वरूप मानता है जबकि न्याय वैशेषिक मोक्ष अवस्था में आत्मा को जड़ रूप मानते हैं।
3. जैन दार्शनिक आत्मा को नित्य परिणामी मानते हैं किन्तु न्याय वैशेषिक आत्मा को अपरिणामी मानते हैं।
4. जैन दार्शनिक द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा को नित्य और पर्याय की अपेक्षा आत्मा को अनित्य मानते हैं। न्याय–वैशेषिक आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं।
5. जैन दर्शन में आत्मा को देह परिमाण माना है और न्याय–वैशेषिक दर्शन में आत्मा को व्यापक माना गया है।

6. जैन दर्शन आत्मा के गुणों को आत्मा से अभिन्न मानते हैं। न्याय-वैशेषिक आत्मा के गुणों को आत्मा से भिन्न मानते हैं।

2.11 आत्मा का परिमाण

जीव संख्या की दृष्टि से अनन्त है। प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असंख्य हैं। जीव असंख्य प्रदेशी है। अतः व्याप्त होने की क्षमता की दृष्टि से लोक के समान विराट् है। केवली-समुद्घात की प्रक्रिया में आत्मा कुछ समय के लिए व्यापक बन जाती है। 'मरण-समुद्घात' के समय भी आंशिक व्यापकता होती है।

प्रदेश संख्या की दृष्टि से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव-ये चार समतुल्य हैं। अवगाह की दृष्टि से सम नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश स्वीकारात्मक और क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति शून्य है। इसलिए उनके परिमाण में कोई परिवर्तन नहीं होता। संसारी जीवों में पुद्गलों का स्वीकरण और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये दोनों प्रवृत्तियां होती हैं। इसलिए उनका परिमाण सदा समान नहीं रहता। वह संकुचित या विकसित होता रहता है। फिर भी अणु जितना संकुचित और लोकाकाश जितना विकसित नहीं होता। इसलिए जीव मध्यम परिमाण की कोटि के होते हैं।

संकोच और जीवों का स्वभाव प्रक्रिया नहीं है। वे कार्मण शरीर सापेक्ष होते हैं। कर्म युक्त दशा में जीव शरीर की मर्यादा में बंधे हुए होते हैं। इसलिए उनका परिमाण स्वतंत्र नहीं होता। कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन गति-चतुष्टय-सापेक्ष होता है। मुक्त दशा में संकोच विकोच नहीं। वहां चरम शरीर के ठोस भाग में आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

आत्मा के संकोच-विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दें तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं तो घड़े में समा जाता है। ढ़कनी के नीचे रखते हैं तो ढ़कनी में समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशों का भी संकोच विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक-शरीर में रहती है, वही आत्मा युवा-शरीर में रहती है और वही वृद्ध-शरीर में। स्थूल शरीर व्यापी आत्मा कृश शरीर व्यापी हो जाती है। कृश शरीर व्यापी आत्मा स्थूल-शरीर-व्यापी हो जाती है।

इस विषय में एक शंका हो सकती है कि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से वह अवयव सहित हो जायेगी और अवयव सहित हो जाने से वह अनित्य हो जायेगी, क्योंकि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील-अनित्य होता है। घड़ा अवयव सहित है, अतः अनित्य है। इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नहीं है कि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है। जैसे घड़े का आकाश, पट का आकाश इत्यादिक रूपता से आकाश सावयव है और नित्य है। वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारण से इकट्ठे होते हैं, वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव हैं वे अवयवी से कभी पृथक नहीं हो सकते। विश्व की कोई भी वस्तु एकान्त रूप से नित्य और अनित्य नहीं है। किन्तु नित्यानित्य है। आत्म नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप कदापि नहीं छूटता, अतः आत्मा नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं। कभी सुख में, कभी दुःख में-इत्यादिक कारणों से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अतः स्याद्वाद दृष्टि से सावयवता भी आत्मा के शरीर-परिमाण होने में बाधक नहीं है। उपनिषदों में आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाएं मिलती हैं। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर हृदय में चावल या जौ के दाने जितना है। यह आत्मा प्रदेश मात्र (अंगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक) की दूरी जितना है-

यह आत्मा शरीर व्यापी है।

यह आत्मा सर्व व्यापी है।

हृदय कमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकों की अपेक्षा बड़ा है।

2.12 उपसंहार

समस्त भारतीय दर्शनों ने यह निष्कर्ष स्वीकार किया है कि आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। चार्वाक दर्शन ने भी आत्मा को चेतन ही कहा है। उसके अनुसार आत्मा चेतन होते हुए भी शाश्वत तत्त्व नहीं, वह भूतों से उत्पन्न होता है। बौद्ध मत के अनुसार चेतन तो जन्य है परन्तु चेतन संतति अनादि है। चार्वाक प्रत्येक जन्य चेतन को सर्वथा भिन्न या अपूर्व ही मानते हैं। बौद्ध प्रत्येक जन्य चैतन्य क्षण को उसके पूर्वजनक क्षण से सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न होने का निषेध करते हैं। बौद्ध दर्शन में चार्वाक का उच्छेदवाद तथा उपनिषदों और अन्य दर्शनों का आत्मशाश्वतवाद मान्य नहीं, अतः वे आत्म संतति को अनादि मानते हैं, आत्मा को अनादि नहीं मानते। सांख्ययोग, न्यायवैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा और जैन-ये समस्त दर्शन आत्मा को अनादि स्वीकार करते हैं।

2.13 भ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन दर्शन में आत्मा के स्वरूप की मीमांसा करें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मुक्त आत्मा का संक्षिप्त में विवरण लिखें।
2. 'जो आत्मा है वह विज्ञाता है' इस सूत्र को स्पष्ट करें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. चार्वाक दर्शन में आत्मा …………होती है।
2. सांख्यदर्शन में पुरुष को …………कहा गया है।
3. जैन दर्शन में …………को आत्मा का स्वरूप बताया गया है।

3\. जैन दर्शन का प्राचीन ग्रन्थ ………है।

4\. जैन दर्शन में आत्मा को ………गया है।

5\. न्याय-वैशेषिक मत में आत्मा को एक ……….के रूप में स्वीकार किया गया है।

6\. वेदान्त दर्शन में आत्म जो………कहलाता है, जीव से भिन्न माना गया है।

7\. वेदान्त दर्शन में आत्मा को सत्, चित्, आनन्द और………स्वरूप बतलाया है।

8\. विज्ञानमय आत्मा के भीतर………..आत्मा रहता है।

9\. मनोमय शरीर की तुलना……….से हो सकती है।

इकाई–3 : पुद्‌गल—जैन, सांख्य, न्याय

संरचना

3.0 प्रस्तावना

भारत में प्राचीन काल से ही जगत् की गुत्थी को सुलझाने के अनेकानेक वैचारिक प्रयास हो रहे हैं। विचारों की विविधता के फलस्वरूप अनेक दर्शन विकसित हुए। भारत की दार्शनिक विचारधाराओं में जैन, बौद्ध, सांख्य, न्याय-वैशेषिक, वेदान्ती, मीमांसक, चार्वाक आदि प्रमुख हैं। इन दार्शनिक विचारधाराओं ने जगत् के कारण के संदर्भ में अपने-अपने पृथक्-पृथक् मन्तव्य प्रस्तुत किये। विभिन्न मन्तव्यों के आधार पर जगत् के बारे में विमर्श करने पर ज्ञात होता है कि जैनदर्शन पुद्‌गल और जीव को दृश्य जगत् का कारण मानता है, बौद्ध नामरूप को, सांख्य प्रकृति को तो नैयायिक-वैशेषिक जड़-चेतन के दृश्य जगत् का उपादान कारण मानते हैं, वहीं वेदान्ती चित्सत्व को ही उपादान एवं निमित्त कारण मानते हैं।

3.1 उद्देश्य– प्रस्तुत पाठ में जैन, सांख्य और न्याय-दर्शन के जड़ (पुद्‌गल, प्रकृति एवं परमाणु) पदार्थ सम्बन्धी विचारों पर तुलनात्मक दृष्टि से विमर्श प्रस्तुत किया जाएगा।

3.2 जैनदर्शन में पुद्‌गल

जैनदर्शन के अनुसार दृश्य जगत् का मूल कारण पुद्‌गल है। जो वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त है वह पुद्‌गल है। पुद्‌गल शब्द की व्युत्पत्ति—पुद् + गल। पुद् का अर्थ है मिलना और गल का अर्थ है भेद होना। पुद्‌गल में यह वैशिष्ट्य होता है कि वह संश्लेष, विश्लेष कर सकता है। पुद्‌गल अपने लाक्षणिक गुण स्पर्श, रस, गंध और वर्ण के कारण मूर्त्त होता है। पुद्‌गल द्रव्य मूर्त्त है इसका तात्पर्य है कि वह पांचों इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। अर्थात् पुद्‌गल को छूआ जा सकता है, चखा जा सकता है, सूंघा जा सकता है और देखा भी जा सकता है। प्रत्येक पौद्‌गलिक पदार्थ अनेक अवयवों का समूह है तथा वह आकाश प्रदेशों में फैलता है।

जैनदर्शन पुद्‌गल को सत् मानता है। सत् होने के कारण वह परिवर्तनशील भी है और नित्य भी है। पुद्‌गल में सतत परिवर्तन होता रहता है। आन्तरिक परिवर्तनशील संरचना एवं अन्य पदार्थों के साथ पारस्परिक प्रतिक्रिया इन दोनों कारणों से पुद्‌गल में परिवर्तन होता है। सतत परिवर्तनशील होने पर भी पुद्‌गल नित्य है। काल की अपेक्षा पुद्‌गल अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। जितने परमाणु थे, उतने हैं और उतने ही रहेंगे। पुद्‌गल का परिणमन दूसरे प्रकार के पुद्‌गल में हो सकता है किन्तु वह दूसरे द्रव्य में नहीं बदलता।

पुद्गल के दो प्रकार हैं—परमाणु और स्कन्ध। परमाणु सूक्ष्म-अविभाज्य होता है। यह जगत् का अंतिम कारण है। परमाणुओं के मेल से स्कन्ध बनता है। स्कन्ध दो परमाणुओं के योग से भी बन सकता है और अनन्त परमाणुओं के योग से भी।

परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं। वे दो स्पर्श हैं—शीत उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध-रूक्ष में से कोई एक। स्कन्ध में चार स्पर्श भी हो सकते हैं तथा आठों स्पर्श भी।
चार स्पर्श—शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष।
आठ स्पर्श—शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मृदु-कर्कश, लघु-गुरु।

चार स्पर्श वाले पुद्गल समूह सूक्ष्म-स्कन्ध कहलाते हैं। इन चतु:स्पर्शी स्कन्धों को तथा परमाणु को इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता। आठ स्पर्श वाले पुद्गल समूह स्थूल स्कन्ध कहलाते हैं। इन्हें इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है।

पुद्गल संसारी जीवों के उपभोग में कैसे आते हैं, यह समझने के लिए पुद्गल की विभिन्न वर्गणाओं से परिचित होना भी जरूरी है। वर्गणा का अर्थ है—सजातीय पुद्गलों के विभिन्न वर्ग-श्रेणियां। वे मुख्यत: आठ हैं—

- औदारिक वर्गणा—स्थूल शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल। जीवों के जितने दृश्य शरीर हैं वे सब औदारिक हैं।
- वैक्रिय वर्गणा—वैक्रिय शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल। वैक्रिय शरीर नारक और देवों के होता है। योगी लोग योगज विभूति के द्वारा विभिन्न रूपों का निर्माण करते हैं, वह भी वैक्रिय शरीर है।
- आहारक वर्गणा—विचारों का संक्रमण करने वाले शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।
- तैजस् वर्गणा—विद्युतीय शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।
- कार्मण वर्गणा—कर्म-शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।
- भाषा वर्गणा—भाषा के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।
- मनोवर्गणा—मन के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।
- श्वासोच्छ्वास वर्गणा—श्वास-प्रश्वास के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।

ये वर्गणाएं पूरे लोक में व्याप्त हैं, किन्तु इनका प्रयोग तभी संभव है, जब ये जीव द्वारा गृहीत हो जायें। इन वर्गणाओं के योग बिना संसारी प्राणी अपनी कोई भी क्रिया संपादित नहीं कर सकता। वह प्रतिक्षण इन वर्गणाओं के पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और विसर्जन करता रहता है। हमें जितने भी जड़ पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब या तो जीव द्वारा गृहीत हैं या जीव द्वारा त्यक्त।

जैनदर्शन में 'पुद्गल' शब्द जिस विशेष अर्थ में प्रयुक्त है ठीक उसी अर्थ में अन्य दर्शनों में पुद्गल या अन्य किसी तत्त्व की अवधारणा नहीं है। किन्तु 'सृष्टि' के संदर्भ में पुद्गल की भूमिका के समकक्ष अन्य दर्शनों में भी तत्त्वों की अवधारणा रही है। सांख्यदर्शन में उसे प्रकृति कहा जाता है। न्याय वैशेषिक दर्शन में वह तत्त्व है—परमाणु।

3.3 सांख्य दर्शन में प्रकृति

सांख्यदर्शन जगत् का मूल कारण प्रकृति को मानता है। इसकी व्युत्पत्ति है—प्रकर्षेण क्रियन्ते यस्या: सा प्रकृति:। इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह महत् अहंकार आदि तेईस तत्त्वों की उत्पादिका है, जिनका नामोल्लेख तालिका में किया गया है। मूल प्रकृति को अव्यक्त भी कहते हैं। प्रकृति के विकारों को 'व्यक्त' कहा जाता

है। अव्यक्त प्रकृति इन्द्रियगोचर नहीं होती किन्तु इसकी सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। इसके तीन गुण हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्। इन तीन गुणों में वैषम्य होने पर यह व्यक्त हो जाती है। दिखाई देने वाला जगत् व्यक्त (प्रकृति) है। व्यक्त के महत्, अहंकार आदि तेईस प्रकार होते हैं। व्यक्त अर्थात् गुणों की वैषम्य-अवस्था में सत्वादि तीनों गुण परस्पर भिन्न-भिन्न अनुपातों में मिश्रित होते हैं। कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होती है कभी रजोगुण की तो कभी तमोगुण की। प्राधान्य किसी एक गुण का होने पर भी तीनों गुण दृश्य जगत् की हर वस्तु में विद्यमान रहते हैं। अन्ततोगत्वा तीनों गुण विलीन हो जाते हैं अर्थात् मूल प्रकृति में निहित हो जाते हैं। इन गुणों की साम्यावस्था प्रलय है तथा वैषम्यावस्था सृष्टि है। गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहते हैं—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

मूल प्रकृति किसी से उत्पन्न नहीं होती बल्कि अनादि है। अस्तित्व रूप में यह नित्य है फिर भी इसमें परिणमन होता रहता है अतः इसे परिणामी-नित्य माना जाता है। प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से दस इन्द्रियां, मन और पांच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। इन पांच तन्मात्राओं से पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। इनमें से मूल प्रकृति केवल प्रकृति है। महत्, अहंकार तथा पांच तन्मात्राएं प्रकृति विकृति दोनों हैं। महत् प्रकृति का विकार है तो अहंकार का उत्पादक होने से उसकी अपेक्षा प्रकृति है। इसी प्रकार अहंकार महत् से उत्पन्न होता है अतः उसकी अपेक्षा विकृति है और मन, दस इन्द्रियों तथा पांच तन्मात्राओं का उत्पादक होने से उनकी अपेक्षा प्रकृति है। पांच तन्मात्राएं महाभूतों की अपेक्षा प्रकृति तथा अहंकार की अपेक्षा विकृति है। मन, दसों इन्द्रियां तथा पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं अतः विकृति है किन्तु किसी के उत्पादक नहीं होते। इन सोलह तत्त्वों को मात्र विकृति कहते हैं। प्रकृति एक है। उसके विकार के कारण सृष्टि अस्तित्व में आती है।

तन्मात्रा	महाभूत
रूप	तैजस्
रस	जल
गंध	पृथ्वी
स्पर्श	वायु
शब्द	आकाश
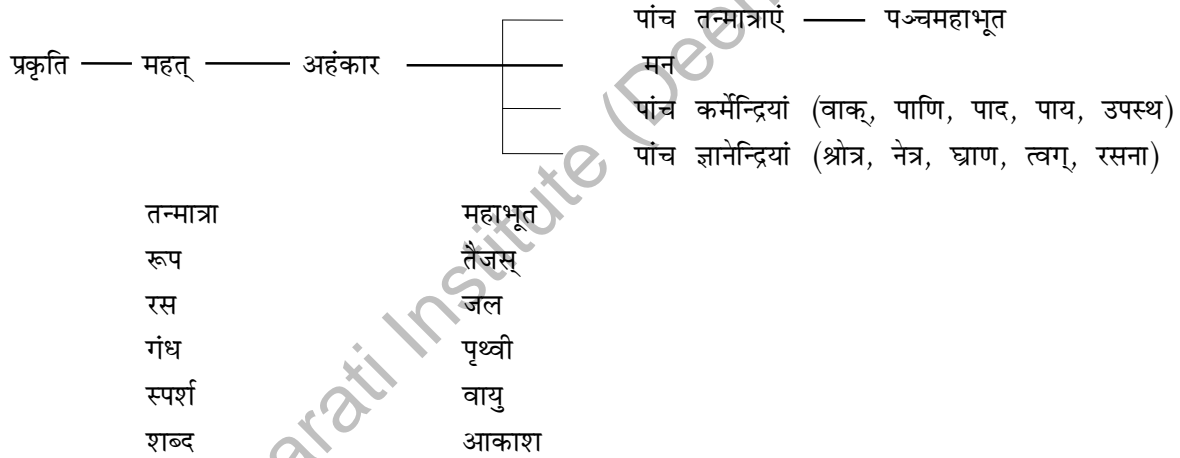
3.4 जैन एवं सांख्य में तुलना

जैनदर्शन पुद्गल को परिणामीनित्य मानता है। इस विषय में जैन और सांख्य दोनों के अभिमत में प्रायः साम्य है। जैन जहां पुद्गल को परिणामीनित्य मानता है वहीं सांख्य भी प्रकृति को परिणामीनित्य मानते हैं। प्रकृति में परिणमन होता है जिसके फलस्वरूप महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति होती है और सृष्टि का निर्माण होता है। दिखाई देने वाले सभी पदार्थ प्रकृति के परिणाम हैं। इतना होने के बावजूद प्रकृति अपने स्वरूप से शाश्वत है। इसी प्रकार जैन सम्मत परमाणु भी परिणमन की प्रक्रिया से गुजरते हैं, विविधरूपों को धारण करते हैं फिर भी वैयक्तिक स्वरूप को नहीं त्यागते। जिस प्रकार जैन परम्परा अनन्तानन्त परमाणुओं की गलन-मिलन शक्ति एवं परिणमनशीलता के आधार पर भौतिक विश्व की विचित्रता को स्वीकार करती है। उसी प्रकार सांख्य परम्परा गुणों के तारतम्य युक्त मिश्रण एवं परिणमन शक्ति के आधार पर एक ही मूल प्रकृति में से सृष्टि की उत्पत्ति मानती है।

सांख्यदर्शन परिणामवादी दर्शन है। परिणामवाद के अनुसार मूलकारण में सभी क्रमिक कार्यों का अस्तित्व रहता है। अर्थात् नवीन कार्यों की उत्पत्ति हो जाने पर भी उनमें मूलकारण अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। प्रकृति के परिणमन से ही महत् अहंकार आदि उत्पन्न हुए हैं। महत् अहंकार आदि का कारण रूप प्रकृति का उनमें अभाव नहीं होता बल्कि विद्यमानता होती है। यह सांख्यदर्शन का परिणामवाद है। जैनदर्शन एकान्तरूप से परिणामवादी नहीं है। वह सापेक्ष परिणामवाद को स्वीकार करता है। पर्याय की अपेक्षा पुद्गल में परिणामवाद जैन को मान्य है। पुद्गल की एक पर्याय है परमाणु, दूसरा पर्याय है स्कन्ध। परमाणु का संघटन होने से स्कन्ध और स्कन्ध के संघटन से यह सृष्टि उत्पन्न हुई। इन सभी पर्यायों में परमाणु विद्यमान है। द्रव्य की अपेक्षा जैनदर्शन में परिणामवाद अमान्य है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में परिणत नहीं होता।

सांख्यमत में पृथ्वी का अणु पांच तन्मात्राओं शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध से उत्पन्न होता है जिनमें गंध तत्त्व मुख्य है। जल तत्त्व में गंध को छोड़कर शेष चार तन्मात्राएं रहती हैं जिनमें रस प्रमुख हैं। तेजस् तत्त्व में गंध एवं रस का अभाव होता है, शेष तीन तन्मात्राएं विद्यमान रहती हैं। वायु में शब्द एवं स्पर्श को छोड़कर तीन तन्मात्राओं का अभाव होता है। आकाश तत्त्व में मात्र शब्द ही रहता है, अन्य सभी तन्मात्राओं का अभाव होता है।

पृथ्वी—शब्द + स्पर्श + रूप + रस + गंध

जल—शब्द + स्पर्श + रूप + रस

तेज—शब्द + स्पर्श + रूप

वायु—शब्द + स्पर्श

आकाश—शब्द।

तात्पर्य यह हुआ कि सांख्य दर्शन के अनुसार पृथ्वी तत्त्व में गंध तन्मात्रा प्रधान है और आकाश में शब्द प्रधान है जबकि जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता। जैनमत के अनुसार प्रत्येक परमाणु में गंध, वर्ण, रस एवं स्पर्श सभी विद्यमान रहते हैं। किसी परमाणु में गंध या वर्ण या रस, स्पर्श में से कुछ रहें और किसी में कुछ न रहें ऐसा जैनों को मान्य नहीं।

जैनदर्शन सम्मत परमाणु ठोस कण है, इतना सूक्ष्म कण कि उसका विभाग संभव नहीं। सांख्य सम्मत प्रकृति कण रूप नहीं है। व्यक्त अवस्था में वह ठोस रूप धारण कर लेती है। सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीनों गुण तरंग रूप हैं। इनका आनुपातिक मिश्रण ठोस पदार्थ का कारण है। इस प्रकार सृष्टि के मूल कारण के स्वरूप में मौलिक भेद हैं।

जैन एवं सांख्य दोनों ही दो तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। एक है चेतन सत्ता जिसे सांख्य पुरुष कहते हैं और जैन जीव या आत्मा। दूसरा है जड़ तत्त्व जिसे सांख्य ने प्रकृति कहा है ओर जैन ने अजीव। जैन एवं सांख्य दोनों ने जड़ एवं चेतन के सम्बन्धों पर विचार किया है। जैनदर्शन मानता है कि जड़चेतन के ज्ञान आदि मूलगुणों को आवृत कर देता है यही उसकी सांसारिक अवस्था है। जब चेतन आवरण को दूर हटा शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है यही उसका मोक्ष है। सांख्य इससे सहमत नहीं है। सांख्य के अनुसार बन्ध-मोक्ष चेतन का नहीं होता। प्रकृति का होता है। प्रकृति की वैषम्यावस्था उसका बन्ध और साम्यावस्था मोक्ष है। ज्ञान आदि भी जड़-प्रकृति के गुण हैं न कि चेतन-पुरुष के। जैनदर्शन ज्ञान को आत्मा का लक्षण मानता है। जड़ और चेतन का मूल भेद यही है कि चेतन में ज्ञान होता है और जड़ में नहीं होता।

सांख्य का पुरुष भोक्ता नहीं है। वह जड़ का उपभोग नहीं करता अर्थात् प्रकृति पुरुष के उपभोग में नहीं आती किन्तु जैन के अनुसार संसारी-जीव पुद्गलों का उपभोग करता है। इसी के आधार पर पुद्गल-वर्गणा का सिद्धान्त उपस्थित हुआ है।

जगत् के कारण रूप प्रकृति और परमाणु स्थिर है चल? स्थिर हैं या तो उनकी स्थिरता का कारण और चल है तो उनकी चंचलता का कारण क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर में सांख्य एवं जैन दोनों का उत्तर है कि वे स्थिर भी रहते हैं और अस्थिर भी। क्योंकि वे जगत् के कारण हैं अत: उनमें गतिशीलता भी आवश्यक है और स्थिरता भी। सांख्यदर्शन मानता है कि रजोगुण के कारण प्रकृति में गतिशीलता दिखाई देती है। रजोगुण चल है अत: वही क्रियाशीलता का कारण है। जबकि तमोगुण स्थिरता प्रदान करने वाला है।

सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं चरण:।
गुरु वरणकमेव तम: प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति:॥

जैनदर्शन मानता है पुद्गल अपने निसर्ग से गति एवं स्थिरता का धारक है। अर्थात् उसमें स्वाभाविक रूप से गमन एवं स्थिरता गुण है।

3.5 न्यायदर्शन में परमाणु

न्यायदर्शन ने सृष्टि रचना के आधाररूप में चार भूतों पृथ्वी (क्षिति), अप् (जल), तेजस् (अग्नि) और मरुत (वायु) के परमाणु सिद्धान्त को अपनाया है। परमाणु के उपर्युक्त चार प्रकार होते हैं। इन परमाणुओं में द्रव्यमान, संख्या, भार, तरलता या कठोरता, श्यानता (चिपचिपाहट), अश्यानता, वेग, विशिष्ट वर्ण, स्वाद, गंध, स्पर्श होता है। सृष्टिकाल में सामान्यतया परमाणु स्वतंत्र, असम्बद्ध अवस्था में नहीं रह सकते किन्तु प्रलयकाल में असम्बद्ध अवस्था में रह सकते हैं। प्रलयकाल में परमाणुओं का संघटन विघटित हो जाता है।

दो परमाणुओं के योग से द्व्यणुक का निर्माण होता है। दो-तीन, चार या पांच द्व्यणुकों के योग से त्र्यणुक चतुरणुक आदि का संघटन होता है। परमाणुओं में संघटित होने की स्वाभाविक क्षमता एवं रुचि है। परमाणुओं के संदर्भ में धारणा है कि इनमें सतत स्पन्दन होता रहता है। इस स्पन्दन का कारण अदृष्ट को माना जाता है। अदृष्ट के कारण परमाणु स्पन्दित होते हैं उनमें गति होती है और उनका युग्म बनता है।

भौतिक दृष्टि से किसी भी परमाणु के संयोग से बने साधारण द्रव्य में ताप के प्रभाव से परिवर्तन घटित हो जाता है। ताप के प्रभाव से द्व्यणुक आदि में विघटन संभव है। किन्तु विघटन हो ही यह आवश्यक नहीं है। केवल अणुयुग्मों में गुण स्वभाव में परिवर्तन हो सकता है। इस प्रक्रिया को नैयायिक 'पिठर-पाक' कहते हैं। पिठर-पाक के अनुसार रंग का परिवर्तन परमाणु तथा पदार्थ दोनों में एक साथ होता है। वैशेषिक पीलूणक के सिद्धान्त को मानता है। पीलू पाक के अनुसार पहले समस्त इकाई का परमाणुओं के रूप में विघटन होता है और फिर उन परमाणुओं का नये सिरे से संघटन होकर नई इकाई फिर से बनती है।

पार्थिव, आप्य (जलीय) आदि परमाणुओं में गुणों की भिन्नता होती है। वायु में स्पर्श गुण मुख्य होता है। तेजस् में वर्ण, स्पर्श एवं शब्द गुण पाए जाते हैं, वर्ण प्रमुख होता है। इसी प्रकार जल एवं क्षिति (पार्थिव) परमाणु में क्रमश: रस और गंधगुण बढ़ते जाते हैं और वे ही प्रमुख होते हैं।

3.6 जैन एवं न्याय : तुलना

जैन परम्परा में पुद्गल के अविभाज्य अंश को ही परमाणु कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी परमाणु अविभाज्य है। उसका विभाग नहीं किया जा सकता। परमाणु की संख्या अनन्तानन्त है। जैन एवं नैयायिक दोनों इस पर एकमत है। परमाणुओं की संख्या पर मतैक्य होने पर भी जैन परम्परा मानती है कि परमाणुओं में पार्थिव-जलीय जैसा कोई मौलिक भेद नहीं है। कोई भी परमाणु परिस्थितियों के अनुसार दूसरे रूप में परिवर्तित हो सकता है। अर्थात् पार्थिव परमाणु बदलकर जलीय परमाणु बन सकता है जलीय परमाणु बदलकर तैजस् परमाणु बन सकता है। केवल उनका परमाणु रूप नहीं बदलता। न्याय वैशेषिक दर्शन के मतानुसार पार्थिव परमाणु जलीय परमाणु में नहीं बदल सकता। वह सदैव पार्थिव परमाणु ही रहेगा।

जैन परम्परा के अनुसार परमाणुओं में परिणमन की विचित्र शक्ति होती है जिसके कारण अनेक परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण करते हैं। यह स्कन्ध कोई नया तत्त्व नहीं होता बल्कि परमाणु समुदाय की

विशिष्ट रचना मात्र होता है। किन्तु नैयायिक दर्शन में परमाणु का अस्तित्व तभी तक है जब वह स्वतन्त्र है। परमाणुओं का संघात होते ही एक नया द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। पार्थिव परमाणुओं के संघात से पृथ्वी तत्त्व की उत्पत्ति होती है जो कि स्वतन्त्र द्रव्य है। इसी प्रकार अन्य परमाणुओं के संघात से भी नए द्रव्यों की उत्पत्ति हो जाती है।

न्याय-वैशेषिक परम्परा परमाणुओं को कूटस्थ नित्य मानती है। उसके अनुसार परमाणुओं में परिणमन नहीं होता। किन्तु जैन परम्परा इस बात को स्वीकार करती है कि परमाणुओं में परिणमन होता है। दृश्य जगत् की विचित्रता का कारण जीव एवं पुद्गल का परिणमन है। उसमें पुद्गल का परिणमन विशेष महत्त्वपूर्ण है। पुद्गल के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि बदल सकते हैं। पुद्गल में संयोग-वियोगजनित परिणमन होने पर भी पुद्गल कभी वर्णहीन, रसहीन, गंधहीन या स्पर्शहीन नहीं होता। न्यायदर्शन पृथ्वी आदि भूतों में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण आदि धर्मों को समन्वित रूप में स्वीकार नहीं करता। कहीं एक धर्म कहीं दो तो कहीं तीन आदि धर्मों को स्वीकार करता है। न्यायदर्शन का सभी परमाणुओं में वर्ण आदि सभी धर्मों को स्वीकार न करने का कारण यह भी है कि वह पांच भूतों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करता है जबकि जैनदर्शन के अनुसार वे स्वतंत्र द्रव्य नहीं अपितु पुद्गल द्रव्य ही हैं।

जैनदर्शन सम्मत परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म है। इतना सूक्ष्म कि उसका और विभाग करना संभव नहीं। न्यायवैशेषिक सम्मत परमाणु उसकी अपेक्षा स्थूल होता है।

जलान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

उनके अनुसार सूर्य जल में दिखाई पड़ने वाली रजः कण का छठा भाग ही अंतिम परमाणु है। जैन मानते हैं कि वह परमाणु नहीं बल्कि अनन्तानन्त परमाणुओं का स्कन्ध है। परमाणु अविभाज्य होता है एवं इन्द्रियगम्य भी नहीं होता। न्याय-वैशेषिक भी परमाणु को अविभाज्य मानते हैं। उनके अनुसार परमाणु परिमाण्डल्य (गोलाकार) होता है। किन्तु उसके हिस्से नहीं होते। परमाणुओं के हिस्से मान लेने पर आने वाली आपत्ति को दूर करने के लिए वे कहते हैं कि परमाणुओं का हिस्सों में विभाजन आनुभविक (अर्थात् प्रतीतिमात्र) है, यथार्थ नहीं है। परमाणु देश रहित है जैनदर्शन भी परमाणु को देशरहित मानता है। तथापि वह आकाश में कम-से-कम प्रदेश परिमाण क्षेत्र का अवगाहन करता है।

न्याय-वैशेषिक विद्वान् मानते हैं कि परमाणु स्वभाव से निष्क्रिय है और उनकी गति बाह्य आघातों के कारण से होती है। इस संदर्भ में प्रशस्तपाद का कथन है कि महाभूतों में हम जो क्रियाएं पाते हैं, जिनका कोई भी कारण प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जाना जा सकता। फिर भी जो उपयोगी या अनुपयोगी दिखाई देती है वे क्रियाएं अदृष्ट साधनों द्वारा उत्पन्न होती हैं। अदृष्ट के पीछे भी एक और कारण वे मानते हैं और वह है—ईश्वर। ईश्वर की चिकीर्षा (करने की इच्छा) के कारण यह सृष्टि होती है अतः गतिशीलता के पीछे भी वे ईश्वर को कारणभूत मानते हैं। जैनदर्शन में पुद्गल को स्वतः गतिशील माना गया है। निमित्त कारण के रूप में वह धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य की एवं स्थिरता के निमित्तरूप में अधर्मास्तिकाय नामक द्रव्य की सहायता प्राप्त करता है।

जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल के धर्म होते हैं—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तमस्, छाया, आतप, उद्योत और प्रभा। न्यायदर्शन शब्द को आकाश का गुण मानते हैं—'शब्द-गुणकमाकाशम्' जैन यह आपत्ति उठाते हैं कि शब्द अमूर्त्त आकाश का गुण नहीं हो सकता क्योंकि शब्द मूर्त्त है। इसीलिए वह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार वे शब्द को पौद्गलिक सिद्ध करते हैं।

जैनदर्शन तमस् को भी पुद्गल की एक पर्याय मानता है। तात्पर्य यह है कि तमस् भी पौद्गलिक है। इसमें कृष्णवर्ण पुद्गलों की बहुलता होती है। अतः सर्वत्र काला ही काला व्याप्त हो जाता है। न्याय ने

तमस् (अंधकार) को द्रव्यों की कोटि में नहीं रखा क्योंकि यह गुणों से रहित है। यह अभाव का एक प्रकार है, केवल प्रकाश का निषेध रूप है। जहां नैयायिक तमस् को अभावरूप मानते हैं वहीं जैन उसे भावरूप मानते हैं।

न्यायदर्शन आरम्भवादी है। आरम्भवाद के अनुसार सभी कार्य कारण से सर्वथा भिन्न एवं नये ही उत्पन्न होते हैं। कार्य-कारण में भेद होता है। परमाणु के संघात से नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है जो कि परमाणु से सर्वथा भिन्न होता है। जैसे पार्थिव परमाणुओं से पृथ्वी-द्रव्य की उत्पत्ति होती है। दोनों सर्वथा भिन्न हैं। परमाणु नित्य है, पृथ्वी द्रव्य अनित्य। जैनदर्शन आरम्भवाद का समर्थक नहीं है। जैनदृष्टि में परमाणु से उत्पन्न पदार्थ परमाणु से सर्वथा भिन्न नहीं होते।

3.7 सारांश–इन अध्ययनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीनों दर्शनों ने अपनी-अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर जगत् के भौतिक तत्त्व की व्याख्या की है। इन व्याख्याओं में कहीं साम्य है, कहीं वैषम्य है फिर भी सत्य के निकट पहुंचने का प्रयास सभी दर्शनों ने किया है।

3.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. दृश्य जगत् की रचना का भौतिक घटक क्या है? न्याय एवं सांख्य दृष्टियों से जैन दृष्टि की तुलना करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. परिणामवाद किसे कहते हैं? क्या जैनदर्शन इसे मानता है?
2. न्याय-वैशेषिक दर्शन में परमाणु की अवधारणा पर प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. न्याय वैशेषिक के अनुसार परमाणु हैं—
   क. गोलाकार ख. त्रिकोण ग. अण्डाकार
2. प्रकृति में गतिशीलता का कारण है—
   क. तमोगुण ख. रजोगुण ग. सत्त्वगुण
3. जैनदर्शन मानता है, पुद्गल के प्रकार हैं—
   क. चार ख. तीन ग. दो
4. गुणों की साम्यवस्था कहते हैं—
   क. प्रधान ख. प्रलय ग. दो
5. परमाणु में परिणमन मानने वाली परम्परा है—
   क. जैन ख. सांख्य ग. न्याय

रिक्त स्थान की पूर्ति करें—

6. .... परम्परा परमाणुओं को कूटस्थ नित्य मानती है।
7. पांच .... से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं।
8. सततपरिणमनशील होने पर भी पुद्गल .... है।
9. सांख्यमत में आकाश की उत्पत्ति .... से होती है
10. वेदान्ती .... को ही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण मानते हैं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. क 2. ख 3. ग 4. ख 5. क
6. नैयायिक-वैशेषिक 7. तन्मात्राओं 8. नित्य 9. शब्द तन्मात्रा 10. चित्तत्व।

इकाई–4 : मोक्ष का स्वरूप

संरचना

4.0 प्रस्तावना

मोक्ष विचार भारतीय दर्शन की वह विरल विशेषता है जो उसे पाश्चात्य दर्शन से पृथक् करती है। पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार दर्शन का उद्देश्य मात्र विश्व और उसकी समस्याओं की व्याख्या करना है जबकि भारतीय दार्शनिकों के अनुसार दर्शन वह विद्या है जो हमें न केवल विश्व के विषय में जानकारी देती है, न केवल तत्त्वमीमांसा के विषय में विचारों को उत्प्रेरित करती है अपितु सत्य शोध का मार्ग बताकर समस्त दु:खों से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। जीवन का कठोर सत्य है— दु:ख फिर चाहे उसे शरीरजन्य माना जाए, चाहे बुद्धि अथवा मन से उत्पन्न हो। व्यक्ति की सारी प्रवृत्तियों का केन्द्र बिन्दु है दु:ख से छुटकारा।

पश्चिमी दार्शनिकों ने जहां स्वयं को बौद्धिक चिन्तन (तर्क), नैतिकता और मानवता तक ही सीमित कर रखा है वहां भारतीय दार्शनिक चिन्तन का चरम बिन्दु है मोक्ष। भारतीय दार्शनिक ऋषि पहले थे, चिन्तक बाद में। अत: बौद्धिकता, नैतिकता और मानवता उनका साधन थी, साध्य नहीं। ऋषिचिन्तन का चरम लक्ष्य रहा मोक्ष—जो तर्क से प्राप्त नहीं अत: तर्कातीत है। मोक्ष का प्रत्यय समाज अथवा मानव की सीमाओं में आबद्ध नहीं होता अत: वह अति-सामाजिक है, अतिनैतिक अथवा अतिमानवीय है। भारतीय दर्शन में मोक्ष का सामान्य अर्थ है दु:खचक्र का आत्यन्तिक विनाश, जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मोक्ष।

भारतीय दर्शन मूल्यपरक दर्शन है। भारतीय मनीषियों ने मूल्य को पुरुषार्थ के नाम से अभिहित किया। उन्होंने मुख्यत: चार पुरुषार्थों का प्रतिपादन किया—

1. अर्थ—आर्थिकमूल्य 2. काम—मानसिक मूल्य 3. धर्म—नैतिक मूल्य 4. मोक्ष—आध्यात्मिक मूल्य।

प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष दो मार्ग होते हैं—सांसारिक अथवा लौकिक सुख का मार्ग, कल्याण अथवा लोकोत्तर सुख का मार्ग। दूसरे शब्दों में प्रेय और श्रेय का मार्ग भी कहा जा सकता हैं। उपर्युक्त चार पुरुषार्थों में अर्थ और धर्म साधन मूल्य हैं—अर्थात् काम और मोक्ष के साधन प्रस्तुत करते हैं। काम और मोक्ष साध्य मूल्य हैं—अर्थ और धर्म के प्रयोजनभूत हैं।

4.1 उद्देश्य–समस्त भारतीय दार्शनिक परम्पराएं, चाहे वे नास्तिक हों या आस्तिक, वैदिक हों या अवैदिक, मोक्षविषयक विचार सभी में उपलब्ध होते हैं। प्रस्तुत अध्याय में मुख्य भारतीय दर्शनों में उपलब्ध मोक्ष के स्वरूप का संक्षिप्त विहंगावलोकन किया जाएगा और जैन दर्शन में उपलब्ध मोक्ष विचार पर अपेक्षाकृत विस्तार से विचार किया जा सकेगा क्योंकि जैन दर्शन में मोक्ष के विषय में पर्याप्त विचार हुआ है।

4.2 चार्वाक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

आधुनिक समाज का जीवनगत दर्शन है—चार्वाक दर्शन। यह प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है अतः आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि परोक्ष प्रमेयों को स्वीकार नहीं करता। इसलिए इसे नास्तिक दर्शन भी कहा जाता है। देहमुक्ति अनन्तर होने वाला मोक्ष इसे मान्य नहीं पर ऐहलौकिक मोक्ष का विचार उसमें भी उपलब्ध होता है। **सर्वदर्शनसंग्रह** में चार्वाक दर्शन सम्मत मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा गया—

'पारतन्त्र्यं बन्धः स्वातन्त्र्यं मोक्षः।'

जहां-जहां स्वतन्त्रता है वहां सुख है और वही मोक्ष है। परतन्त्रता दुःख है और फलतः वही बन्ध है। मनुष्य जो कुछ भी कार्य करता है उसका एकमात्र लक्ष्य होता है—सुख की प्राप्ति, स्वतन्त्रता की प्राप्ति।

4.3 न्याय दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा के सभी दुःखों का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है—**'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।'**

अर्थात् दुःखों का ऐसा समूल नाश है कि भविष्य में उनके उत्पन्न होने की सम्भावना ही समाप्त हो जाए। उनके अनुसार जब तत्त्वज्ञान का उदय होता है, मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है फलतः सारे दोष समाप्त हो जाते हैं। दोष की समाप्ति का फल है प्रवृत्ति की समाप्ति। जब प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है तो जन्म का बन्धन भी छूट जाता है। मिथ्याज्ञान के नाश होने से संचित कर्मों का नाश होता है फलतः उसका अन्तिम परिणाम है—मोक्ष। वस्तुतः संसार में उपलब्ध होने वाला कोई भी सुख शुद्ध रूप में सुख नहीं है, वह छद्मवेश में दुःख ही है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को उनका उसी प्रकार त्याग कर देना चाहिए जैसे कोई समझदार मधु और विष मिश्रित भोजन को त्याग देता है। इस प्रकार मोक्ष का अर्थ है संसार के सभी प्रकार के अनुभवों का विनाश, फिर चाहे वे सुखात्मक हों या दुःखात्मक।

4.4 वैशेषिक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

वैशेषिक दर्शन न्याय दर्शन का समान तन्त्र है। अतः मोक्ष के विषय में दोनों के विचार प्रायः समान हैं। महर्षि कणाद के अनुसार सभी प्रकार के अदृष्ट का विनाश हो जाने पर आत्मा का शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। मोक्ष की अवस्था में जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार चैतन्य अथवा ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है। द्रव्य मूलतः निर्गुण होता है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—ये सब आत्मा के औपाधिक गुण हैं—आगन्तुक गुण हैं। वे आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः जब मोक्ष होता है तब आत्मा के इन सभी गुणों का भी वियोग हो जाता है—**'तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।'**

अर्थात् शरीरधारक मन, कर्म आदि का अभाव होने से वर्तमान शरीर के संयोग का अभाव हो जाता है एवं नए शरीर का उत्पाद नहीं होता है। वैशेषिक मत के अनुसार मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए मल्लिषेण कहते हैं—

'तदेवं धीषणादीनां, नवानामपि मूलतः।
गुणानामात्मनो ध्वंसः, सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः ।।'

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार सुख, दुःख, इच्छा आदि के समान ज्ञान का भी मोक्ष अवस्था में अभाव हो जाता है। उनके अनुसार ये समस्त धर्म शरीर सापेक्ष हैं। जब इन्द्रिय सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता है तब ये धर्म भी नष्ट हो जाते हैं। उस अवस्था में आत्मा की स्थिति प्रायः उसी प्रकार की हो जाती है जिस प्रकार गाढ़ सुषुप्तावस्था में वह जड़ पाषणवत् संज्ञाशून्य हो जाती है। वात्स्यायन के अनुसार—सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् सांसारिक पदार्थों से आसक्ति का नाश हो जाता है। परिणामस्वरूप उसे मन, वाणी या शरीर से कोई प्रवृत्ति की अपेक्षा नहीं होती जो उसके दूसरे जन्म का कारण बन सके। प्रारब्धकर्म भी धीरे-धीरे छूट जाते हैं फलतः पुनः जन्म लेने की भी आवश्यकता नहीं होती, आत्मा की यह अवस्थिति ही मोक्ष हैं।

4.5 सांख्य और योग दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

सांख्य और योग दर्शन द्वैतवादी दर्शन हैं। उनके अनुसार संसार के घटक तत्त्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन। प्रकृति सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों का समवाय है, त्रिगुणात्मिका है। पुरुष—त्रिगुणातीत है। सुख और दुःख, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व प्रकृति के धर्म हैं। पुरुष कूटस्थ है, नित्य है, सुख दुःखादि उसके धर्म नहीं पर अनादि अज्ञान अथवा अविद्या के कारण पुरुष प्रकृति को अपना मान लेता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित सुख और दुःख को अपना मान लेता है, उसमें उसकी अहंबुद्धि हो जाती है, यही पुरुष का बन्ध है। जब पुरुष को तत्त्वज्ञान हो जाता है, अविद्या नष्ट हो जाती है। वह बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बीच भेद को जान लेता है। भेद ज्ञान हो जाता है। विवेक ख्याति होने पर पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि वह पुरुष है, न प्रकृति है और न उसका विकार। उसका विवेक ज्ञान ही वस्तुतः उसका मोक्ष है। सांख्य दर्शन के अनुसार—

'प्रकृतिपुरुषान्यत्वख्यातौ प्रकृत्युपरमे पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः।'

विवेक ज्ञान होने पर पुरुष जान जाता है कि वह तो नित्य मुक्त ही था। प्रकृति के विकास का लक्ष्य है—पुरुष का मोक्ष। विवेक ज्ञान होने पर प्रकृति का कार्य उस पुरुष विशेष के लिए समाप्त हो जाता है वह अपने कार्य से उसी प्रकार विरत हो जाती है जैसे दर्शकों का मनोरंजन करके नर्तकी रंगमंच से चली जाती है। यहां यह अवधेय है कि परिणमन प्रकृति का धर्म है। विवेकख्याति का अधिष्ठान भी वही है अतः सांख्यदर्शन के अनुसार बन्ध और मोक्ष भी प्रकृति के होते हैं, पुरुष के नहीं। **ईश्वरकृष्ण के अनुसार—संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति।**

योग दर्शन के अनुसार मोक्ष का अर्थ है—पुरुषार्थ शून्य गुणों का पुनः उत्पन्न न होना, सांसारिक सुख-दुःखों का आत्यन्तिक उच्छेद अर्थात् अपने स्वरुप में प्रतिष्ठान।

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरुप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।'

योग दर्शन सांख्य की तत्त्वमीमांसा और उसके मोक्ष विचार को मानते हुए उससे एक कदम और आगे बढ़ता है—कैवल्य को प्राप्त करने का अनिवार्य साधन है—अष्टांगयोग का अभ्यास। जब योग के अभ्यास से बुद्धि निर्मल हो जाती है तो वह प्रकृति में लय होना शुरु हो जाती है। पुरुष भी मन इत्यादि से अपना सम्बन्ध समाप्त कर देता है अर्थात् स्वयं को प्रकृति या उसका विकार समझना समाप्त कर देता है। इस प्रकार प्रकृति के दृष्टिकोण से पुरुष का कैवल्य मन, बुद्धि, इन्द्रियां इत्यादि विकारों का उनके मूल कारण प्रकृति में लय हो जाना है और पुरुष के दृष्टिकोण से कैवल्य उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है।

4.6 मीमांसा दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

मीमासा दर्शन में स्वर्ग की चर्चा जितनी अधिक मात्रा में है मोक्ष उतना ही कम चर्चित रहा है। फिर भी कुछ वेदवाक्य **'सोऽश्नुते सर्वकामान् सह ब्रह्मणा विपश्चित:'**–मोक्षविषयक माने जाते हैं। मीमांसकों के मतानुसार निरतिशय सुखों की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है। मीमांसकों में मुख्यत: दो सम्प्रदाय हैं। प्रभाकर मत के अनुसार धर्म और अधर्म के अदृश्य होने पर शरीर का पूर्ण रूप से निरोध होना मोक्ष है। अर्थात् मोक्ष की अवस्था में आत्मा का केवल अस्तित्व रहता है, यह स्थिति न आनन्द की है, न चैतन्य की। जबकि भाट्ट मीमांसकों के अनुसार चैतन्य आत्मा में गुप्त शक्ति के रूप में अनुवृत्त रहता है। फिर भी इस विषय में दोनों एकमत हैं कि मोक्ष अवस्था में आनन्द नहीं होता क्योंकि उनके अनुसार आनन्द के उपभोग के लिए शरीर और मन की आवश्यकता है और आत्मा का सशरीरी होना बन्धन है। अत: मुक्ति और आनन्द साथ-साथ नहीं हो सकते। यद्यपि **सर्वदर्शन संग्रह** के अनुसार मीमांसक भी मुक्ति में निरतिशय सुख की अभिव्यक्ति को मानते हैं। उन्होंने मीमांसक सम्मत मोक्ष का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

'नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्ति:।'

4.7 अद्वैतवेदान्त में मोक्ष का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। वस्तुत: ब्रह्म से भिन्न न जीव है, न कर्म है और न मोक्ष। फिर भी अनादि अविद्या एवं अध्यास के कारण जीव स्वयं को ब्रह्म से भिन्न मानने लगता है। अत: इस अज्ञान, अध्यास अथवा भ्रमपूर्ण तादात्म्य का दूर होना ही मोक्ष है। जीव का मोक्ष स्वयं के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान में, अर्थात् यह अनुभव करने में निहित है कि उसका ब्रह्म से नितान्त अभेद है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति ने अन्धकार के कारण रस्सी को सर्प समझ लिया। कालान्तर में जब प्रकाश हुआ उसे पता चला कि वस्तुत: जिसको उसने सांप समझा वह तो रस्सी थी सांप नहीं। अब इस भ्रम के दूर होने पर न तो उसे कोई वस्तु की प्राप्ति होती है और न किसी वस्तु में परिवर्तन (विकार) ठीक उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति में भी जीव को न तो कुछ बाहर से प्राप्त होता है, न जीव में कुछ परिर्वतन होता है और न किसी नई अवस्था का उत्पाद होता है क्योंकि वस्तुत: जीव और ब्रह्म के मध्य जो भेद का भ्रम था वह नष्ट होना ही मोक्ष है। जीव तो ब्रह्म स्वरूप पहले से था ही।

मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए शंकराचार्य **ब्रह्मसूत्र** के **भाष्य** में लिखते हैं—**'यह परमार्थ है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सभी विकारों से शून्य है नित्य तृप्त है अवयवों से रहित है, स्वभाव से स्वयं प्रकाश है। वह ऐसी स्थिति है जहां तक पुण्य और पाप अपने फल सहित त्रिकाल में भी नहीं पहुंच सकते।'** वस्तुत: ये वे ही सारे विशेषण हैं जो ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करने में प्रयुक्त होते हैं। जीव के मुक्त होने का तात्पर्य है उसे इस ज्ञान की प्राप्ति कि जीव तो अनादिकाल से ब्रह्म ही था। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भिन्न नहीं रहते। मोक्ष प्राप्त करने लिए जीव अथवा उसके अधिष्ठान ब्रह्म में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। परिवर्तन केवल हमारे दृष्टिकोण में होता है, ज्ञान जगत् में होता है। इस प्रकार मोक्ष का अभिप्राय है ज्ञानगत परिवर्तन। रज्जु और सर्प के दृष्टान्त के समान उसमें सत्तागत परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है कि वेदान्त के अनुसार मोक्ष का एकमात्र साधन है ज्ञान। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष के लिए कर्म की आवश्यकता नहीं, अपितु कर्म तो स्वयं मोक्ष में बाधक है। कर्म और ज्ञान में उतना ही अन्तर है जितना अन्धकार और प्रकाश में। मोक्ष ब्रह्म से ऐक्य भाव है। ब्रह्म देश, काल और कारण से ऊपर है अत: मोक्ष भी इन सबसे ऊपर है।

अभी तक हमने चार्वाक और वैदिक दर्शनों में वर्णित मोक्ष के स्वरूप के बारे में विचार किया अब श्रमण दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप पर विचार करेंगे। श्रमण दर्शन मुख्यत: दो हैं—बौद्ध और जैन।

4.8 बौद्ध दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी दर्शन है। वह कर्म, पुनर्जन्म और परिनिर्वाण में विश्वास करता है। उसके अनुसार आत्मा क्षणिक विज्ञान रूप है उसे नित्य तत्त्व मानना ही दु:ख का मुख्य हेतु है। अत: परिनिर्वाण के समय जैसे शरीर उच्छेद है, आत्मा भी हेय है। माध्यमिक शून्यवाद के अनुसार आत्मा का उच्छेद ही मोक्ष है। **आत्मोच्छेदो मोक्ष:।** विज्ञानवादी बौद्ध मुक्ति को ज्ञानमय मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान का धर्मी-आत्मा जब निवृत्त हो जाता है तब निर्मल ज्ञान का उदय होना ही मोक्ष है।

'धर्मिनिवृत्तौ निर्मलज्ञानोदयो महोदय:।'

मोक्ष के लिए बौद्ध वाङ्मय में निर्वाण शब्द अधिक प्रचलित है। निर्वाण का अर्थ है—बुझ जाना, पुनर्जन्म के रास्ते को छोड़ देना, सभी दु:खों के निदानभूत कर्म संस्कारों से मुक्ति पांच स्कन्धों एवं तीन अग्नियों—काम, द्वेष और अज्ञान से छुटकारा। वस्तुत: निर्वाण के विषय में बौद्ध दर्शन का मत न एकान्त विधेयात्मक है और न एकान्त निषेधात्मक। अत: कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन में निर्वाण का सिद्धान्त सुसम्बद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होता।

4.9 जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

जैन दर्शन का मोक्षवाद इन सबसे विलक्षण है। वह न आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता में विश्वास करता है और न ईश्वर कर्तृत्व में। वह न एकान्त द्वैतवादी है और न सर्वथा अद्वैत का प्रतिपादन कर जगत् को शंकर के समान पूर्णत: मिथ्या बताता है। उसके अनुसार सारा जगत् मुख्यत: दो खेमों में बंटा हुआ है—जीव और अजीव। जीव अनादि काल से संसरण कर रहा है और तब तक करता रहेगा जब तक वह कर्म पुद्गलों के चंगुल से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता। जैन दर्शन का जीव स्वभावत: शुद्ध, अनन्त चतुष्टय—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति का स्वामी, अपने कर्मों का कर्त्ता और कृतकर्मों के फल का भोक्ता है। ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है। संसारी अवस्था में वह जिस शरीर में रहता है उसका सहविस्तारी बन जाता है। अर्थात् एक ही जीव जब हाथी के शरीर में उत्पन्न होता है वह उतने बड़े आकार वाला हो जाता है, वही एक कुन्थु में उत्पन्न होता है तो उतना छोटा बन जाता है। कर्म केवल मानसिक या शरीरिक क्रियाएं नहीं, वस्तुगत सत्ताएं हैं। वे अनन्त पुद्गलों के स्कन्ध हैं जो प्रतिक्षण हमारी प्रवृत्ति एवं राग-द्वेष से आकृष्ट होकर आत्मा के साथ सम्बद्ध होते जाते हैं। अत: मुक्ति की अवस्था में भाव जगत् और द्रव्य जगत् दोनों में परिवर्तन होता है। वह अपने सत्पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करता है, आत्मा से दूर करता है और भाव आश्रव—प्रवृत्ति एवं आसक्ति को संवृत करता हुआ सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और निरन्तराय बन जाता है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर वह अपुनर्भवी हो जाता है इसी को मोक्ष कहते हैं। आचार्य उमास्वाति के शब्दों में—**'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष:।'**

अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक एवं निरन्वय विनाश ही मोक्ष है। प्रश्न हो सकता है कि जब आत्मा स्वभावत: शुद्ध है तो वह बन्धन में कैसे पड़ता है। जैन दर्शन के अनुसार बन्धन का कारण है—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरित्र। इसके विपरीत सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण ही मोक्ष का मार्ग है—**सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:।**

यह त्रिविध साधना का मार्ग जैनदर्शन की एक महान् मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचायक है क्योंकि मानवीय चेतना के मुख्यत: तीन आयाम (पक्ष) हैं—ज्ञान, भाव और संकल्प। चेतना के भावात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने हेतु आवश्यक है सम्यक् दर्शन। ज्ञानात्मक पक्ष के सम्यक् नियोजन का परिचायक है—सम्यक् ज्ञान। संकल्पचेतना के जागरण के लिए सम्यक् चारित्र का प्रावधान किया जाता है। बौद्ध दर्शन में इन्हें क्रमश: समाधि, प्रज्ञा और शील कहा गया है। गीता के शब्दों में इन्हें भक्तिमार्ग,

ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग अथवा प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा कहा जा सकता है। हिन्दू परम्परा में परमसत्ता के तीन रूप प्रतिपादित हैं—**सत्यं, शिवं और सुन्दरम्।** रत्नत्रयी से भी इनकी तुलना की जा सकती है। उपनिषद् इन्हें श्रवण, मनन और निदिध्यासन की अभिधा से अभिहित करता है।

जैन दर्शन में मुक्त जीव को सिद्ध कहा जाता हैं। सिद्ध का अर्थ है—प्रकृष्ट शुक्लध्यान रूपी अग्नि से जिन्होंनें अपने संचित कर्मों को पूर्णतः जला दिया अर्थात् जिनकी साधना का प्रयोजन 'सीझ' गया—पूर्ण हो गया। **भगवती सूत्र** में मुक्त जीवों के स्वरूप का प्रतिपादन आठ पर्यायवाची नामों से किया है। वे आठ नाम हैं—सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, पारगत, परम्परागत, परिनिवृत्त, अन्तकृत् और सर्वदुःखप्रहाण। **आचार्य अभयदेवसूरि** ने **भगवती सूत्र** की वृत्ति में इनका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। **औपपातिक सूत्र** में मुक्त जीवों के आठ पर्यायवाची नाम हैं जिनमें चार हैं—उन्मुक्त कर्मकवच, अजर, अमर और असंग—

सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य पारगयत्ति य परंपरगयत्ति य।
उन्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असंगा य।।

सिद्ध सर्व कर्म मुक्त होते हैं अतः उनके क्षायिक (कर्मक्षय से होने वाले) गुणों में कोई भेद नहीं होता। वे सभी केवलज्ञान, केवलदर्शन, असंवेदन (अनुकूलता और प्रतिकूलता से अतीत), आत्मरमण (नैतिकता अैर लौकिकता की चेतना से पार), अटल अवगाहन, अमूर्त्तिकपन (शरीर, मन और बुद्धि से रहित होने के कारण इन्द्रियचेतना से अतीत), अगुरुलघुपन (उच्च नीच के भेदभाव से मुक्त) तथा निरन्तराय (अनन्त शक्ति सम्पन्न) से युक्त होते हैं।

स्पष्ट है कि जैन साधना पद्धति न एकान्त ज्ञानयोग को स्वीकार करती है और न रामानुज आदि के समान एकान्त भक्तियोग को स्वीकार करती है। चेतना का समग्रतः विकास तभी सम्भव है जब ज्ञान भक्ति से संवलित हो और आचरण में अवतरित हो। बौद्धदर्शन मुक्त अवस्था में आत्मा का एकान्ततः उच्छेद मानता है पर जैन दर्शन के अनुसार आत्मा के उस अशुद्ध पर्याय का विनाश होता है जो उसकी संसारी अवस्था का परिचायक है। यदि आत्मा रूपी धर्मी का निरन्वय विनाश मान लिया जाए तो ज्ञान (धर्म) कहां रह पाएगा? ज्ञानचेतना का पूर्ण विकास तभी होगा जब उसका अधिकरण आत्मा का अस्तित्व रहे।

जैन दर्शन के अनुसार मुक्त अवस्था में केवलज्ञान—त्रैकालिक, त्रैलौकिक पदार्थों के प्रत्यक्षीकरण का सामर्थ्य होता है। उस अवस्था में आत्मा अपने स्वभाव में रमण करता है फलतः उसे अपरिमित आनन्द की उपलबिध होती है। मोक्ष में होने वाले सुख का वर्णन करते हुए जैन आगमों में कहा गया—

'जं देवाणं सोक्खं सव्वद्धा पिंडियं अणंतगुणं।
ण य पावइ मुत्तिसुहं णंताहिं वग्गवग्गूहिं।।'

भौतिक सुखों की दृष्टि से देवतागण समस्त संसारी प्राणियों में उत्कृष्ट है—ऐसा प्रायः सभी भारतीय परम्पराएं मानती हैं। जैनदर्शन का अभिमत है—अगणित देवताओं के भूतकालीन, वार्तमानिक और भविष्यत्कालीन सुखों को यदि एक स्थान पर पिंडीभूत (एकत्रित) किया जाए तब भी वह मुक्ति में प्राप्त होने वाले सुख का अनन्तवां भाग भी नहीं हो पाता। जैन दर्शन की यह अवधारण उसे न्याय, वैशेषिक और सांख्य दर्शन की मोक्ष की अवधारण से उत्कृष्टता प्रदान करती है। भला ज्ञान और आनन्द से रहित पाषाणकल्प मुक्ति को प्राप्त करने के लिए कौन प्रयत्न करेगा। सांख्य दर्शन भी बुद्धि को प्रकृति का विकार एवं आनन्द को सत्त्वगुण का विकार मानता है और पुरुष को नित्य, शुद्ध, मुक्त मानता है। त्रिगुणातीत सत्ता है अतः मुक्ति में न ज्ञान होता है और न आनन्द। जैन दर्शन सांख्यदर्शन से सहमत नहीं।

जैन दर्शन के अनुसार जन्म-मरण के चक्र का कारण है कर्मबन्धन। मुक्त अवस्था में आत्मा कर्मों के बन्धन से पूर्णतः मुक्त होती है अतः उसे पुनर्जन्म नहीं करना पड़ता—**दग्धे बीजे यथात्यन्तं न रोहति**

भवांकुर:। कुछ दार्शनिक परम्पराएं मानती हैं कि यदि धर्म तीर्थ की हानि होती है, अधर्म का बोलबाला होता है तब धर्म के पुनरुद्धार के लिए भगवान् पुन: पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। जैन दर्शन को यह अवतारवाद अभीष्ट नहीं।

ब्रह्मवादी दार्शनिकों के अनुसार आत्मा ब्रह्म का अंश है अत: मुक्त होने पर वे पुन: ब्रह्म में लीन हो जाती हैं। जैन दर्शन को मुक्त आत्माओं की ब्रह्मलीनता या ईश्वरलीनता मान्य नहीं। जैन दृष्टि से आत्मा अमूर्त्त होते हुए भी सावयव है, निरंश या निरवयव नहीं। वह असंख्य चेतन परमाणुओं (अविभागी प्रतिच्छेदों-प्रदेशों) का पिण्ड है। आत्मा का भी एक आकार बनता है। संसारी अवस्था में आत्मा का आकार शरीर के आधार पर बनता है। वह अपने शरीर के अनुसार छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी होती है। कर्म और शरीर से मुक्त अवस्था में वह कौन-सा आकार ग्रहण करे, उसकी अवगाहना कितनी हो? इस विषय में उत्तराध्ययन सूत्र में एक गाथा उपलब्ध होती है—

'उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरमम्मि उ।
तिभागहीणा वत्तो य सिद्धाणोगाहणा भवे।।'

अर्थात् अशरीरी अवस्था में आत्मा की अवगाहना अपने त्यक्त शरीर की अवगाहना त्रिभागहीन (2/3)हो जाती है। प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों होता है? वह तो मुक्त हो जाती है फिर समस्त लोकाकाश में व्याप्त क्यों नहीं हो जाती। समाधान की भाषा में कहा जा सकता है—यद्यपि आत्मा हमारे शरीर की सहविस्तारी है, तथापि इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि उसमें (शरीर में) पोला भाग भी है, 1/3 भाग रिक्त भी है, मुक्त अवस्था में वह पोला भाग समाप्त हो जाता है अत: वह अपने अन्तिम शरीर का दो तिहाई भाग हो जाती है। उनके नामकर्म नहीं होता अत: उनकी आत्मा का न संकोच होता है और न विस्तार—यही उनका अटल अवगाहन है। जैनदर्शन की एक विलक्षणता यह भी है कि अनन्त सिद्ध हैं और प्रत्येक की अपनी अवगाहना भी हैं। तथापि वे एक दूसरे से प्रतिहत नहीं होते जैसे एक ही दीपक जिस कक्ष को प्रकाशित करता है उसी कक्ष में सैंकड़ों दीपकों का प्रकाश भी व्याप्त हो सकता है।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि आत्मा की स्वभावत: ऊर्ध्वगति है। कर्मों के संयोग के कारण उसे नीचे और तिरछा भी जाना पड़ता है। मुक्त होने पर वह अपने स्वभाव के अनुसार ऊपर की ओर गति करती है। जैन दर्शन के अनुसार मुक्त जीव एक समय (सूक्ष्म कालाणु) में लोक के अग्रभाग में चली जाती है पर वह लोकाकाश का अतिक्रमण नहीं कर पाती क्योंकि वहां गति का सहायक तत्त्व—धर्मास्तिकाय और स्थिति का सहायक तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) नहीं हैं। जैनमत के अनुसार लोक के अग्रभाग में एक सिद्धालय है जहां मुक्त आत्माएं अवस्थित होती हैं। उर्ध्वलोक का अन्तिम खण्ड जहां सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमान है। उस विमान के ऊपर एक स्वच्छ, श्लक्ष्ण, मसृण, निष्पंक और नीरज अर्जुन-स्वर्णमयी शिला है। इसी को सिद्धशिला, सिद्धालय, मुक्तलोक कहा जा सकता है। अन्य दर्शनों में जहां बैकुण्ठधाम, विष्णुलोक, गोलोक के विषय में जानकारी नहीं मिलती, वहां जैनदर्शन की यह विलक्षणता है कि उसमें सिद्धालय का विस्तृत विवेचन मिलता है। यह वह स्थान है जहां न जन्म है, न मृत्यु, न जरा है, न रोग और न शोक। यह सब प्रकार की बाधाओं, पीड़ाओं और दु:खों से मुक्त है, अक्षय, शिव और अव्याबाध है।

मुक्त आत्मा अमूर्त्त, शब्दातीत और तर्कातीत चेतना है। वह वर्णातीत, गंधातीत, स्पर्शातीत, संस्थानातीत, शरीरातीत, लिंगातीत चेतना है क्योंकि वर्ण, गंध, स्पर्श, संस्थान (आकृति) और लिंग पौद्‌गलिक हैं—पुद्‌गल के धर्म हैं। मुक्त आत्मा के न स्थूल शरीर होता, और न सूक्ष्म शरीर अत: शरीर और उसके सहचारी धर्म भी नहीं हो सकते। मुक्त जीव न सूक्ष्म होता है, न स्थूल, न अणु होता है और न क्षुद्र या विशाल। वह न द्रव है, न ठोस। वह न तम है न छाया। **आचारांग सूत्र** के परमात्मपद में मुक्त आत्माओं के स्वरूप का विस्तृत वर्णन मिलता है। जैनदर्शन सम्मत मुक्त जीवों के स्वरूप की तुलना वृहदारण्यक

उपनिषद् में वर्णित शुद्ध आत्मा के स्वरूप से भी की जा सकती है। उपनिषद् दर्शन के अनुसार शुद्ध आत्मा अरस, अगंध, अवाक्, अनेत्र, अकर्ण, अमन, अतेज, अप्राण, अमुख, अनन्तर और अबाह्य है अर्थात् वह रस, गन्ध, स्पर्श आदि भूतगुणों से रहित होती है। उसे ज्ञान करने के लिए नेत्र कर्म आदि बाह्य इन्द्रियों तथा मन की अपेक्षा नहीं होती है। वह तेज, प्राण आदि सूक्ष्म शरीर गुणों से भी मुक्त होती है। उसमें अन्तर और बाह्य का भेद नहीं होता। **ब्रह्मसूत्र** में मुक्त आत्माओं के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है—

'इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वक्रिया विरहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयं ज्योतिस्वभावं यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं नापवर्तेते।'

एक प्रकार से ब्रह्मसूत्र में वर्णित यह स्वरूप ब्रह्म का ही स्वरूप है क्योंकि वेदान्त दर्शन के अनुसार शुद्ध आत्मा और ब्रह्म में तत्त्वतः कोई भेद नहीं होता। जैन दर्शन को उपर्युक्त विषय में सर्वव्यापी और निरवयव के अतिरिक्त कोई आपत्ति नहीं।

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार मुक्त जीव अरूपी, ज्ञान, दर्शन में सदा उपयुक्त निरूपम, सुख सम्पन्न, संसार समुद्र से निस्तीर्ण, भवप्रपंच से श्रेष्ठ गति को प्राप्त है। मुक्त जीव और मोक्ष में तत्त्वतः अभेद है अतः मुक्त जीवों का स्वरूप ही मोक्ष का स्वरूप है।

4.10 सारांश–इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार यद्यपि मोक्ष का स्वरूप वाणी से अगम्य एवं वाचक-वाच्य भाव से परे है, नेतिवाद से गम्य है तथापि उस विषय में हमें विस्तृत व्यवस्थित एवं उपयोगी निरूपण उपलब्ध होता है जबकि अन्य भारतीय दर्शनों में वैसा विवेचन उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टि से जैन दर्शन का मोक्षवाद विलक्षण है—यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं।

4.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्याय और विशेषिक दर्शन में मोक्ष का क्या स्वरूप है? जैन दृष्टि के साथ उसकी तुलना करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन के अनुसार मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करें।
2. मोक्ष अथवा मुक्त जीव के पर्यायवाची नाम लिखें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. श्रमण दर्शन मुख्यतः दो हैं 1. ------ 2. ------
2. ------ दर्शन एक मात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है।
3. वैशेषिक दर्शन के अनुसार मोक्ष में आत्मा के ----- गुणों का उच्छेद हो जाता है।
4. अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष का एकमात्र साधन है ----- ।
5. जैन दृष्टि से मुक्त जीव ------ पर रहते हैं।
6. ज्ञानात्मक पक्ष के सम्यक् नियोजन का परिचायक है ----- ।
7. सिद्ध शिला लोक के ----- भाग में है।
8. सांख्य दर्शन के अनुसार मोक्ष ----- का होता है ------ का नहीं।
9. चार्वाक दर्शन के अनुसार मोक्ष का अर्थ है ----- ।
10. आत्मा के संकोच और विस्तार का हेतु है ----- ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. जैन/बौद्ध	2. चार्वाक	3. नौ	4. ज्ञान	5. सिद्धशिला
6. सम्यक् ज्ञान	7. अग्र	8. प्रकृति/पुरुष	9. स्वतन्त्रता	10. नामकर्म

इकाई–5 कारण–कार्य–सम्बन्ध : तुलनात्मक दृष्टि

(जैन, बौद्ध, वेदान्त, सांख्य तथा न्याय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में)

संरचना

5.0 प्रस्तावना

ढ़ाई हजार वर्ष पुरानी घटना है। एक भिक्षु एक वेश्या के घर पर भिक्षा मांगने खड़ा है। भिक्षु अत्यन्त रूपवान् है। वेश्या भिक्षु के रूप पर मुग्ध हो जाती है और भिक्षु को अपने साथ रहने का आमन्त्रण देती है। दोनों के बीच कुछ इस प्रकार वार्तालाप होता है—

वेश्या— भदन्त! आपकी कंचन सी काया पर यह भिक्षु का वेश शोभा नहीं दे रहा। आप मेरे आवास में रहें और मेरे साथ संसार के सब सुख भोगें।

भिक्षु— भद्रे! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारा सुझाव चिन्तनीय है; किन्तु मुझे एक आवश्यक कार्यवश एक सप्ताह के लिए कहीं जाना है। उसके बाद मैं लौटकर तुम्हारे ही पास आ जाऊंगा।

वेश्या— भदन्त! अपना वचन भूलिये मत। एक सप्ताह बाद अवश्य लौट आयें। तब तक मैं बड़ी उत्सुकता से आपकी प्रतीक्षा करूंगी।

भिक्षु— वचन देता हूँ, एक सप्ताह बाद इसी समय लौट आऊंगा। किन्तु तब तक मेरा एक कार्य तुम्हें करना है। मेरे पास यह एक आम का फल है। इसे एक सप्ताह तक तुम पूरी सावधानी से रखना। यह ज्यों का त्यों बना रहना चाहिए।

वेश्या— भदन्त! पूरा ध्यान रखूँगी। इस फल को आप लौटने पर जैसा दिया है वैसा ही पायेंगे।

भिक्षु ने अपनी झोली से निकालकर एक आम्रफल वेश्या को दे दिया और स्वयं चले गये। वेश्या ने वह फल दासियों को सौंप दिया और कहा कि पूरी सावधानी बरतना जिससे कि यह फल एक सप्ताह तक ज्यों का त्यों बना रहे। समय बीतते क्या देर लगती है? एक सप्ताह बाद भिक्षु लौट आया। वेश्या प्रसन्न थी। वेश्या ने दासियों से कहा कि भिक्षु ने जो आम दिया था वह ले आओ। दासियां आम लेकर आई। किन्तु वेश्या ने देखा कि आम का रंग, रूप, रस एक सप्ताह में सब कुछ बदल चुका था। भिक्षु को आम लौटाते समय वेश्या ने कहा—

भदन्त! आपके आम को हमने पूरी सावधानी से रखा। किन्तु फिर भी यह बदल गया है, क्योंकि बदलना प्रकृति का नियम है। हम कितना भी चाहें पर समय के साथ चीजें बदलती हैं— ज्यों की त्यों नहीं रह पाती।

भिक्षु ने कहा— भद्रे! यदि तुम आम को एक सप्ताह भी बदलने से नहीं रोक पाई तो तुम्हें यह विश्वास कैसे है कि मेरे जिस शरीर पर तुम आज मुग्ध हो, उसे बदलने नहीं दोगी। क्या तुम मानती हो कि मैं सदा ऐसा ही बना रहूं गा?

भिक्षु के इन वचनों ने वेश्या की आंखें खोल दी। उसकी आंखों के सामने भिक्षु के वृद्धावस्था का जर्जरित शरीर नाचने लगा। उसका मोह क्षण भर में ही भंग हो गया। वैराग्य का उदय हुआ और उसने भिक्षु से संन्यास की दीक्षा देने की प्रार्थना की।

यह भिक्षु कोई और नहीं विश्व प्रसिद्ध शाक्यवंशी महात्मा बुद्ध थे और वह वेश्या, जो उनकी शिष्या बनी, आम से जुड़ी इस घटना के कारण इतिहास में आम्रपाली नाम से प्रसिद्ध हुई। घटना छोटी थी, किन्तु घटना का संदेश एक बहुत बड़ा सत्य था। संसार में प्रत्येक क्षण निरन्तर परिवर्तन हो रहा है जिसे कोई भी रोक नहीं सकता। इसीलिए तो संसार का नाम संसार है क्योंकि इसमें निरन्तर संसरण हो रहा है। इसीलिए इसे जगत् कहते हैं क्योंकि इसमें निरन्तर गति हो रही है।

5.1 उद्देश्य–जैन आगमों में संसार में होने वाले इस परिवर्तन का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया और विविध प्रकार के परिवर्तनों का एक वैज्ञानिक वर्गीकरण भी किया गया। इससे पहले कि हम कार्य-कारण-सम्बन्ध की चर्चा करें, जैनागमों में परिवर्तन के विभिन्न प्रकारों पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा, क्योंकि कारण-कार्य-भाव की पृष्ठभूमि में परिवर्तन का ही तथ्य रहता है। कारण से कार्य उत्पन्न हो जाना परिवर्तन का ही एक प्रकार है। परिवर्तन कितने प्रकार का होता है इसका जितना अच्छा विश्लेषण जैनागमों में होता है, उतना शायद कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसलिए सर्वप्रथम परिवर्तन के तथ्य के विश्लेषण के लिये हम एक दृष्टि जैन आगमों पर डालेंगे।

5.2 परिवर्तन के प्रकार : जैनागमों की दृष्टि में

जगत् कहें या संसार कहें, दोनों का अभिप्राय यही है कि दुनियां में लगातार परिवर्तन हो रहा है, बदलाव हो रहा है। जैन वैचारिकों ने इस परिवर्तन के दो रूप मानें हैं— प्रायोगिक और वैस्रसिक।

1. प्रायोगिक— प्रयत्न से होने वाला परिवर्तन। प्रायोगिक परिवर्तन ऐसा परिवर्तन है जो पदार्थ में स्वयं नहीं होता, इसके लिए किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता होती है जैसे— घड़ा या कपड़ा स्वयं नहीं बनता। मिट्टी से घड़ा कुम्हार बनाता है। धागे से कपड़ा जुलाहा बनाता है। ऐसे परिवर्तन को आगम में प्रायोगिक कहते हैं।

2. वैस्रसिक— स्वत: होने वाला परिवर्तन। वैस्रसिक परिवर्तन ऐसा परिवर्तन है जो पदार्थ में स्वयं हो जाता है, इसके लिये किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं होती, जैसे— मेघ स्वयं बन जाते हैं। उन्हें कोई बनाता नहीं। ऐसे परिवर्तन को आगम में वैस्रसिक कहते हैं।

प्रायोगिक और वैस्रसिक ये दोनों परिवर्तन भी दो-दो प्रकार से होते हैं—

1. प्रायोगिक विभागकृत— यह ऐसा परिवर्तन है जो प्रयत्नजन्य विभाग से होता है। जैसे—घर के तोड़ने पर ईटों का निकल आना प्रायोगिक विभागकृत परिवर्तन का उदाहरण है।

2. प्रायोगिक अर्थान्तरभावगमन— कंगन को तोड़कर कुंडल बना देना प्रायोगिक अर्थान्तरभावगमन का उदाहरण है। यहाँ एक नया पदार्थ बन गया और पुराना पदार्थ नष्ट हो गया।

3. वैस्रसिक विभागजन्य— यह ऐसा परिवर्तन है जो स्वत: विभाग मात्र से होता है। बादलों का स्वयं कट-छंटकर छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखर जाना वैस्रसिक विभागजन्य का उदाहरण है।

4. वैस्रासिक अर्थान्तभावगमन— स्वत: एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में बदल जाना अथन्तिरभावगमन है यथा— बर्फ का पिघलकर पानी बन जाना अथवा ऊष्णता के कारण पानी का भाप बन जाना वैस्रसिक अर्थान्तभावगमन का उदाहरण है।

जैनदर्शन के अनुसार एक ऐसा भी परिवर्तन है जो अकेले द्रव्य में स्वत: ही होता रहता है। इसे ऐकत्विक परिवर्तन कहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और सिद्धात्माओं में इसी प्रकार का परिवर्तन होता रहता है।

5.3 परिवर्तन में पूर्वापरत्व सम्बन्ध : कारण-कार्य-सम्बन्ध का मूल आधार

जगत् में दिखाई देने वाले ये जितने भी परिवर्तन हैं उनमें से कुछ परिवर्तन विशेष प्रकार के हैं। जब दो स्थितियों में परस्पर ऐसा सम्बन्ध रहता है कि एक स्थिति के बाद ही दूसरी स्थिति आती है तो हम उन दोनों स्थितियों में से पहली स्थिति को कारण और दूसरी स्थिति को कार्य मान लेते हैं। उदाहरणत: ताप के संयोग से पानी गरम हो जाता है। इस उदाहरण में ताप का संयोग कारण है और पानी का गरम हो जाना कार्य। जब तक ताप न पहुंचाया जाये, पानी गरम नहीं हो सकता। यहाँ ताप के संयोग और पानी के गरम होने में तीन प्रकार के संबंध हैं—

1. पूर्वापर सम्बन्ध—ताप का संयोग पहले होता है, वह कारण है और पानी गरम बाद में होता है, वह कार्य है। इसे कारण-कार्य का पूर्वापर सम्बन्ध कहते हैं।

2. अन्वय सम्बन्ध—जब-जब ताप का संयोग पानी से होगा तब-तब पानी अवश्य गरम हो जायेगा। यह कारण-कार्य का अन्वय सम्बन्ध है।

3. व्यतिरेक सम्बन्ध—जब तक ताप का संयोग नहीं होता, पानी गरम नहीं हो सकता अर्थात् कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। कारण कार्य के इस सम्बन्ध को व्यतिरेक सम्बन्ध कहते हैं। इसी आधार पर उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि में कारण उसे कहा है जो कार्य से नियत रूप में पहले रहता ही हो। **'(कारणत्वम्) कार्यान्नियत: पूर्वभाव:'**

यहाँ ध्यातव्य है कि यद्यपि रोहिणी नक्षत्र के आने से पहले कृत्तिका नक्षत्र भी सदा होता ही है, किन्तु कृत्तिका का उदित होना रोहिणी के उदित होने का कारण नहीं माना जाता क्योंकि रोहिणी के उदित होने का कृत्तिका के उदित होने में कोई सक्रिय योगदान नहीं है। ऐसी स्थिति को नियतपूर्ववर्ती होने पर भी कारण नहीं माना जाता अपितु ऐसी स्थितियों को अन्यथासिद्ध कहा जाता है। अत: न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली में कारण का लक्षण दिया गया—**'अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियतापूर्ववर्तिता कारणत्वं भवेत्'** अर्थात् कारण को कार्य के पहले तो निश्चित रूप से ही रहना चाहिए, किन्तु साथ ही उसे अन्यथासिद्ध भी नहीं होना चाहिये।

अन्यथासिद्ध के पाँच प्रकार

न्यायशास्त्र में पांच प्रकार का अन्यथासिद्ध माना जाता है। जो पदार्थ अन्यथासिद्ध होता है, वह कार्य के पूर्व में रहने पर भी कारण नहीं बनता। यह विषय शास्त्रीय होने के कारण सूक्ष्म है, किन्तु कारण की परिभाषा समझने के लिये इसे समझना आवश्यक है। अन्यथासिद्ध के पांच प्रकार हैं—

1. कारण किसी धर्म सहित ही कार्य के प्रति कारण बनता है जैसे— घट का कारण दण्ड दण्डत्व धर्म विशिष्ट ही होता है, किन्तु दण्डत्व को घट का कारण नहीं माना जाता अतः दण्डत्व अन्यथासिद्ध है।
2. घट के लिए दण्ड अनिवार्य है और दण्ड का कोई न कोई रूप रहता है, किन्तु दण्ड का रूप घट का कारण नहीं होता क्योंकि अमुकरूप वाले दण्ड से ही घट बनेगा, ऐसा नियम नहीं है अतः दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।
   दण्डत्व और दण्डरूप में यह अन्तर है कि दण्डत्व धर्म है, दण्डरूप गुण है। दण्ड में दण्डत्व एक ही प्रकार का रहता है किन्तु दण्डरूप लाल, काला, सफेद आदि अनेक प्रकार का हो सकता है।
3. आकाश और काल जैसे नित्य और विभु पदार्थ अन्यथासिद्ध नहीं हैं, क्योंकि वे सभी कार्यों के पूर्व नियत रूप से रहते ही हैं।
4. कारण का कारण अन्यथासिद्ध है जैसे कुम्भकार घट का कारण है; कुम्भकार का पिता अन्यथासिद्ध है, वह घट का कारण नहीं।
5. यदि कुछ पदार्थ कार्य के पहले घुणाक्षर न्याय से रह जायें तो वह उसका कारण नहीं माना जा सकता। उदाहरणतः पट बनाते समय यदि वहां गधा आ जाये तो गधा नियतपूर्ववर्ती न होने के कारण अन्यथासिद्ध माना जायेगा और पट का कारण नहीं होगा।

कारण-कार्य के स्वरूप को समझ लेने पर कारण से कार्य की उत्पत्ति कितने प्रकार से होती है, यह समझना चाहिये—

5.4 कारण से कार्योत्पत्ति के चार उदाहरण

कारण और कार्य के बीच के सम्बन्ध के विषय में भारत में अनेक प्रकार के मत विचारकों के बीच उत्पन्न हुये। उन मतों को समझने के लिये हम चार उदाहरणों पर दृष्टिपात करें—

1. तिल से तेल पैदा होता है—इस उदाहरण में तेल तिल में पहले से ही था, कोई नयी चीज उत्पन्न नहीं हुई। यहाँ तिल कारण है और तेल कार्य है।

2. मिट्टी से घड़ा बनता है—इस उदाहरण में घड़ा मिट्टी में पहले से नहीं था। मिट्टी में पानी मिलाकर, गीली मिट्टी को घड़े का आकार दिया गया और फिर उसे आग पर तपाकर घड़ा बनाया गया। यहां मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि घड़ा मिट्टी में पहले से ही उसी प्रकार था, जिस प्रकार तिल में तेल पहले से ही था।

3. समुद्र से लहर उत्पन्न होती है—इस उदाहरण में समुद्र कारण है और लहर कार्य है, किन्तु लहर समुद्र से कोई अलग चीज नहीं है। वह थोड़ी देर के लिये समुद्र में उठती है फिर उसी में विलीन हो जाती है। यहां लहर को समुद्र से अलग करके नहीं देखा जा सकता। ऐसा लगता है कि कारण और कार्य एक ही है।

4. दीपक की एक लौ से दूसरी लौ उत्पन्न होती है—हम दीपक की लौ को देखते हैं तब ऐसा लगता है कि वह एक ही है किन्तु थोड़ा सा विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि दीपक की एक लौ पैदा होती है और नष्ट हो जाती है फिर दूसरी लौ पैदा होती है और नष्ट हो जाती है फिर तीसरी लौ पैदा होती है और नष्ट हो जाती है। इस प्रकार एक के बाद एक लौ इतनी तेजी से नष्ट हो-होकर पैदा होती

रहती है कि हमें एक लौ का नष्ट होना और दूसरी लौ का पैदा होना दिखाई ही नहीं देता और ऐसा लगता है कि जैसे दीपक की लौ अनेक लौओं का समूह नहीं है अपितु एक ही लौ है। ऊपर जो हमने तीन प्रकार के कारण कार्य सम्बन्ध बताये हैं उन्हें ध्यान में रखें तो यह कहना होगा कि दीपक की एक लौ दूसरी लौ का कारण है।

5.5 कार्य कारण सम्बन्धी चार उदाहरणों के आधार पर चार दार्शनिक मत

उपर्युक्त चार उदाहरणों के आधार पर भारतीय चिन्तन के इतिहास में चार मत बन गये। (1) प्रथम उदाहरण के आधार पर सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद, (2) द्वितीय उदाहरण के आधार पर न्याय-वैशेषिक का असत्कार्यवाद, (3) तृतीय उदाहरण के आधार पर वेदान्त का विवर्तवाद और (4) चतुर्थ उदाहरण के आधार पर बौद्धों का प्रतीत्यसमुत्पाद बना। वे वाद क्रमशः इस प्रकार हैं—

5.6 सांख्य का सत्कार्यवाद

हमने ऊपर तिल से तेल उत्पन्न होने का उदाहरण दिया है और यह बताया है कि तेल तिलों में पहले से ही रहता है। इस दृष्टान्त को लेकर सांख्य दर्शन में यह सिद्धान्त विकसित हुआ कि कार्य कारण में पहले से ही रहता है। वह कारण में अव्यक्त रूप में छिपा रहता है और बाद में प्रकट हो जाता है। इस प्रकट हो जाने को ही हम उत्पन्न होना कहते हैं। उत्पन्न होने का अर्थ यह नहीं है कि कोई नई चीज बन जाये। सांख्य कारिका नामक ग्रथ की नवीं कारिका में इस सम्बन्ध में अनेक तर्क दिये गये हैं—

1. सभी यह मानते हैं कि जो है ही नहीं उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए उत्पन्न होने से पहले ही कार्य को कारण में होना चाहिये। और वह कारण में अव्यक्त रूप में रहता है जैसा कि तेल तिल में पहले से ही रहता है।

2. यदि कार्य नया ही उत्पन्न होता तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जाना चाहिये था किन्तु ऐसा होता नहीं। घड़ा मिट्टी से ही बनता है, धागे से नहीं। कपड़ा धागे से ही बनता है, मिट्टी से नहीं। अतः यह मानना पड़ेगा कि कार्य कारण में पहले से ही रहता है।

3. कारण और कार्य में एक ही गुणधर्म होते हैं जैसा कि कहा जाता है—**'कारणगुणाः कार्यमारभन्ते'** स्पष्ट है कि कार्य यदि नया उत्पन्न होता तो उसका स्वभाव अलग होना चाहिये था, कारण जैसा नहीं।

सांख्य के सत्कार्यवाद का आधार यह है कि सांख्यदर्शन पूरे विश्व को एक ही प्रकृति का परिणमन मानता है। यह प्रकृति स्वभाव से ही परिणमनशील है। प्रकृति के अतिरिक्त कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो इस विश्व रूपी कार्य को उत्पन्न कर सके अतः यह मानना होगा कि सम्पूर्ण कार्य प्रकृति में पहले से ही रहते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त और कोई कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि यह तो सर्वसम्मत ही है कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती है। सांख्य दर्शन के विकासवाद में प्रकृति मूल कारण है परन्तु उसका कोई कारण नहीं है। वह अव्यक्त, सूक्ष्म है उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ क्रमशः स्थूल होते जाते हैं। यह सूक्ष्म से स्थूल रूप धारण कर लेना ही कारण से कार्य का उत्पन्न हो जाना है न कि किसी नई वस्तु का उत्पन्न होना।

यह भी समझ लेना चाहिए कि रजोगुण के कारण प्रकृति में स्वयं ही परिवर्तन होता रहता है, जिसके फलस्वरूप कारण से कार्य आविर्भूत होते रहते हैं। इस प्रकार प्रकृति स्वयं ही सृष्टि की रचना कर देती है, उसके लिए ईश्वर जैसे किसी कर्त्ता की आवश्यकता नहीं है।

5.7 न्याय-वैशेषिक का असत्कार्यवाद

न्याय-वैशेषिक के अनुसार यह सृष्टि परमाणुओं से बनी है, प्रकृति से नहीं। परमाणु अनन्त है जबकि सांख्य की प्रकृति एक ही है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सांख्य की प्रकृति स्वतः परिणमनशील है जबकि

नैयायिक के अनुसार परमाणु अपने आप में स्थितिशील हैं। जब तक उन्हें गति न दें, वे गति नहीं करते। अतः उनमें गति प्रदान करने के लिए उन्हें ईश्वर को मानना पड़ा; क्योंकि सृष्टि को बनाने के लिए परमाणुओं का परस्पर संयोग होना आवश्यक है और इस संयोग के लिए उनमें गति होना आवश्यक है और यह गति ईश्वर देता है। कार्य उत्पन्न होते समय परमाणुओं में तो परिवर्तन नहीं होता अपितु उनके गुणधर्मों में परिवर्तन होता है। मुख्य बात यह है कि कोई भी कार्य स्वयं नहीं हो सकता, उसके लिए किसी न किसी को प्रयत्न करना पड़ता है। नैयायिक का कहना है कि कार्य अनेक अवयवों को जोड़कर बनता है। अवयवों का जोड़ अवयवी कहलाता है और अवयवी सदा अवयव से भिन्न होता है इसलिए अवयवों के जुड़ने से पहले अवयवी का अस्तित्व नहीं होता। नैयायिक के अनुसार किसी चीज के उत्पन्न होने से पहले उसका अभाव होता है। इस अभाव को प्रागभाव कहते हैं। उत्पन्न होने पर कार्य का प्रागभाव नहीं रहता। इस बात को शास्त्रीय भाषा में इस प्रकार कहा जाता है कि कार्य प्रागभाव-प्रतियोगी होता है। बनने से पहले घड़ा नहीं था अतः हम कहेंगे कि घड़े का प्रागभाव था। घड़ा पैदा हो गया तब घड़े का प्रागभाव नहीं रहा। इसे हम इस प्रकार कहेंगे कि घड़ा प्रागभाव का प्रतियोगी है। अपने असत्कार्यवाद के समर्थन में नैयायिक अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत करता है—

1. यदि यह मानें कि घड़ा नया उत्पन्न नहीं होता तो फिर यह प्रश्न होगा कि वह घड़ा किस कारण में रहता है। यदि यह कहा जाये कि घड़ा मिट्टी में रहता है तो फिर यह प्रश्न होगा कि यदि घड़ा मिट्टी में ही है तो पानी और आग की क्या जरूरत है और कुम्हार का प्रयत्न भी व्यर्थ है; घड़े को मिट्टी में से स्वयं ही प्रकट हो जाना चाहिए। मिट्टी का लोंदा बनाना, उसे चाक पर रखना, दण्ड द्वारा चाक को घुमाना, हाथों द्वारा लोंदे को घड़े का आकार देना, थपथपाना आदि क्रियाएं करने का व्यर्थ प्रयत्न कुम्भकार को क्यों करना पड़ता है?
2. कारण में कार्य का अस्तित्व पहले से ही मानने पर कारण और कार्य एक ही हो जायेंगे। फिर वे दो क्यों मानें जाते हैं? दोनों के दो नाम क्यों दिये जाते हैं? दोनों के लिए एक ही नाम का प्रयोग क्यों नहीं होता? इससे सिद्ध है कि कारण तथा कार्य दो हैं, सर्वथा भिन्न हैं। कारण में कार्य नहीं रहता अपितु वह नये रूप में उत्पन्न होता है।
3. नैयायिक का कहना है कि यह प्रत्यक्ष तथ्य है कि घड़े में हम पानी, तेल-घी आदि रख सकते हैं। वह इन्हें धारण करने में समर्थ है। किन्तु मिट्टी के लोंदे में हम इन्हें नहीं रख सकते, वह इन्हें धारण नहीं कर सकता। घड़े का कार्य वह नहीं कर सकता। यदि मिट्टी में घड़ा होता तो वे सब कार्य मिट्टी से ही हो जाते, जो घड़े से होते हैं। किन्तु व्यवहार में देखते हैं कि ऐसा नहीं होता अतः कार्य कारण में पहले से नहीं रहता, वह सर्वथा नवीन होता है।
4. सभी मानते हैं कि कारण और कार्य में सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध सदा दो पदार्थों में हो सकता है। यदि कारण और कार्य एक ही हों तो फिर उन दोनों में सम्बन्ध कैसे होगा?

इस प्रकार नैयायिक अनेक युक्तियों के आधार पर असत्कार्यवाद का समर्थन करता है।

ऊपर हमने जिन दो दर्शनों का उल्लेख किया है वे दोनों दर्शन सांख्य और न्याय-वैशेषिक वस्तुवादी दर्शन हैं। अर्थात् वे संसार की सत्ता को वास्तविक मानते हैं। कुछ दार्शनिक प्रत्ययवादी हैं जिनका कहना है कि संसार में पदार्थों की सत्ता है ही नहीं, वह केवल हमें प्रतीत होती है जैसे कि रस्सी में भ्रांतिवश सर्प प्रतीत होता है अथवा दीपक की लौ अनेक होते हुए भी भ्रांतिवश एक प्रतीत होती है। इस प्रकार के दर्शन प्रत्ययवादी दर्शन कहलाते हैं। ये प्रत्ययवादी दर्शन भी वस्तुवादी दर्शनों की भांति दो भागों में विभक्त हैं—

1. वे दर्शन जो यह मानते हैं कि कार्य कारण में पहले से ही रहता है। वेदान्त सत्कार्यवाद को मानने वाला प्रत्ययवादी दर्शन है। इसका मत विवर्त्तवाद कहलाता है।

2. वे दर्शन जो यह मानते हैं कि कार्य नया उत्पन्न होता है, कारण में पहले से नहीं रहता। बौद्ध असत्कार्यवाद को मानने वाला प्रत्ययवादी दर्शन है। इसका मत प्रतीत्यसमुत्पाद कहलाता है।

इन दोनों मतों का भी संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा।

5.8 वेदान्त का विवर्त्तवाद

कारण-कार्य के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त का मत विवर्त्तवाद कहलाता है। इस वाद के अनुसार ब्रह्म की ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है। वही जगत् का कारण है। उसी से नाना रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति होती है, किन्तु यह कार्य रूप जगत् वस्तुत: सत्य नहीं है। वह मन की कल्पना मात्र है। इसे समझाने के लिए अद्वैत वेदान्त में रस्सी एवं सर्प का उदाहरण विशेष रूप से उपयोग में लिया है।

अंधकार में एक रस्सी पड़ी है। एक व्यक्ति उधर से निकलता है। उसकी दृष्टि उस पर पड़ती है और वह उसे सर्प समझकर भयाक्रान्त हो जाता है, भाग जाता है। फिर दीपक लेकर वहां आता है। उसे देखता है, तब उसे ज्ञात होता है कि वह रस्सी है, सर्प नहीं है। रस्सी का ज्ञान होने पर उसका सर्प ज्ञान बाधित हो जाता है। वह रस्सी उसे रस्सी ही प्रतीत होती है सर्प नहीं। अत: रस्सी में होने वाला सर्प-ज्ञान सत्य नहीं है।

1. कार्य-कारण-भाव के आधार पर यह जगत् वैसी ही कल्पना है जैसी रस्सी में सर्प की होती है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् का एकमात्र कारण ब्रह्म है, जो कि नित्य कूटस्थ, विभु, सर्वगत एवं अव्यय है। वह न किसी से उत्पन्न होता है, न किसी को उत्पन्न करता है। प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्म न तो किसी से उत्पन्न होता है न किसी को उत्पन्न करता है तो यह नाना प्रपंचात्मक जगत् क्या है? यह कैसे उत्पन्न हुआ? वेदान्त के अनुसार यह जगत् मिथ्या है और यह वैसे ही उत्पन्न हो जाता है जैसे रस्सी में सर्पज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में वह सर्प नहीं होता, परन्तु दिखाई देता है। वैसे ही यह जगत् मिथ्या है, अज्ञान के कारण प्रतिभासित हो रहा है।
2. वेदान्त के अनुसार यह जगत् मायारूप है। इस माया की दो शक्तियां है— आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति का कार्य है जो सत् (विद्यमान) है उसको छिपा लेना, आवृत्त कर देना और विक्षेप शक्ति का कार्य है जो नहीं है उसे दिखा देना। ब्रह्म जो कि सत् है, आवरण शक्ति उसे छिपा लेती है और जगत् जो कि मिथ्या है विक्षेप शक्ति उसे दिखा देती है। यह वैसे ही होता है जैसे Projector सिनेमा के पर्दे को छिपा लेता है और नायक-नायिका आदि पात्रों को, जो वहां नहीं है, दिखा देता है। हमारे मन में आवरण और विक्षेप ये दोनों शक्तियां रहती हैं।
3. वेदान्त शास्त्रीय भाषा में विवर्त्त शब्द का प्रयोग करता है। विवर्त्त का अर्थ है, न बदलने पर भी परिवर्तन जैसा दिखाई देना। रस्सी में वस्तुत: कोई परिवर्तन होता नहीं किन्तु वहां सर्प दिखाई पड़ने लगता है अत: सर्प रस्सी का विवर्त्त हुआ, परिणमन नहीं। इस प्रकार वेदान्त कारण से कार्य की उत्पत्ति को विवर्त्त मानता है, परिणमन नहीं। इसी आधार पर वह अद्वैत की सिद्धि करता है। रस्सी तो एक ही है, उसमें जो सर्प की प्रतीति है वह भ्रांतिजन्य है, वास्तविक नहीं। ब्रह्म एक ही है, उसमें जो नानारूप जगत् दिखाई पड़ता है वह वास्तविक नहीं है। अत: ब्रह्म की अद्वैत स्थिति ही वास्तविक है।

5.9 बौद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद

जिस प्रकार वेदान्त का विवर्त्तवाद सत्कार्यवाद का ही प्रत्ययवादी रूप है, उसी प्रकार बौद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद असत्कार्यवाद का प्रत्ययवादी रूप है। बौद्ध भी न्याय के समान यह मानता है कि कार्य नया उत्पन्न होता है। किन्तु वह यह मानने के लिए तैयार नहीं कि अवयवों को जोड़कर अवयवी बनता है। बौद्ध की दृष्टि में तो केवल अवयव ही सत्य है। अवयवी हमारी दृष्टि का भ्रम है। ऊपर हमने दीपशिखा का

उदाहरण दिया है। हमें जो दीपशिखा एक दिखाई देती है वह वस्तुतः एक नहीं हैं, अनेक है। दृष्टि भ्रम के कारण हमें एक दिखाई देती है।

बौद्ध का अवयव नैयायिक के परमाणुओं के समान नित्य नहीं है। वह अवयव उत्पन्न होता है और उसी क्षण समाप्त भी हो जाता है। उसका अस्तित्व केवल एक क्षण के लिए ही है। यह प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाला अवयव अपने समान ही दूसरे क्षण भंगुर अवयवों को जन्म दे देता है और इसी समानता के कारण हम सर्वथा दो भिन्न अवयवों को एक अवयवी मान लेते हैं। बौद्ध का क्षण न्याय के परमाणु की तरह नित्य भी नहीं है और सांख्य की प्रकृति की तरह परिणामी भी नहीं है। उसका अस्तित्व केवल एक क्षण के लिये है। प्रथम क्षण के अनन्तर जिस द्वितीय क्षण की उत्पत्ति होती है वह द्वितीय क्षण प्रथम क्षण से सर्वथा भिन्न होता है। उसमें हम प्रथम क्षण को कारण और द्वितीय क्षण को कार्य कह देते हैं। ये दोनों क्षण परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। दूसरा क्षण जो कार्य है नया होता है। इसलिए हम उसे असत्कार्यवाद कहते हैं, किन्तु नया होने पर भी यह कार्य प्रथम क्षण को अपना कारण बनाता है। इसलिए इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है।

सांख्य के धर्म और धर्मी एक ही हैं, न्याय गुण और गुणी को भिन्न मानता है, बौद्ध के यहां धर्मी या गुणी जैसी कोई चीज है ही नहीं, वह केवल गुण अथवा धर्म को ही मानता है। धर्मों की एक दूसरे के बाद आने वाली श्रृंखला संतति कहलाती है। इस संतति के कारण हमें क्षणभंगुर पदार्थ भी नित्य जैसे प्रतीत होने लगते हैं।

बौद्ध का यह क्षणभंगुरवाद इतना व्यापक है कि यह आत्मा को भी नित्य नहीं मानता। पूर्व का क्षण नष्ट होते-होते स्वभावतः ही दूसरे क्षण को उत्पन्न कर देता है। सांख्य की दृष्टि में चेतन (पुरुष) अपरिणामी नित्य है, प्रकृति परिणामी नित्य है। न्याय की दृष्टि में गुणी नित्य है, गुण परिणमनशील है, जबकि बौद्ध दृष्टि में परिवर्तन ही एकमात्र सत्य है। स्थायी या नित्य जैसा कुछ है ही नहीं।

ऐतिहासिक विकास का क्रम

पण्डित सुखलालजी संघवी ने कारण-कार्यवाद पर विचार करते समय ऐतिहासिक क्रम में विचारों का इतिहास इस प्रकार माना है—

1. पहली स्थिति में हमारी दृष्टि जड़ पदार्थों की परिणामी नित्यता पर जाती है।
2. दूसरी स्थिति में हमारी दृष्टि जड़ और चेतन दोनों की परिणामी नित्यता पर जाती है।
3. तीसरी स्थिति में हमारी दृष्टि जड़ की परिणामी नित्यता व चेतन की कूटस्थ नित्यता पर जाती है।
4. चौथी स्थिति में हमारी दृष्टि केवल परिणमन पर जाती है, नित्यता पर नहीं।
5. पांचवीं स्थिति में हमारी दृष्टि चेतन की कूटस्थता पर जाती है, परिणमनशीलता भ्रम प्रतीत होती है।

इस बात का विस्तृत विवेचन पण्डित सुखलालजी की प्रमाण मीमांसा की भूमिका में देखा जा सकता है।

उपर्युक्त चार मतों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के बाद जैन दर्शन के सदसत्कार्यवाद का परिचय प्राप्त कर लेना भी उचित होगा।

5.10 जैन का सदसत्कार्यवाद

जैन मूलतः अनेकान्तवादी हैं। दर्शन की किसी भी समस्या का समाधान वह अनेकान्तवाद के आधार पर देता है। अनेकान्त का आधार यह है कि किसी भी परिस्थिति का विश्लेषण जो एक सामान्य व्यक्ति करता है वह गलत नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति से हम यह पूछें कि मिट्टी से घड़ा बनने पर कोई नई चीज बनी या नहीं तो वह यह उत्तर देता कि कुम्हार ने मिट्टी को ढ़ालकर घड़ा बनाया है लेकिन मिट्टी का रूप घड़ा बनने के समय बदल गया है। जैन इसे ही इस रूप में कहेगा कि द्रव्य की दृष्टि से मिट्टी

और घड़ा एक ही है किन्तु पर्याय की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं। कारण-कार्य की भाषा में कहें तो मिट्टी कारण है घड़ा कार्य है और द्रव्य की दृष्टि से दोनों एक हैं। इसलिए हम कहेंगे कि घड़ा द्रव्य की दृष्टि से कोई नई चीज नहीं है किन्तु पर्याय की दृष्टि से वह अवश्य नया है। इस विश्लेषण का परिणाम यह हुआ है कि जैन दार्शनिकों ने यह माना कि कार्य-कारण में द्रव्य रूप में रहता है किन्तु पर्याय रूप में वह कारण में नहीं रहता, अपितु वह नया उत्पन्न होता है। कारण-कार्यवाद के इस सिद्धान्त को सदसत्कार्यवाद या परिणामीनित्यत्ववाद कहा जाता है।

5.11 जैन दृष्टि का समन्वयात्मक रूप

कार्य-कारण सम्बन्ध में जैनेतर मुख्य मतों का विवरण हम पढ़ चुके हैं। जैन दर्शन अनेकान्तवादी होने के कारण उन सभी मतों को किसी अपेक्षा से सत्य मानता है जबकि अन्य दर्शन किसी एक मत को ही सत्य मानते हैं। सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद के विवाद के बीच जैन यह कहकर समन्वय स्थापित करता है कि पर्याय की अपेक्षा कार्य-कारण में पहले से नहीं रहता किन्तु द्रव्य, गुण की अपेक्षा कार्य कारण में पहले से ही रहता है। जैसा कि आचार्य सिद्धसेन ने सन्मतितर्क में कारण और कार्य में भेदाभेद सिद्ध करते हुए लिखा—

"नत्थि पुढवीविसिट्ठो घडोत्ति, जं तेण जुज्जइ अणण्णो।
जं पुण घडोत्ति पुव्वं, ण आसि पुढवी तओ अण्णो।।"

अर्थात् मिट्टी द्रव्य है और घड़ा उसका एक पर्याय है। घड़ा मिट्टी से होता है उसके बिना नहीं होता। इस अपेक्षा से घड़ा मिट्टी से अभिन्न है, मिट्टी में पहले से ही रहता है किन्तु घटाकार परिणति से पूर्व मिट्टी में घट की क्रिया (जलधारण) नहीं हो सकती इस अपेक्षा से घट मिट्टी से भिन्न भी है; घट मिट्टी में पहले से नहीं रहता।

जैन दर्शन अभेद दृष्टि के द्वारा सत्कार्यवाद और भेद दृष्टि के आधार पर असत्कार्यवाद इन दो वस्तुवादी दृष्टियों का समन्वय करता है। द्रव्य की अपेक्षा वह सांख्य के सत्कार्यवाद को मानता है और पर्याय की अपेक्षा वह नैयायिक के असत्कार्यवाद को स्वीकार करता है। जैन इस दृष्टि से भी न्याय-वैशेषिक और सांख्य के बीच समन्वय स्थापित करता है कि वह न्याय-वैशेषिक के समान क्रिया को प्रायोगिक अर्थात् प्रयत्नजन्य भी मानता है और सांख्य के समान वैस्रसिक अर्थात् स्वाभाविक भी स्वीकार करता है जैसा कि हम पाठ के प्रारम्भ में बता चुके हैं।

जहां तक वेदान्त और बौद्ध दृष्टि का सम्बन्ध है जैन इन दोनों की दृष्टि को एकान्त मानता है और यह मानता है कि पदार्थ ध्रुव भी है और परिणमनशील भी है। इसलिए जैन न तो वेदान्त की एकान्त नित्यता को स्वीकार कर सकता है और न बौद्ध की एकान्त परिणमनशीलता को स्वीकार कर सकता है। इसलिए उसका वेदान्त और बौद्ध से यह मौलिक भेद बना रहता है कि जहां वेदान्त और बौद्ध प्रत्ययवादी दर्शन हैं वहां जैन वस्तुवादी दर्शन है। इसलिए पण्डित सुखलालजी का कहना है— " प्रकृति से अनेकान्तवादी होते हुए भी जैन दृष्टि का स्वरूप एकान्ततः वास्तववादी ही है।" तथापि जैन दृष्टि का नय सिद्धान्त इतना व्यापक है कि प्रत्ययवाद भी इसकी पकड़ में बाहर नहीं रहता। संग्रह नय की दृष्टि से परमार्थ का विश्लेषण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं— एक ऐसी भी स्थिति है जहां प्रमाण, नय, निक्षेप आदि कुछ भी काम नहीं करते और वहां द्वैत भी प्रतीति में नहीं आता।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमणम्
क्वचिदपि च न विघ्नो याति निक्षेपचक्रम्
किमधिकमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्कषेडास्मिन्
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।

इसी आधार पर आचार्य महाप्रज्ञ का कथन है— "जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। इसलिए वह केवल द्वैतवादी नहीं है। वह अद्वैतवादी भी है। उसकी दृष्टि में केवल द्वैत और केवल अद्वैतवाद की संगति नहीं है अपितु इन दोनों की सापेक्ष संगति है। कोई भी जीव चैतन्य की मर्यादा से मुक्त नहीं है, अतः चैतन्य की दृष्टि से जीव एक है। अचैतन्य की दृष्टि से अजीव भी एक है। जीव या अजीव कोई भी द्रव्य अस्तित्व की मर्यादा से मुक्त नहीं है, अतः अस्तित्व की दृष्टि से एक हैं। इस संग्रह नय से अद्वैत सत्य है। चैतन्य में अचैतन्य और अचैतन्य में चैतन्य का अत्यन्ताभाव है। इस दृष्टि से द्वैत सत्य है।"

5.12 जैन तथा जैनेतर दर्शनों की तुलना

अब तुलना की दृष्टि से जैन दृष्टि का अन्य दृष्टियों से साम्य-वैषम्य देखना उचित होगा—

1. सांख्य के प्रकृतिवाद और न्याय के परमाणुवाद के परिप्रेक्ष्य में जैन परमाणुवादी है। सांख्य की प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म है, न्याय का परमाणु स्थूल है। जैन का परमाणु न सांख्य की प्रकृति के समान सूक्ष्म है और न न्याय के परमाणु के समान स्थूल है। न्याय जहां पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु अलग-अलग मानता है वहां जैन चारों के परमाणु एक ही मानता है। इस प्रकार जैन का परमाणुवाद सांख्य के प्रकृतिवाद और न्याय के परमाणुवाद के मध्य में स्थित है।
2. सांख्य की प्रकृति स्वतः गतिशील है और न्याय का परमाणु स्वतः स्थितिशील है, वह प्रयत्न से गति करता है। जैन यहां भी मध्यममार्गी है क्योंकि वह स्वाभाविक गति भी मानता है और प्रयत्नजन्य गति भी मानता है।
3. सांख्य और न्याय के समान जैन भी परिणमन को मानता है, किन्तु जहां सांख्य की प्रकृति परिणमनशील है, पुरुष (चैतन्य) कूटस्थ है वहां जैन जड़ और चेतन दोनों को परिणमनशील मानता है। सांख्य परिणमन का विवेचन करते समय धर्म-धर्मी के बीच भेद नहीं मानता जबकि न्याय यह मानता है कि गुण और गुणी भिन्न है। गुणी नित्य है, गुण परिणमनशील है। परन्तु जैन गुण और गुणी के बीच भेदाभेद मानता है इसलिए उनके अनुसार गुण और गुणी दोनों के बीच परिवर्तन हो रहा है।
4. वेदान्त और बौद्ध प्रत्ययवादी दर्शन हैं इसलिए जैन का इनसे अपेक्षाकृत मौलिक भेद है। वेदान्त कूटस्थनित्यवादी है और बौद्ध एकान्त अनित्यता में विश्वास करता है। जैन नित्यानित्यवादी है। इस दृष्टि से इसे वेदान्त और बौद्ध के बीच मध्यवर्ती कहा जा सकता है।

तुलनात्मक दृष्टि से जैनमत का उपर्युक्त विवेचन यह सिद्ध करता है कि जैनेतर मतों में जो परस्पर मतभेद था और वे एक दूसरे के मतों में कमियां देख रहे थे जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त का सहारा लेकर इन सभी कमियों का निराकरण करते हुए कारण-कार्य सम्बन्ध के बारे में एक मध्यवर्ती मार्ग निकाला।

5.13 कारण-कार्य-सम्बन्ध का महत्त्व

ऊपर हमने जैन तथा जैनेतर भारतीय दर्शनों में कारण-कार्य के बीच में विभिन्न विचारों का संक्षिप्त परिचय दिया है। कारण-कार्य का विषय दर्शनशास्त्र का केन्द्र बिन्दु है। प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से देखें तो प्रमाणों में अनुमान प्रमाण मुख्य है और अनुमान का भी हृदय कारण-कार्य सम्बन्ध है। प्रमेय शास्त्र की दृष्टि से हम विभिन्न पदार्थों के गुणधर्म की चर्चा इस रूप में ही करते हैं कि कौन-सा पदार्थ किस कार्य को सम्पन्न करने में उपयोगी हो सकता है और कौन-सा पदार्थ बाधक हो सकता है। इस दृष्टि से हमारा दैनिक व्यवहार भी जान-अनजाने मुख्यतः कारण-कार्य-सम्बन्ध पर ही अवलम्बित रहता है। कारण-कार्य के सम्बन्ध में ऊपर में हमने जो मत बताये हैं उनमें अनेक बिन्दु उभर कर आये हैं उदाहरणतया—

1. कार्य से कारण उत्पन्न होते समय क्या स्वयं कारण बदलता है या स्वयं बदले बिना ही कार्य को उत्पन्न कर देता है?
2. कारण स्वयं ही कार्य को उत्पन्न कर देता है या उसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है?
3. कारण अपने में रहने वाले कार्य को ही उत्पन्न करता है या अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करता है?
4. कारण से वस्तुतः कोई कार्य उत्पन्न होता है या केवल ऐसा आभास होता है कि कार्य उत्पन्न हो गया है परन्तु वस्तुतः कुछ भी नया उत्पन्न होता नहीं?
5. कारण और कार्य में कौन स्थायी है और कौन अस्थायी है?

इन सभी बिन्दुओं पर विचार करने का प्रयोजन यह है कि दर्शन जगत् के मूल कारण की खोज करना चाहता है। दृश्य जगत् में अनेक पदार्थों की क्रिया-प्रतिक्रिया से अनेक कार्य निष्पन्न हो रहें हैं। किन्तु दार्शनिकों के सामने प्रश्न यह है कि वे मूल तत्व कौन- से हैं जो सब कारणों का भी कारण है। प्रत्येक दर्शन ऐसे मूल कारण को मौलिक तत्त्व मानता है। उदाहरणतया सांख्य के अनुसार मूल कारण प्रकृति है। न्याय के अनुसार परमाणु है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म है। बौद्ध के अनुसार नामक्षण तथा रूपक्षण है और जैन के अनुसार जीव तथा पुद्‌गल जगत् के मूल कारण हैं। इन मूल कारणों का कोई कारण नहीं है। इस दृष्टि से कारणवाद की भी एक सीमा है।

5.14 कार्य-कारणवाद की सीमा

हर कार्य का कोई न कोई कारण होता है। किन्तु कारण-कार्य की लम्बी श्रृखंला में एक ऐसी स्थिति आती है जहां कारण कार्य की खोज समाप्त हो जाती है। यदि कारण-कार्य की सीमा न हो तो इस श्रृखंला का कहीं अंत ही नहीं होगा। उदाहरणतया—

एक कपड़ा है। प्रश्न हुआ— 'कपड़ा किससे बनता है?'

उत्तर मिला— 'रूई से बनता है।।'

रूई कहां से आई?

कपास के पौधे से।

कपास का पौधा किससे बना है?

वनस्पति के जीव और पुद्‌गल-दोनों के योग से कपास का पौधा बन गया।

कपड़े का कारण है रूई, रूई का कारण है कपास और कपास का कारण है जीव तथा पुद्‌गल का योग।

प्रश्न और आगे बढ़ा—जीव किससे बना है, परमाणु किससे बना है। प्रश्न रूक जाता है। इसका कोई उत्तर नहीं हो सकता। जीव के बारे में कोई कारण नहीं बताया जा सकता, परमाणु के बारे में कोई कारण नहीं बताया जा सकता, कारण की खोज यहां समाप्त हो जाती है।

जीव कार्य नहीं है और उसका कोई कारण नहीं है। परमाणु कार्य नहीं है और उसका भी कोई कारण नहीं है। तर्कशास्त्र का सिद्धान्त है हर वस्तु में कारण-कार्य खोजो। यह एक स्थूल तथ्य है। व्यवहार के क्षेत्र में यह नियम लागू हो सकता है किन्तु सूक्ष्म जगत् में कार्य-कारण के सिद्धान्त का कोई अर्थ नहीं है। सूक्ष्म जगत् में न कोई किसी का कारण होता है और न कोई किसी का कार्य। जीव और परमाणु का अपना अस्तित्व होता है उसका कोई कारण नहीं होता। यदि परमाणु का कोई कारण माना जाये तो कारण की श्रृंखला अनन्त बन जायेगी, वह कभी थमेगी ही नहीं। तर्कशास्त्र में इसे अनवस्था दोष कहा जाता है। इसी प्रकार जीव का कारण मानने पर भी कार्य-कारण की श्रृंखला का कहीं अंत नहीं होगा। अतः कारण-कार्यवाद की अपनी सीमा है।

कार्य-कारण परम्परा की एक अन्य सीमा भी है प्रत्येक पदार्थ का एक स्वभाव होता है और वह स्वभाव ही उस पदार्थ के अस्तित्व को बनाता है। पदार्थ का अमुक स्वभाव क्यों है? इसका कोई कारण नहीं है, अग्नि के ऊष्ण होने का अथवा जल के शीतल होने का कोई कारण नहीं है इसलिए कहा जाता है कि स्वभावोऽतर्कगोचरः। इसी दृष्टि से जैन आचार्य सिद्धसेन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जहां तर्क की गति नहीं हैं वहां तर्क का प्रयोग करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए; तर्क का प्रयोग वहीं तक करना चाहिए जहां तक तर्क की गति है। प्रायः अन्य सभी भारतीय दाशनिकों ने तर्क की सीमा को स्वीकार करते हुए इसी प्रकार भी घोषणा की है। उदाहरणतः उपनिषद् कहता है— बह्म अथवा आत्मा तर्क का विषय नहीं बनता है।

'नैषा मतिस्तर्केणापनेया'

सांख्य दर्शन कहता है कि पुरूष न कारण है न कार्य।

'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'

अतः कारण-कार्य का नियम स्थूल जगत् में घटित होता है, सूक्ष्म जगत् में अथवा जहां स्वाभाविक परिवर्तन होता है वहां कार्य-कारण का नियम लागू नहीं होता।

5.15 दर्शनेतर क्षेत्रों में कारण-कार्य सम्बन्ध का उपयोग

1. विज्ञान—दार्शनिकों के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध चर्चा को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य शास्त्रों में कारण-कार्य का ज्ञान उपयोग में नहीं आता है। विज्ञान परीक्षण के आधार पर कारण-कार्य के रूप में ही यह निर्णय लेता है कि अमुक स्थिति अमुक स्थिति को जन्म देती है। इतना अन्तर अवश्य है कि विज्ञान अपनी इस खोज को वहीं तक सीमित रखता है जहां तक इन्द्रिय और मन की पहुँच है, जबकि दर्शन इन्द्रिय और मन से परे भी अस्तित्व को स्वीकार करता है। विशेषकर, चार्वाक को छोड़कर, सभी भारतीय दर्शन अतीन्द्रिय पदार्थो के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसलिए उनकी पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है।

2. नैतिकता—अतीन्द्रिय ज्ञान के आधार पर ही भारतीय परम्परा में आगम को प्रमाण मानकर पाप-पुण्य का निरूपण हुआ और पाप के आधार पर नरक तथा पुण्य के आधार पर स्वर्ग की अवधारणायें स्थापित हुई हैं। यहां भी पाप और नरक गति में तथा पुण्य और स्वर्ग गति में कारण-कार्य सम्बन्ध है, भले ही इसका आधार इन्द्रिय प्रत्यक्ष न होकर अतीन्द्रिय ज्ञान पर टिका हुआ आगम है।

3. मोक्ष—कारण-कार्य सम्बन्ध का एक तीसरा पहलू भी है। हमने ऊपर बताया है कि स्वभाव कारण-कार्य की श्रृखंला से परे की चीज है। सभी भारतीय दर्शन जीवन का चरम लक्ष्य यह मानते हैं कि मनुष्य अपने स्वभाव में स्थित हो जाये। यह स्थिति मोक्ष की है। इस स्थिति के प्राप्त होने पर कारण-कार्य श्रृखंला में जुड़ा हुआ जन्म-मरण का चक्र भी समाप्त हो जाता है। पुरुषार्थ की दृष्टि से देखें तो लौकिक शास्त्रों का अथवा विज्ञान का कारण-कार्य का विचार अन्ततः अर्थ और काम पुरुषार्थ की सिद्धि का साधन बनता है। पाप-पुण्य सम्बन्धी विचार परलोक में तथा इहलोक में भी सुख का आधार बनते हैं। कारण-कार्य की परम्परा से परे स्वभाव में स्थिति मोक्ष का उपाय है। इस प्रकार इहलोक का सुख हो अथवा परलोक का सुख हो अथवा मोक्ष, सभी प्रकार की कार्य सिद्धि के लिए कारण-कार्य सम्बन्ध को समझना आवश्यक है।

4. आधुनिक चिन्तन—वर्तमान युग ने पश्चिम में दार्शनिकों के बीच और वैज्ञानिकों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध पर विस्तृत विचार हुआ है किन्तु उसका निरूपण वर्तमान पाठ का विषय नहीं होने से यहाँ नहीं किया जा रहा है। बर्टेण्ड रसल जैसे अनेक दार्शनिकों ने इस बात पर ही प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है कि वस्तुतः किन्हीं दो पदार्थों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध होता भी है या नहीं? जब दो पदार्थ आपस में सम्बद्ध होते हैं तो दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। बीज से उत्पन्न होते समय वृक्ष स्वयं ही उत्पन्न नहीं होता अपितु बीज को भी बदल डालता है। इसलिए यदि एक अपेक्षा से बीज वृक्ष का कारण

है तो वृक्ष भी बीज में होने वाले परिवर्तन का कारण बनता है। इस प्रकार दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। अतः विज्ञान दो के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध मानता है, कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं। फिर भी हमारे दैनिक व्यवहार में हम किन्हीं निश्चित स्थितियों को किन्हीं निश्चित स्थितियों की जन्मदात्री बनते हुए देखते हैं और सामान्यतः उनके बीच कार्य-कारण सम्बन्ध स्वीकार करते हैं।

5.16 सारांश-इस प्रकार कारण-कार्य सम्बन्ध की खोज ने दर्शन और विज्ञान दोनों क्षेत्रों में मनुष्य जाति की प्रगति में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

5.17 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. कारण तथा कार्य में क्या सम्बन्ध है, जैन तथा जैनेतर दृष्टि में स्पष्ट करें?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. दर्शन में कारण कार्य सम्बन्ध का क्या महत्त्व है?
2. दर्शन के अतिरिक्त क्षेत्रों के कारण-कार्य का उपयोग किस प्रकार होता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. प्रयत्नजन्य परिवर्तन को कहते हैं—
   अ. वैस्रसिक   ब. प्रायोगिक   स. विभागकृत   द. अर्थान्तरभावगमन
2. कारण वह होता है जो—
   अ. अन्यथासिद्ध शून्य नियतपूर्ववर्तित्व   ब. अन्वय सम्बन्ध
   स. व्यतिरेक सम्बन्ध   द. पूर्ववर्तित्व
3. वेदान्त का मत है—
   अ. सत्कार्यवाद   ब. असत्कार्यवाद   स. विवर्त्तवाद   द. प्रतीत्यसमुत्पाद
4. सांख्य सृष्टि का मूल कारण मानता है—
   अ. प्रकृति   ब. ब्रह्म   स. परमाणु   द. नामक्षण
5. जैनदर्शन के अनुसार परिवर्तन होता है—
   अ. गुण में   ब. गुणी में   स. दोनों में   द. दोनों में नहीं
6. नैयायिक के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के परमाणु .... हैं।
7. जैन दर्शन के अनुसार परमाणु .... है।
8. जैनदर्शन .... दर्शन है।
9. मिट्टी में घट ..... रहता है।
10. धर्मास्तिकाय में परिणमन हैं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. (ब.) प्रायोगिक   2. (अ.) अन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्तित्व   3.(स.) विवर्त्तवाद   4.(अ.)प्रकृति
5. (स.) दोनों में   6. पृथक्-पृथक् हैं।   7. गतिशील है।   8. वस्तुवादी
9. द्रव्य की अपेक्षा से रहता है।   10.स्वतः होता है।

संवर्ग–2 : अहिंसा एवं अपरिग्रह

इकाई–6 : अहिंसा का स्वरूप–जैन, बौद्ध, मीमांसक एवं वेदांत

संरचना

6.0 प्रस्तावना

अहिंसा के सम्बन्ध में अन्य जिज्ञासाओं पर विचार करने से पहले 'अहिंसा क्या है यह जानना आवश्यक है। अहिंसा मनुष्य जाति के उर्ध्वागामी चिंतन का सर्वोत्कृष्ट बिन्दुपथ है। अहिंसा लोक के साथ परलोक कल्याण दोनों का मार्ग प्रशस्त करता है। अहिंसा की यात्रा व्यष्टि से शुरू होकर समष्टि की ओर जाती है अर्थात् व्यक्ति से परिवार परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्व बन्धुत्व के भाव को जगाती है। अहिंसा का सामंजस्य अर्थ है अ+हिंसा, यानि हिंसा का न करना। किसी प्राणी का मनसा, वाचा कर्मणा घात न करना। गांधी जी का कहना था कि कुविचार मात्र हिंसा है। अहिंसा के दो प्रकार होते हैं–1. निषेधात्मक, 2. विधेयात्मक।

निषेध का अर्थ किसी चीज को रोकना या न होने देना।

विधेयातमक का अर्थ है–दया, सहायता, सेवा, क्षमा करना आदि। हेय को त्यागना निषेधात्मक अहिंसा है, उपादेय का वरण करना विधेयात्मक अहिंसा है।

6.1 उद्देश्य– यहां विभिन्न दर्शनों में अहिंसक स्वरूप को समझ सकेंगे।

6.2 जैनदर्शन में अहिंसा का स्वरूप

विश्व के सभी धर्म एवं दर्शनों में अहिंसा को आध्यात्मिक विकास के लिए अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। अहिंसा भारतीय संस्कृति के लिए प्राण–तत्त्व है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का घोष अहिंसक विचारधारा का ही परिणाम है। वैदिक, बौद्ध एवं जैन–सभी दर्शनों में अहिंसा पर विचार हुआ है फिर भी जैन धर्म में अहिंसा को जितनी सूक्ष्मता से व्याख्यायित किया गया है उतना अन्य दर्शनों में नहीं। अहिंसा को 'सर्वभूतक्षेमंकरी' और मातृस्थानीय माना गया है क्योंकि अहिंसक आचार–विचार में ही मानव का विकास निहित है। अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है और सब शास्त्रों का गर्भ है। प्रश्नव्याकरण में अहिंसा को अनेक विशेषणों से मंडित किया गया है जो उसकी मान्यता को ही अभिव्यक्त कर रहे हैं। वहां कहा गया है–जैसे भयभीतों के लिए शरण, पक्षियों के लिए गगन, तृषितों के लिए जल, भूखों के लिए भोजन, समुद्र के मध्य जहाज, रोगियों के लिए औषध और वन में सार्थवाह का साथ आधारभूत है, वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। इसीलिए भगवान् महावीर ने आचार के अठारह स्थानों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है–

तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।।

अहिंसा के आधार पर ही श्रमणाचार एवं श्रावकाचार का समग्र स्वरूप निर्धारित है। जीवन के हर क्रिया-कलाप में चाहे वे प्रवृत्ति परक हों अथवा निवृत्ति परक-अहिंसा का भाव पृष्ठभूमि में अवश्य निहित है। पांच महाव्रतों में अहिंसा को प्रथम महाव्रत के रूप में स्वीकृति मिलना उसकी व्यापकता एवं महत्ता का स्वयंभू प्रमाण है। अहिंसा महाव्रत में शेष चारों महाव्रतों का समावेश हो जाता है।

अहिंसा को समझने के लिए हिंसा को समझना आवश्यक है। हिंसा के स्वरूप को जान लेने के बाद अहिंसा का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा है-'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'।

प्रमाद के वश प्राणों का घात होना हिंसा है। जैन दर्शन में प्राण दश माने गये हैं-

1. स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण 2. रसनेन्द्रिय बल प्राण 3. घ्राणेन्द्रिय बल प्राण 4. चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण
5. श्रोतेन्द्रिय बल प्राण 6. कायबल प्राण 7. वचन बल प्राण 8. मनोबल प्राण
9. श्वासोच्छ्वास बल प्राण 10. आयुष्य बल प्राण

श्रोतेन्द्रिय का बाहरी रूप द्रव्य-प्राण है और सुनने की शक्ति भाव-प्राण है। इसी प्रकार सभी शेष प्राणों के विषय में समझ लेना चाहिए। जीव के उपर्युक्त किसी भी प्राण का घात करना हिंसा है। प्राण के द्रव्य अथवा भाव दोनों रूप का घात हिंसा के क्षेत्र में है। प्रमत्त शब्द से यह स्पष्ट है कि हिंसा का विचार पहले मन में उद्भूत होता है जो हिंसा के उद्देश्य को जन्म देता है। फिर वह पीड़ाकारक वचन और उससे आगे काया का प्रयोग होता है। अमृतचन्द्राचार्य ने इसी तथ्य की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है-

'यत्खलुकषाययोगात् प्राणानां द्रव्य भावरूपाणां व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।'

कषाय के योग से अर्थात् प्रादुर्भाव से द्रव्य और भाव रूप प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है। इसे नाथूराम प्रेमी निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट करते हैं-

जिस पुरुष के मन में, वचन में व काय में क्रोधाधिक कषाय प्रकट होते हैं उसके शुद्धोपयोग रूप भाव-प्राणी का घात तो पहले होता है क्योंकि कषाय के प्रादुर्भाव से भाव-प्राण का व्यपरोपण होता है यह प्रथम हिंसा है। तत्पश्चात् यदि कषाय की तीव्रता से दीर्घ श्वासोच्छ्वास से, हस्त पादादिक से अपने अंग को कष्ट पहुंचाता है अथवा आत्मघात कर लेता है तो उसके द्रव्य प्राण का व्यपरोपण होता है, यह दूसरी हिंसा है। फिर उसके कहे हुए मर्मभेदी कुवचनादिकों से, हास्यादि से लक्ष्य पुरुष के अंतरंग में पीड़ा होती है यह पर प्राणी के भाव रूप व्यपरोपण रूप तृतीय प्रकार की हिंसा है और अंत में लक्ष्य पुरुष को शारीरिक अंग-छेदन आदि पीड़ा पहुंचायी जाती है यह पर द्रव्य प्राण व्यपरोपण चौथी हिंसा है।

तात्पर्य यह है कि अपने और पर के द्रव्य एवं भाव प्राण का घात हिंसा है। उपर्युक्त विश्लेषण से हिंसा के दो रूप हमारी समझ में आते हैं-1. द्रव्य हिंसा 2. भाव हिंसा। द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा को अधिक स्पष्टता से हम इस रूप में परिभाषित कर सकते हैं कि मन में कषाय का पैदा होना भाव हिंसा और भाव को वचन और क्रिया का रूप देना द्रव्य हिंसा कहलाती है। इस आधार पर हिंसा के दशवैकालिक चूर्णि में हमें चार विकल्प मिलते हैं-

1. भाव रूप हिंसा और द्रव्य रूप हिंसा। 2. भाव रूप हिंसा पर द्रव्य रूप हिंसा नहीं।
3. भाव रूप हिंसा नहीं पर द्रव्य रूप हिंसा। 4. न भाव रूप हिंसा, न द्रव्य रूप हिंसा।

आगमों में प्रयुक्त तिविहेण शब्द इसी मन-वचन-काय रूप हिंसा को ही व्यक्त करता है। केवल मन-वचन-काय रूप हिंसा ही नहीं उसके साथ कृत, कारित और अनुमोदन के तीन विकल्प और साथ में जुड़े हुए हैं। इस प्रकार त्रिकरण और तीन योग से हिंसा के नौ विकल्प बनते हैं नौ कोटि युक्त अहिंसा का पालन महान् साधना का महापथ है। जो गृहत्यागी श्रमण के लिए ही शक्य हो सकता है।

हिंसा के चार रूप

कुछ जैन विचारकों ने हिंसा को दूसरी तरह से भी वर्गीकृत किया है। जिसके चार प्रकार हैं-

1. संकल्पी-सोच-विचार कर पहले से हिंसा करने का उद्देश्य बनाकर किसी के प्राण का हनन करना।
2. आरंभी-भोजनादि निष्पन्न करने में जो हिंसा होती है उसे आरंभी हिंसा कहते हैं।
3. उद्योगी हिंसा-खेती-बाड़ी आदि में जो प्राणातिपात होता है वह उद्योगी हिंसा कहलाती है।
4. विरोधी-आक्रान्ता या अत्याचारियों के आक्रमण का विरोध करने में जो हिंसा होती है वह विरोधी हिंसा कही जाती है।

हिंसा के भेद

हिंसा की उत्पत्ति में मूलभूत कारण है-कषाय। कषाय के उद्दीपन से ही हिंसक विचार पैदा होते हैं और जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है वे वचन और काय से प्रकट होते हैं। कषाय चार हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ। इनसे ही संरभ, समारंभ और आरंभ हिंसा होती है। इनका संक्षिप्त भाव इस प्रकार है-

1. संरभ - हिंसा के विचार का मन में पैदा होना संरभ है।
2. समारंभ - हिंसा करने के उपक्रम को समारंभ कहते हैं।
3. आरंभ - प्राणघात की क्रिया को आरंभ कहा जाता है।

इस प्रकार चार कषाय को संरभ, समारंभ और आरंभ से गुणित करने पर 4X3 बारह भेद हिंसा के होते हैं। चूंकि हिंसा में मन, वचन और काया तीनों का योग होता है। अत: (12X3) हिंसा के छत्तीस भेद हुए और उसे तीन करण से गुणित करने पर (36X3) एक सौ आठ भेद कुल मिलाकर हिंसा के बनते हैं।

हिंसा के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अहिंसा के स्वरूप का निर्धारण करना सरल हो गया है। जिसे योगशास्त्र के अनुसार इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं-

न यत् प्रमाद योगेन जीवितव्यपरोपणम्।
त्रसानां स्थावराणाञ्च तदहिंसाव्रतं मतम्।।

प्रमाद के वशीभूत होकर त्रस और स्थावर प्राणियों का हनन न करना अहिंसा है। आचार्य भिक्षु के अनुसार अहिंसा और दया-एक ही है। वे दया की परिभाषा इस प्रकार करते हैं-

जीव जीवे वे दया नहीं, मरे ते हिंसा मत जाण।
मारण वाला नै हिंसा कहीं, नहीं मारे ते दया गुणखान।।
छ काय हणावे नहीं हणीया भलो न जाणै ताय।
मन वचन काया करौ, आ दया कही जिन राय।।

जीव अपने आयुष्य से जीता है वह दया नहीं और जीव आयुष्यबल पूरा होने पर देह को छोड़ देता है वह हिंसा नहीं है। जो किसी जीव की घात करता है वह हिंसा है और नहीं करता है वह अहिंसा है, दया है। अथवा तीन करण तीन योग से हिंसा न करना दया है।

आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में लिखा है-

'प्राणानामनतिपात: अप्रमादो वा अहिंसा।'

गांधी जी के अहिंसा विषयक विचारों से यही ध्वनि निकलती है। उनके अनुसार अहिंसा के माने पूर्ण निर्दोषता है। पूर्ण अहिंसा का अर्थ है प्राणीमात्र के प्रति दुर्भाव का पूर्ण अभाव।

उपर्युक्त अहिंसा विषयक परिभाषाओं पर दृष्टिपात करने पर हमारे सामने दो पक्ष उभरकर आते हैं-

1. निषेधात्मक पक्ष 2. विधेयात्मक पक्ष।

प्राणों का अतिपात न करना अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष है और अप्रमाद शब्द अहिंसा के विधेयात्मक स्वरूप को उजागर कर रहा है। प्रश्नव्याकरण में अहिंसा के साठ नामों में एक नाम है दया जिसे भिक्षु स्वामी ने प्रयुक्त किया है, वह विधेय पक्ष का ही प्रतिनिधित्व कर रहा है। अप्रमाद का अर्थ है राग-द्वेष रहित समत्व भाव में अवस्थित होना। समता ही अहिंसा है (अहिंसा समय चेव-सूयगडो) जिसका फलित है मैत्री, करुणा, उदारता आदि मानवीय गुण। आचारांग भाष्य में आचार्य महाप्रज्ञजी ने समता के दो प्रकार बताये हैं-1. स्वनिश्रित समता 2. परनिश्रित समता।

राग-द्वेष के उपशमन के द्वारा अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में संतुलित अनुभूति करना स्वनिश्रित समता है। स्वनिश्रित समता की सिद्धि के लिए भगवान् ने कषाय उपशमन का उपदेश दिया। सब प्राणी सुख के इच्छुक और दु:ख के विरोधी हैं इसलिए कोई भी वध के योग नहीं है यह आत्म तुला परनिश्रित समता है। पर-निश्रित समता की सिद्धि के लिए प्राणातिपात आदि से विरमण का उपदेश दिया।

निश्चय नय के अनुसार तो रागादि का उत्पन्न न होना ही अहिंसा है। क्योंकि जहां एक के प्रति राग है वहां दूसरे के प्रति द्वेष अवश्यमेव होगा। यही अहिंसा के पालन में बड़ी बाधा है। सबसे प्राचीन आगम आचारांग में भगवान् महावीर ने बताया है-किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण वियोजन नहीं करना चाहिए। यही धर्म, शुद्ध, नित्य और शाश्वत है।

यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में अहिंसा शब्द प्रयुक्त नहीं है किन्तु **'एस धम्मे'** से एस- यह शब्द अहिंसा का सूचक है और शुद्ध का अर्थ आचार्य महाप्रज्ञ ने आचारांगभाष्य में राग-द्वेष रहित किया है।

समता का एक अर्थ है आत्म-तुला। **'समयं लोगस्स जाणिता एत्थ सत्थोवरए'** सब आत्माएं समान हैं- यह जानकर पुरुष समूचे लोक की हिंसा से उपरत हो जाये। यहां अहिंसा के संदर्भ में समता का अर्थ है-आत्म-तुला। अर्थात् सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझना। यही समता जैन अहिंसा का मूल आधार है जिसके सहारे अहिंसा विकसित और पल्लवित हुई है। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों के प्रति अहिंसा की बात जितनी सूक्ष्मता से जैन धर्म में प्रतिपादित है उतनी अन्यत्र नहीं।

अहिंसा के लिए सव्वभूयखेमंकरी विशेषण इसीलिए अपनी सार्थकता लिए हुए है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के सव्वभूयखेमंकरी स्वभाव पर प्रकाश डालने के लिए आठ उपमान दिये गये हैं। अहिंसा के लिए वहां कहा गया है कि वह अमृतरूपा, परब्रह्म स्वरूपा, सर्वव्यापिनी, क्षेमवती, क्षमामयी, मंगलरूपा एवं सर्वभूत कल्याणकारिणी है, अहिंसा शरणदात्री है। भिक्षु छः काय के जीवों के प्रति अहिंसक होता है इसलिए उसे उत्तराध्ययन (21/13) में दयानुरूपी कहा गया है। यहां दया का अर्थ अहिंसा रूप दया है।

6.2 अहिंसा का उद्देश्य

अहिंसा का उद्देश्य क्या है-आत्मशुद्धि या जीव रक्षा? इस प्रश्न पर विचारक एक मत नहीं है। कुछ विचारक जीव रक्षा को अहिंसा का ध्येय बताते हैं और कुछ आत्म-शुद्धि को। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा का उद्देश्य आत्म-शुद्धि को बताया है। उन्होंने जिन आज्ञा की चौपाई में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है-

दूरजा सुमत चालता साथ ने, कहा जीव तणी हुवै घात।
ते जीव मूंआ रो पाप साध ने, लागे नहीं अंसमात रे।।
जो ईर्या सुमतपिण साधु चाले कदा जीव मरे नहीं कोय।
तो फिर साधते हिंसा छः काय री लागी पाप तणो बंध होय।।

एक संयमी सावधानीपूर्वक चल रहा है, उसके पैर से कोई जीव मर गया तो भी वह हिंसा का भागी नहीं होता। उसके पाप कर्म का बंधन नहीं होता। एक असंयमी असावधानीपूर्वक चल रहा है, उसके द्वारा किसी भी जीव का घात नहीं हुआ फिर भी वह हिंसक है और उसके पाप कर्म का बंध होता।

हिंसा और अहिंसा का मूल आत्मा की सत् अथवा असत् प्रवृत्ति है। जीव घात या जीव रक्षा उसकी कसौटी नहीं है। यह व्यवहारिक दृष्टि है।

जर्मन विद्वान् अलबर्टस्वीजर भी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि भगवान् महावीर के अनुसार अहिंसा संयम की उपज है। संयम का आत्मिक पवित्रता से संबंध होने के कारण ही वह पवित्र है। अहिंसा का सिद्धान्त जहां करुणा या जीव रक्षा से जुड़ जाता है वहां अहिंसा लोकप्रिय बनती है पर पवित्र नहीं रह सकती। आत्म-शुद्धि का मतलब है असंयम से बचना। असंयम से बचने और अहिंसा को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जहां असंयम से बचाव है वहां अहिंसा है और जहां अहिंसा है वहां असंयम से बचाव है किन्तु जीव रक्षा का अहिंसा के साथ ऐसा संबंध नहीं है। अहिंसा में जीव-रक्षा हो सकती है पर उसकी अनिवार्यता नहीं है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जैन धर्म में अहिंसा के निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों पक्षों पर समान बल दिया गया है। प्राण वियोजन के निषेध से प्रारंभ होकर समता की उच्च भूमिका पर पहुंचकर ही विराम लेती है। जहां प्रत्येक प्राणी के अस्तित्व को सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। आत्म तत्त्व की दृष्टि से सब जीव समान हैं चाहे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति और वायु काय के एकेन्द्रिय जीव हो अथवा मनुष्य, पशु-पक्षी आदि पंचेन्द्रिय जीव हों। संभवत: विश्व के किसी भी दर्शन में अहिंसा को इतनी व्यापकता प्रदान नहीं की गई है जितनी जैन दर्शन में। **'एसा सा भगवती'** कहकर उसके प्रति पूज्यता का भाव व्यक्त किया गया है।

6.3 बौद्ध दर्शन में अहिंसा का स्वरूप

बौद्ध धर्म में अहिंसा संबंधी विचार हमें सुत्तपिटक और विनयपिटक में मिलते हैं जो बौद्ध-दर्शन के आधार-सतम्भ ग्रन्थ हैं। अहिंसा के स्वरूप के बारे में यहां काफी विचार हुआ है। बौद्ध परम्परा में मन, वचन और कर्म से अन्य प्राणियों को कष्ट न देने को अहिंसा कहा गया है। धम्मपद में कहा गया है कि अहिंसा के पथ पर चलने वाला व्यक्ति न स्वयं किसी को दु:ख देता है और न किसी अन्य व्यक्ति को इसके लिए प्रेरित करता है। विनयपिटक में तो यहां तक लिखा है कि अहिंसक व्यक्ति स्थूल जीवों की तो बात ही क्या वह एकेन्द्रिय पेड़-पौधों को भी कष्ट नहीं पहुंचाता है। वनस्पति का तोड़ना और भूमि का खोदना भिक्षु के लिए वर्जित माना गया है क्योंकि इसमें प्राणियों की हिंसा की संभावना है।

अहिंसा की अनुपालना के लिए प्राणी युक्त जल को पीने का निषेध किया गया है। अगर कोई भिक्षु प्राणी-युक्त जल को पीता है तो उसके लिए विनयपिटक में प्रायश्चित का विधान है। वनस्पति को ग्रहण करने संबंधी बौद्धों की धारणा निम्नांकित कथन से स्पष्ट हो जाती है-भिक्षुओ! ग्रहण करो, खाओ! भिक्षुओ! अनुमति देता हूं श्रमणों के योग्य पांच फल को खाने की आग से छिलका उतारे, हथियार से छिले, नख से छिले, बेगुठली के और पांचवें निव्वट्ठ बीज को। दीघ निकाय में भिक्षुओं को उपदेश करते हुए बुद्ध ने तीन प्रकार के शीलों (आरंभिक,मध्यम तथा महा) की चर्चा की है। इन शीलों में अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य, नशे का त्याग आदि को स्थान दिया। अहिंसा का संबंध सिर्फ मानव मात्र के ही प्राणघात से या कष्ट से नहीं बल्कि जीव, बीज आदि को भी विनष्ट होने से बचाने में है। अत: मूल बीज, स्कंध-बीज, फल-बीज एवं अग्र बीज आदि को नाश से बचाने वाले को ही श्रमण या भिक्षु कहा गया है। कठोर, वचन न बोलकर प्रेमपूर्ण सर्वजनप्रिय भाषण देना भी अहिंसा की श्रेणी में लिया गया है।

संयुत निकाय में मल्लिका सुत में राजा प्रसेनजित् के कहने पर कि 'अपने से प्यारा कोई नहीं है। बुद्ध कहते हैं-सभी दिशाओं में अपने मन को दौड़ा, अपने से प्यारा कहीं भी कोई नहीं मिला, वैसे ही दूसरों को भी अपना बड़ा प्यारा है। इसलिए अपनी भलाई चाहने वाला दूसरे को मत सतावे। आगे चलकर ब्राह्मण सुत्त के अहिंसक सुत्त में भारद्वाज ब्राह्मण के द्वारा अपने को अहिंसक घोषित करने पर अहिंसक शब्द को

परिभाषित करते हुए बुद्ध ब्राह्मण से कहते हैं-जैसा नाम है वैसा ही होवो, तुम सच में अहिंसक होवो, जो शरीर से, वचन से और मन से हिंसा नहीं करता वही सच में अहिंसक होता है, जो पराए को कभी नहीं सताता। इसी आधार पर बुद्ध ने हिंसा युक्त यज्ञ का विरोध किया है और हिंसा रहित यज्ञ को हितकर एवं उचित बताया है। जब उन्हें राजा प्रसेनजित् के यहां होने वाले हिंसा युक्त यज्ञ की खबर भिक्षुओं के द्वारा मिलती है तो वे कहते हैं कि यज्ञ में हिंसा करने के फल अच्छे नहीं होते। महर्षि लोग जो सुमार्ग पर चलने वाले हैं, वैसे यज्ञों के लिए निर्देश करते हैं जिनमें भेड़, बकरे और गायें आदि नहीं कटते।

सुत निपात में सभी प्राणियों के प्रति मित्रता के भाव प्रदर्शन को ब्रह्म विहार कहा गया है। वहां बताया है कि शांति पद को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले को चाहिए कि वह अत्यन्त ऋजु बने, उसके वचन प्रिय और विनीत हो.......सभी प्राणियों के सुख एवं कल्याण की कामना करें। हिंसा करने वालों के लिए बौद्ध धर्म में प्रायश्चित का विधान है-यदि कोई भिक्षु जमीन खोदे, खुदवाये, वृक्ष काटे, कटवाये, जान-बूझकर प्राणियों की घात करे, क्रोधित होकर दूसरे भिक्षुओं को पीटे तो इन सभी के लिए दण्ड का विधान है। एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा को रोकने की दृष्टि से बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा-

भिक्षुओं! ताड़ के पत्र की पादुका धारण नहीं करनी चाहिए जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष है। भिक्षुओं! बांस के पौधों की पादुका धारण नहीं करनी चाहिए जो धारण करे उसे दुक्क्ट का दोष है, क्योंकि पत्ते कट जाने पर पौधे सूख जाते हैं जिससे एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है।

अहिंसा के मूल में अप्रमाद का भाव बौद्ध धर्म में जुड़ा है। बुद्ध भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहते हैं-मनुष्य को अपनी सत्ता को रजकण तथा संसार की अन्य सत्ताओं को महापृथ्वी के समान समझकर' अपने में प्रमाद नहीं लाना चाहिए। भिक्षुओं को चाहिए कि वे अप्रमत्त होकर विहार करे। जितने भी कुशल धर्म हैं उन सभी का आधार-मूल अप्रमाद ही है। अप्रमाद से ही सभी जीवों के प्रति समानता का भाव पैदा होता है। इसकी प्रस्तुति बौद्ध धर्म में इस प्रकार हुई है-

जंगम या स्थावर, दीर्घ या महान् मध्यम या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ उत्पन्न या उत्पत्स्यमान जितने भी प्राणी हैं, सभी सुखपूर्वक रहें। सुत्त निपात में एक स्थान पर सभी प्राणियों की समानता की स्थापना कर उनकी घात न करने और न करवाने की उपदेश है-

यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहं,
अत्ताणं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये।।

जैसे मैं हूं वैसे ये हैं और जैसे ये हैं वैसे मैं हूं। इस प्रकार सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझकर भिक्षु किसी की घात न करें। जैन दर्शन में प्रतिपादित आत्मतुला के सिद्धान्त से प्रायः साम्य रखता है बौद्ध दर्शन का उपर्युक्त सिद्धान्त। यद्यपि बौद्ध दर्शन में पृथ्वी, पानी इत्यादि की हिंसा का विचार उस रूप में नहीं है जिस रूप में जैन दर्शन में है। भगवान् महावीर ने पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति को जीव माना है वैसा भगवान् बुद्ध ने नहीं। वे पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि को जीवों से युक्त मानते हैं। तथागत बुद्ध ने अहिंसक व्यक्ति को आर्य पद की संज्ञा दी है। जो प्राणी की हिंसा करता है वह आर्य पद पाने का अधिकारी नहीं हो सकता है।

न तेन आयरियो होंति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सव्वं पाणानं आरियेति पवुच्चति।।

अहिंसा की आराधना से ही अच्युत पद की प्राप्ति होती है जिसे प्राप्त कर प्राणी कभी दुःखी नहीं होता। बौद्ध परम्परा में अहिंसा के विकास के लिए मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा भावना को साधन के रूप में माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म में एकेन्द्रिय जीव पर्यन्त हिंसा-अहिंसा का विचार किया गया है। इतना होने पर भी परिस्थितिवाद के चक्र से प्रताड़ित होकर कहीं-कहीं हिंसा को भी मान्य कर लिया गया है। उदाहरण के तौर पर दवा स्वरूप चर्बी एवं खून का प्रयोग। भिक्षा स्वरूप मांस का भी ग्रहण करना अहिंसा की दृढ़ता में कमी ला देता है और अहिंसा की प्रयोग भूमि में शैथिल्य की सूचना देता है।

6.4 मीमांसा दर्शन में अहिंसा का स्वरूप

सांख्य और मीमांसा-इन दोनों दर्शनों में हिंसा-अहिंसा के संबंध में विचार हुआ है। सांख्य दर्शन उस पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जो यह मानता है कि यज्ञों में की गई हिंसा भी उतनी ही दोषपूर्ण है जितनी अन्य समयों या स्थानों में की गई हिंसा होती है। मीमांसा दर्शन ठीक इसके विपरीत उस पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जो यज्ञों में की जाने वाली हिंसा को हिंसा स्वीकार नहीं करता है। उसके अनुसार **"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"** अर्थात् यज्ञों में की गई हिंसा हिंसा नहीं होती। इस संबंध में सांख्य तत्व कौमुदी में एक बहुत ही रोचक विवेचन प्रस्तुत किया गया है-

दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदयघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नेकान्तात्यन्ततोऽभावाद्। (सांख्यकारिका-1)

समस्या है आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक-इस दु:खत्रय से छुटकारा पाने की। इसके समाधान के लिए तीन साधन हैं।

लौकिक उपाय

जैसे अन्न से बुभुक्षा, जल से प्यास, औषधि से ज्वर, इन्द्रिय-निग्रह से काम, दान से लोभ, दया से क्रोध आदि दूर होते हैं।

शास्त्रीय उपाय

वेदों के अनुसार यज्ञ करना।

शास्त्र जिज्ञासा

शास्त्र जिज्ञासा से अभिप्राय है प्रकृति और पुरूष का विवेक-ज्ञान।

इनमें लौकिक उपाय दु:ख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं कर सकते और यही बात वेदोक्त यज्ञादि कर्मकाण्ड के साथ भी है क्योंकि ये अशुद्धि (मल) और न्यूनाधिक विषमता से युक्त है। अत: प्रकृति पुरुष का विवेक ज्ञान ही श्रेयस्कर है, मुक्तिदायक है।

वैदिक यज्ञ धर्म या पुण्य उत्पन्न करने के साथ ही अधर्म या पाप भी पैदा कर देते हैं क्योंकि ये हिंसायुक्त होते हैं और यही इनकी अविशुद्धि का कारण है। वैदिक यज्ञों के विषय में भाष्यकार ने कहा है-**स्वल्प: संकर: सपरिहार:।** यानि यश में जो संकर दोष है वह स्वल्प है, कम मात्रा में है जिसका परिहार हो सकता है। यदि परिहार की आवश्यकता होती है तो सीधा सा मतलब है कि अविशुद्धि भी अवश्य है। इसके अलावा वैदिक विचारधारा एक ओर तो प्रस्तुत करती है-'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए और दूसरी ओर कहती है-'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' अग्नि और सोम के लिए पशु ले आओ। ये दानों बाते विरोधात्मक हैं। किन्तु मीमांसकों का कथन है कि 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' सामान्य नियम है और 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत्' विशेष नियम है और इन दोनों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि जहां पर विशेष नियम लागू होता है वहां पर सामान्य नियम लागू नहीं होता। यदि विरोध होता तो विशेष नियम सामान्य को प्रभावित करता।

किन्तु ऐसा कहना मीमांसकों के पक्ष में सहायक नहीं हो सकता। क्योंकि जहां तक सिर्फ अविरोध की बात है तो इन दोनों नियमों के भी दो-दो अर्थ हो सकते हैं और दोनों में कोई विरोध नहीं हो सकता, जैसे-'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' सिर्फ यही व्यक्त करता है कि हिंसा अनर्थकारिणी है, यह ऐसा नहीं कहता कि

हिंसा यज्ञ के लिए अनुपयोगी है। ठीक इसी तरह 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इतना बताता है कि हिंसा यज्ञ के लिए उपयोगी है, न कि अनर्थकारिणी है। ऐसा होने पर दोनों ही वाक्यों के दो-दो अर्थ होंगे। अग्निषोमीयं पशुमालभेत-1. हिंसा यज्ञ में उपयोगी है 2. हिंसा अनर्थकारिणी है।

किन्तु दो-दो अर्थ होने से वाक्यों में 'वाक्यभेद दोष' आ जाएगा, जिसे मीमांसक भी मानते हैं। यदि वाक्यभेद दोष को न भी माना जाए तो भी इन दोनों अर्थो में काई भेद नहीं है-हिंसा यज्ञ के लिए आवश्यक है और हिंसा पापजनक है। और ऐसा सिद्ध हो जाने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि आवश्यक रूप से हिंसा आदि का होना यज्ञादि कर्मकाण्डों में अविशुद्धि का कारण है।

6.5 वेदान्त में अहिंसा का स्वरूप

सिद्धान्तः (अद्वैत) वेदान्त यह मानता है कि ब्रह्म एक है दूसरा नहीं और उसी ब्रह्म के अनेक रूप या अंश हैं तथा ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या........अर्थात् ब्रह्म ही केवल सत्य है और जो भी है असत्य है। ऐसी हालत में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि हिंसा करने वाला तथा हिंसित होने वाला दोनों ही ब्रह्म के ही अंश हैं। साथ ही यदि सब कुछ सिवाय एक ब्रह्म के असत्य ही है तो हिंसा या अहिंसा जो भी इस जगत् में होता हो सब कुछ असत्य ही होगा। किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में अद्वैत वेदान्ती लोग भी हिंसा-अहिंसा को मानते हैं। अतः ब्रह्मसूत्र (3.1.25) की व्याख्या करते समय शंकराचार्य ने हिंसा एवं यज्ञ के संबंध का विवेचन किया है। सूत्र है-

अशुद्धमिति चेत्र शब्दात्।।25।। आ. 3 पाद 1

अर्थात् वैदिक यज्ञ अग्निष्टोम आदि अशुद्ध है क्योंकि इनमें पशु-हिंसा होती है। अतः इसके करने वाले दुःखी जीवन प्राप्त करते हैं ऐसा कहना ठीक नहीं है। इसको भाष्यकार शंकर यों कहते हैं-'पशु हिंसा आदि के योग से यज्ञ कर्म अशुद्ध है, उसका फल अनिष्ट हो सकता है, इसलिए अनुशयी जीवों का ब्रीहि आदि रूप से जन्म यदि मुख्यार्थ हो सकता है तो उसमें गौणी कल्पना अर्थ (प्रयोजन) रहित होगी, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार किया जाता है-नहीं ऐसा नहीं है क्योंकि धर्म, अधर्म के विज्ञान का हेतु शास्त्र है, यह धर्म है और अधर्म है, इसके विज्ञान में शास्त्र ही कारण है क्योंकि वे दोनों धर्म और अधर्म अतीन्द्रिय है और उनका देश, काल और निमित्त में जिस धर्म का अनुष्ठान होता है वही धर्म अन्य देश, अन्य काल और अन्य निमित्त में अधर्म हो जाता है। इसलिए शास्त्र के बिना धर्म और अधर्म का ज्ञान किसी को भी नहीं होता। हिंसानुग्रह आदि जिसका स्वरूप है, ऐसा ज्योतिष्टोम धर्म रूप से शास्त्र द्वारा निश्चत हुआ है, वह अशुद्ध है ऐसा कैसे कहा जा सकता है? परन्तु **न हिंस्यात् सर्वभूतानि** (सब भूतों की किसी भी जीव की हिंसा न करो) यह शास्त्र ही भूत विषयक हिंसा अधर्म है ऐसा बतलाता है वह सत्य है, वह तो उत्सर्ग मार्ग है और **'अग्निषोमीयं पशुमालभेत'** अग्नि और सोम के लिए पशु का बध करे। यह अपवाद है।

उत्सर्ग और अपवाद का विषय व्यवस्थित है इसलिए वैदिक कार्य विशुद्ध है क्योंकि शिष्य उसका अनुष्ठान करते हैं और वह निंदा करने के योग्य नहीं है इसलिए स्थावर रूप से जन्म जो प्रतिकूल है वह उसका फल नहीं है। अर्थात् शंकर भी यह मानते हैं कि वेदों द्वारा निर्देशित यज्ञ में की जाने वाली हिंसा अधर्ममूलक या पाप जनक नहीं है।

6.6 सारांश

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि प्रायः सीाी दर्शनों में अहिंसा का महत्व दिया गया है।

6.7 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन, बौद्ध मीमांसक और वेदान्त दर्शन के अनुसार अहिंसा के स्वरूप पर प्रकाश डालें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अहिंसा का उद्देश्य आत्म-शुद्धि या जीवरक्षा-स्पष्ट करें।
2. सभी कुशल धर्मों का आधार अप्रमाद है-जैन और बौद्ध दर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न (रिक्त स्थानों की पूर्ति करें)

1. हिंसा के दो रूप हैं.........।
2. हिंसा के कुल ....भेद हैं।
3. अहिंसा का पर्यायवाची नाम है................................।
4. समता के दो प्रकार हैं.........................।
5. अहिंसा का उद्देश्य ....है।
6. सव्वभूयखेमंकरी विशेषण ....के लिए प्रयुक्त है।
7. सुत्तपिटक और विनयपिटक ....धर्म के ग्रन्थ हैं।
8. तथागत बुद्ध ने अहिंसक व्यक्ति को...............की संज्ञा दी है।
9. तीन प्रकार के शीलों की चर्चा ....में है।
10. शंकर ....मत के प्रवर्तक हैं।

इकाई–7 : अपरिग्रह का स्वरूप–जैन, बौद्ध, योग एवं वेदान्त

संरचना

7.0 प्रस्तावना

भगवान् महावीर द्वारा महाव्रत एवं अणुव्रत के रूप में प्रतिपादित अपरिग्रह का सिद्धान्त सर्वव्यापक, सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक सत्य है। परिग्रह सर्वत्र दु:ख का मूल माना गया है। इसीलिए आचारांगसूत्र में कहा गया है—

"परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा" अर्थात् परिग्रह से अपने को दूर रखो। परिग्रह शांति एवं समता को भंग कर अशांति एवं विषमता उत्पन्न कर देता है। जीवन में आकुलता, विषाद और नीरसता का विष घोल देता है। परिग्रह हृदय को संकीर्ण, बुद्धि को भोगोन्मुख, मन को चपल और इन्द्रियों को अनियंत्रित बना देता है। बाहर से सुख सामग्रियों का अम्बार लगे होने पर भी भीतर से सुख को सोख लेता है। यह परिग्रह तृष्णा को उत्तरोत्तर बढ़ाकर मनुष्य को अनन्त दु:ख के भयानक जंगल में छोड़ देता है। परिग्रह के समान जगत् में कोई बन्धन नहीं है। आज चारों ओर हिंसा, आतंक, भ्रष्टाचार, अन्याय, लूटखसोट, चोरी आदि जितने अनैतिक आचरण हो रहे हैं इन सबका मूल कारण है बढ़ती हुई आकांक्षा, अनन्त इच्छाएं तथा संग्रहवृत्ति। इन सभी समस्याओं का समाधान अपरिग्रह से ही हो सकता है। यही कारण है कि विश्व के सभी धर्मों में किसी–न–किसी रूप में अपरिग्रह की चर्चा प्राप्त होती है। वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों ही परम्पराओं में पांच व्रतों की ही चर्चा है इनमें प्रथम चार व्रत अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य तीनों परम्पराओं में समान हैं किन्तु पांचवां व्रत तीनों परम्पराओं में भिन्न है। वैदिक परम्परा में पांचवां व्रत दान है, बौद्धों में पांचवां व्रत मादक द्रव्यों का त्याग है और जैनों में पांचवां व्रत अपरिग्रह है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा में अपरिग्रह का विशेष स्थान है। भगवान् पार्श्वनाथ के चतुर्याम धर्म में अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य एक ही व्रत में समाविष्ट थे। महावीर ने इन दोनों को अलग–अलग व्रतों का रूप दिया। अपरिग्रह की अवधारणा त्याग से जुड़ी है। जैनधर्म तो त्याग प्रधान है ही अन्य परम्पराओं में भी त्याग का महत्त्व है इसलिए जैन के अतिरिक्त बौद्ध, योग और वेदान्त में भी अपरिग्रह की अवधारणा उपलब्ध होती है। जैन परम्परा में अपरिग्रह का विश्लेषण और विस्तार जितना किया गया है उतना अन्य किसी परम्परा में नहीं मिलता। इसीलिए सर्वप्रथम हम अपरिग्रह के स्वरूप व प्रकारों के विश्लेषण के लिए जैन परम्परा पर एक दृष्टि डालेंगे।

7.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से विभिन्न परम्पराओं मं अपरिग्रह के स्वरूप को समझ सकेंगे।

7.2 जैन परम्परा में अपरिग्रह का स्वरूप

अपरिग्रह के स्वरूप को जानने से पूर्व परिग्रह को जानना आवश्यक है।

परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति व अर्थ

परिग्रह शब्द परि उपसर्ग ग्रह धातु से अप् प्रत्यय के योग से बना है। जिसका अर्थ है ग्रहण, पकड़, लिप्तता आदि। परिग्रह का अर्थ है वस्तु का ग्रहण करना। दूसरा अर्थ है—परिग्रहणं परिग्रह: चारों ओर से ग्रहण करना परिग्रह है।

परिग्रह की परिभाषा

'परिगृह्यते इति परिग्रह:' अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। 'परिगृह्यते अनेन इति परिग्रह:' अर्थात् जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है।

जैन आगमों के अनुसार परिग्रह का वास्तविक अर्थ बाह्य वस्तुओं का संग्रह नहीं, किन्तु आन्तरिक मूर्च्छाभाव या आसक्ति से है। आचारांग में कहा—जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है वही परिग्रह का त्याग करता है। प्रश्न व्याकरण वृत्ति में कहा गया—**परिसामस्त्येन ग्रहणं परिग्रहणं।**

प्रवचनसार में परिग्रह को परिभाषित करते हुए कहा— **"परिगृह्यते आदीयतऽस्मादिति परिग्रह:"** मूर्च्छा **भावेन ममेति बुद्ध्या गृह्यते इति परिग्रह:"** अर्थात् किसी वस्तु का समस्तरूप से ग्रहण करना अथवा ममत्व बुद्धि से मेरेपन की बुद्धि से मूर्च्छावश जिसे ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया—**"मूच्छा परिग्गहो"** अर्थात् मूर्च्छा परिग्रह है। "तत्त्वार्थसूत्र" में भी मूर्च्छा या आसक्ति को ही परिग्रह कहा है। "राजवार्तिक" में **"ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मायाभिमान: संकल्प: परिग्रह इति उच्यते"** अर्थात् यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूं। इस प्रकार का ममत्व परिणाम परिग्रह है। जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा गया—ममत्व और अहंकार दोनों परिग्रह हैं। अत: ममत्व और मूर्च्छा से जुड़ी हुई समस्त वस्तुएं ही परिग्रह हैं। परिग्रह पाप बंध का कारण है। भगवती के दूसरे शतक में गणधर इन्द्रभूति गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! इच्छा, मूर्च्छा और आसक्ति से चारों कषायों का तादात्म्य सम्बन्ध है जहां परिग्रह होता है वहां क्रोध आदि चार कषाय अवश्य होते हैं। परिग्रह समस्त पापों का केन्द्र है। समस्त पाप परिग्रह से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्नव्याकरण में कहा गया—परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते हैं, असत्य बोलते हैं, चोरी, डकैती, मिलावट, तोलमाप की गड़बड़ी आदि पाप परिग्रह की चेतना के कारण होते हैं। परिग्रह के कारण मनुष्य मनुष्य की हत्या करता है। कोई भी ऐसा पाप नहीं जो परिग्रह के निमित्त न होता हो।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, सम्पूर्ण दु:खों का मूल कारण तृष्णा है। कहा गया—जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है, उसका मोह समाप्त हो जाता है, जिसका मोह मिट जाता है उसके दु:ख भी समाप्त हो जाते हैं। कहा भी है—

"दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो।
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा॥"

सूत्रकृतांग के अनुसार मनुष्य जब तक किसी भी प्रकार की आसक्ति रखता है तब तक दु:ख से मुक्त नहीं हो सकता। तृष्णा ही परिग्रह का मूल है। प्रस्तुत व्रत का महत्त्व अन्य दृष्टि से भी है। इस विश्व में सोना, चांदी, हीरे, पन्ने, माणिक, मोती, भूमि, अन्न, वस्त्र आदि जितने भी पदार्थ हैं वे परिमित हैं। एक व्यक्ति उनका अधिक संग्रह करता है तो दूसरे को जीवन के अनिवार्य पदार्थ उपलब्ध नहीं होते, फलत: सामाजिक विषमता जन्म लेती है। अतिसंग्रह की इस वृत्ति के कारण प्रकृति का दोहन अतिमात्रा में होता है। प्रकृति का दोहन असीम होगा तो प्राकृतिक सन्तुलन और पर्यावरण प्रदूषण की समस्या उत्पन्न होगी। इन सभी समस्याओं से निपटने का सीधा तरीका है अपरिग्रह। अपरिग्रह व्रत को परिभाषित करते हुए जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा गया—**'ममत्वविसर्जनं अपरिग्रह:'** अर्थात् ममत्व विसर्जन या इच्छाओं को सीमित करना अपरिग्रह व्रत है। अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाला केवल अर्थार्जन और भोग का संयम ही नहीं करता, वह अर्थ की

आसक्ति एवं अहं से भी बचता है। जीवन में सुख और शांति का रसास्वादन करता है। सूत्रकृतांग में तो यहां तक कहा गया—अपरिग्रह व्रत से अर्थात् मूर्च्छा के अभाव से, आसक्ति के अभाव से व्यक्ति दुःखों से मुक्त होता है। 'ठाणांग सूत्र' में परिग्रह को नरक का द्वार तथा अपरिग्रह को मुक्ति का द्वार कहा है।

उपासकदशा में समस्त परिग्रहों को दो भागों में विभक्त किया गया है—बाह्य और आभ्यन्तर। इनका विस्तृत विवेचन इकाई तीन पाठ 9 में किया गया है। जैन परम्परा में जैन श्रमण के लिए सम्पूर्ण परिग्रह के परित्याग का विधान है लेकिन एक गृहस्थ परिग्रह का पूर्णरूप से त्याग नहीं कर सकता; क्योंकि गृहस्थ का जीवन परिग्रह के बिना चल नहीं सकता। इसलिए परिग्रह की सीमा करता है तथा परिग्रह के अल्पीकरण का रास्ता अपनाता है। इस व्रत को ग्रहण करने से जीवन में सादगी, मितव्ययिता और शांति का अवतरण होता है।

7.3 बौद्धदर्शन में अपरिग्रह का स्वरूप

जैन परम्परा में परिग्रह परिमाण को जितना महत्त्व दिया गया उतना बौद्ध परम्परा में नहीं। यद्यपि बुद्ध के अनेक वचन परिग्रह की मर्यादा का संकेत करते हैं। बौद्धदर्शन में कहा गया कि जो मनुष्य खेती, वास्तु, हिरण्य, गौ, अश्व, दास, बन्धु इन सबकी कामना करता है उसे वासनाएं दबाती हैं, तथा वह पानी में टूटी नाव की तरह दुःख में पड़ता है।

जैन परम्परा में जिसे परिग्रह कहा गया उसी को बौद्ध परम्परा में तृष्णा कहा गया। बौद्ध परम्परा में आसक्ति को समस्त बन्धनों एवं दुःखों का मूल माना गया है, वहां कहा गया तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सभी बन्धन स्वतः नष्ट हो जाते हैं। धम्मपद में कहा गया स्वर्ण मुद्रा की वर्षा हो जाये, लेकिन उससे भी तृष्णायुक्त मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। संयुक्तनिकाय में कहा गया तृष्णा ही दुःख है। बौद्धदर्शन में तृष्णा तीन प्रकार की मानी गई हैं—1. भवतृष्णा, 2. विभव तृष्णा 3. कामतृष्णा।

सुत्तनिपात में भी बुद्ध ने कहा है कि आसक्ति ही बंधन है। जो भी दुःख होता है वह सब तृष्णा के कारण ही होता है। आसक्ति का क्षय ही दुःख का क्षय है, तृष्णा की समाप्ति होना ही निर्वाण है। बुद्ध के अनुसार परिग्रह या संग्रह वृत्ति का मूल आसक्ति या तृष्णा है। महानिद्देशपालि में कहा गया—परिग्रह का मूल इच्छा है, आसक्ति है। बौद्ध परम्परा में भी अनासक्त होने के लिए परिग्रह का अल्पीकरण या विसर्जन आवश्यक है। बौद्ध परम्परा में भिक्षु के लिए जिन दस शीलों का उल्लेख है, उनमें से अंतिम तीन अपरिग्रह के ही विस्तार हैं। आठवां शील माल्यगंध धारण विलेपन विरमण व्रत है। माला आदि का धारण, सुगन्धित पदार्थों का विलेपन विलास का कारण माना गया है। इसी का विस्तार करते समय नौवें व्रत में भिक्षुओं के लिए ऊंची शय्या और कोमल शय्या पर सोने का निषेध किया गया है। अंगुत्तरनिकाय में कहा गया—नृत्य, गान, वाद्य वादन आदि इनका प्रयोग भी भिक्षु के लिए वर्जित है। स्वर्ण, रजत आदि का सर्वथा निषेध है, अन्य आवश्यक वस्तुओं में भी चीवर, भिक्षापात्र आदि सीमित वस्तुएं ही बौद्ध भिक्षु के लिए विहित है।
सुत्तनिपात में तो यहां तक कहा गया जो इच्छाओं के वशीभूत हैं, उनकी मुक्ति अति कठिन है, इस प्रकार बौद्ध परम्परा में भी भिक्षुओं के परिग्रह को अत्यन्त सीमित करने का निर्देश दिया है।

7.4 जैन और बौद्ध तुलनात्मक विश्लेषण

जैन, बौद्ध दोनों परम्पराएं अपरिग्रह के सैद्धान्तिक पक्ष पर समान रूप से बल देती हैं, किन्तु उसके व्यावहारिक पक्ष को लेकर मतभेद भी है। जैनदर्शन के अनुसार अनासक्त होने के लिए अपरिग्रही होना आवश्यक है वहां बौद्धदर्शन में अनासक्त होने के लिए अपरिग्रही होना आवश्यक नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बाह्य, आभ्यन्तर दोनों परिग्रह का त्याग जरूरी है। वहां बौद्धदर्शन के अनुसार दोनों का त्याग जरूरी नहीं है। जैन परम्परा एवं बौद्ध दोनों परम्परा में दुःख का कारण तृष्णा है। जैन परम्परा में गृहस्थ एवं भिक्षु के लिए सम्पूर्ण परिग्रह त्याग का निर्देश है किन्तु बौद्ध परम्परा में सम्पूर्ण

त्याग का निर्देश नहीं मिलता। जैन परम्परा में भी भिक्षुओं के लिए विभूषा, शोभा बढ़ाना, शृंगार, विलेपन आदि का निषेध किया गया है इनका स्पष्ट प्रमाण उत्तराध्ययनसूत्र में मिलता है। बौद्ध परम्परा में भी शोभा, विभूषा, माला धारण करना इनका निषेध किया गया है। जैन आगम आचारांग में मुनि को कैसी शय्या पर सोना चाहिए। इसका सुविस्तृत स्पष्ट विवेचन है। वहां कहा गया मुनि को तृण की, पत्थर की या तख्त की शय्या पर सोना चाहिए। बौद्ध परम्परा में भी यही बात स्वीकृत है।

जैन परम्परा में जहां मुनि जीवन के लिए परिग्रह के पूर्ण त्याग और गृहस्थ जीवन में परिग्रह के अल्पीकरण की अवधारणा प्रस्तुत की, वहां बौद्ध परम्परा ने भिक्षु के लिए स्वर्ण-रजतरूप परिग्रह त्याग की अवधारणा प्रस्तुत की। किन्तु गृहस्थ के लिए परिग्रह परिसीमन की चर्चा उपलब्ध नहीं होती।

इस प्रकार हम देखते हैं। कि बौद्ध परम्परा में वर्णित अपरिग्रह का सिद्धान्त जैन परम्परा से कुछ अंशों तक साम्यता रखता है।

7.5 योगदर्शन में अपरिग्रह का स्वरूप

योग की परम्परा भी निवृत्ति परक होने के कारण अपरिग्रह पर जैनधर्म के समान ही बल देती है। योगदर्शन में नैतिक आचरण को प्रमुख स्थान दिया गया है। यही कारण है योगसूत्रकार ने सर्वप्रथम यम का उल्लेख किया है। यम व्यक्ति के बाह्य एवं आंतरिक आचरण की मूलभित्ति है। इनके सतत अभ्यास से मनुष्य में पवित्रता का अवतरण होता है। फलस्वरूप यम के द्वारा धारणा, ध्यान, समाधि की इन्द्रियातीत अवस्था तक भी पहुंच सकता है।

यम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। योगदर्शन में अपरिग्रह पांचवां यम है।

योगदर्शन में अपरिग्रह का अर्थ केवल संग्रह नहीं करना ही नहीं है बल्कि वे मानते हैं कि मूर्च्छा रहित होना, किसी के प्रति ममत्व न रखना, भौतिक सम्पत्ति का अधिक संग्रह न करना अपरिग्रह है। भौतिक सम्पत्ति योग के लिए बाधक है। अधिकांशत: व्यक्ति भौतिक सम्पदा से पथभ्रष्ट हो जाते हैं इसलिए इस पर नियंत्रण करना आवश्यक है।

परिग्रह के मूल में मनुष्य के चित्त में संचित पांच मल विशेष कारण बनते हैं। जब तक चित्त इन मलों से मुक्त नहीं हो पाता तब तक अपरिग्रही नहीं बन सकते। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश, मनुष्य को परिग्रह के गर्त में ढ़केलते हैं। इन अशुद्धियों का प्रक्षालन योग से ही संभव है। शौच, बाह्य एवं आन्तरिक मलों की सफाई करता है। संतोष-परिग्रह पर नियंत्रण करता है। तप के द्वारा मनुष्य की परिग्रह के प्रति होने वाली ममत्व बुद्धि समाप्त होती है। स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान से अपरिग्रह की दिशा में गतिशील होता है। जब व्यक्ति अपरिग्रही बन जायेगा तो शेष यम स्वत: ही सध जायेंगे क्योंकि जिस व्यक्ति में संग्रह की मनोवृत्ति कम होगी वह हिंसा, द्वेष आदि के दोषों से मुक्त रहेगा वह सत्यशील होगा क्योंकि वह निर्भय होगा। वह दूसरों की सम्पदा नहीं चुरायेगा, ऐसा व्यक्ति संयमी होगा। वह निर्बाध रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करेगा। अपरिग्रह का सिद्धान्त प्रेम, सद्भाव, करुणा, मैत्री, मुदिता आदि गुणों का समाज में वातावरण निर्मित करता है।

महर्षि पतंजलि ने पातंजल योगदर्शन में कहा—"अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासम्बोध:"अर्थात् अपरिग्रह से चित्त शुद्ध-निर्मल होकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इससे भूत और भविष्य जन्म का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् पूर्व जन्म में हम क्या थे, वर्तमान जन्म किस प्रकार हुआ, आगे कैसा होगा आदि सब बातों का ज्ञान हो जाता है।

आज विश्व को अपरिग्रह की नितांत आवश्यकता है। क्योंकि इस व्रत का यथार्थरूप से पालन न होने से ही धन सम्पत्ति आदि का ठीक-ठीक विभाग नहीं हो रहा है। यदि प्रत्येक मनुष्य के पास केवल आवश्यकता के अनुसार सारी वस्तुएं रहे तो कोई भी व्यक्ति निर्धन, भूखा बेघर नहीं रहेगा।

7.6 जैन व योगदर्शन का तुलनात्मक विश्लेषण

जैन परम्परा के समान ही योगदर्शन में अपरिग्रह का पांचवां स्थान है। दोनों ही परम्पराएं मूर्च्छा, आसक्ति एवं संग्रहवृत्ति को ही परिग्रह रूप में स्वीकार करती हैं तथा उनके अभाव को ही अपरिग्रह रूप में स्वीकार करती हैं। जैनदर्शन के अनुसार अनासक्त होने के लिए अपरिग्रही होना आवश्यक है वहां योगदर्शन यह नहीं मानता।

जैनदर्शन में बाह्य एवं आभ्यन्तर अपरिग्रह की चर्चा उपलब्ध होती है किन्तु योगदर्शन में परिग्रह के दो भेदों की चर्चा का उल्लेख नहीं मिलता। जैन परम्परा में अपरिग्रह की आंशिक मर्यादा अणुव्रत एवं पूर्णरूप से त्याग महाव्रत कहलाता है ठीक वैसे ही योगदर्शन में भी अपरिग्रह के अणुव्रत और महाव्रत के रूप में दो भेद किये गये हैं। उनके अनुसार जब अपरिग्रहव्रत देश, काल से परिच्छिन्न होता है तब वह अणुव्रत कहलाता है और वह देश, काल से अपरिच्छिन्न होता है तब महाव्रत कहलाता है। इस प्रकार जैन, योग दोनों परम्पराओं में अपरिग्रह के स्वरूप में काफी साम्यता प्रतीत होती है।

7.7 वेदान्त दर्शन में अपरिग्रह का स्वरूप

वेदान्त ज्ञान को मुक्ति का कारण मानता है। आचरण सम्बन्धी सभी बातों का समावेश वेदान्त में ज्ञान के अधिकारी के गुण बताते समय किया गया है। वेदान्त के ज्ञान का अधिकारी इस लोक के और परलोक के सुख भोगों से विरक्त होना चाहिए। दूसरे शब्दों में जो अपरिग्रही नहीं है वह ज्ञान का अधिकारी ही नहीं है। जैनदर्शन में जहां अन्तरंग और बहिरंग दो प्रकार के परिग्रह बताये गये हैं वहां वेदान्त में इस लोक और परलोक के रूप में सुख भोगों की चर्चा है। वैदिक परम्परा के अनुसार पुण्य से इस लोक में तो सुख मिलता ही है परलोक में भी स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति होती है। साधक के लिए आवश्यक है कि इन दोनों प्रकार के सुखों के प्रति आसक्ति न रखें।

वेदान्त के ज्ञान के अधिकारी की दूसरी शर्त है कि उसमें नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक होना चाहिए। आत्मा का आनन्द ही नित्य है। पदार्थ से मिलने वाले सभी सुख अनित्य है। जो पदार्थ से सुख की इच्छा करता है वह आत्मिक सुख को नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए अपरिग्रह के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता।

वैदिक परम्परा में परिग्रह परिसीमन की दृष्टि से भी कुछ संकेत अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ भिक्षु के लिए जलपात्र, जल छानने का वस्त्र, पादुका, आसन एवं कंघा आदि सीमित वस्तुएं रखने का विधान हैं। किन्तु धातु पात्र का प्रयोग भिक्षु के लिए भी निषिद्ध है। मनुस्मृति के अनुसार संन्यासी का भिक्षापात्र तथा जलपात्र मिट्टी, लकड़ी, तुम्बी या बिना छिद्रवाले बांस का होना चाहिए।

7.8 जैन और वेदान्त तुलनात्मक विश्लेषण

जैन परम्परा में जहां अन्तरंग और बहिरंग दो प्रकार के परिग्रह बताये गए हैं वहां वेदान्त में इस लोक और परलोक में प्राप्त होने वाले सुखभोगों की चर्चा है।

जैनदर्शन में अनासक्त वृत्ति के लिए परिग्रह त्याग आवश्यक है किन्तु वैदिक परम्परा के परिग्रह परित्याग को अनिवार्य नहीं बताती। अपितु ज्ञान पर विशेष बल देती है। जैन परम्परा में भिक्षु को पूर्णरूप से अपरिग्रही होने का विधान है वहां वैदिक परम्परा में सीमित वस्तुएं रखने का विधान है। दोनों ही परम्परा अनासक्ति पर अधिक बल देती हैं। इस प्रकार जैन, वेदान्त, दोनों परम्परा में कुछ अंशों तक साम्यता प्रतीत होती है।

7.8 सारांश

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जैन या बौद्ध जैसे श्रमण परम्परा अथवा योग या वेदान्त जैसी वैदिक दार्शनिक विचारधारा में अपरिग्रह को समान महत्त्व है। अपरिग्रह के मूल में अनासक्ति भाव है यह भी सभी परम्पराओं में मान्य है। कहीं अन्तर है तो केवल इतना कि किसी सम्प्रदाय में कुछ सीमा तक बाह्य परिग्रह

सम्मत है जबकि किसी सम्प्रदाय में वह सर्वथा निषिद्ध है। यह भेद भी वस्तुतः संन्यासी के जीवन से जुड़ा है। गृहस्थ जीवन में अपरिग्रह अणुव्रत के पालन के सम्बन्ध में कोई मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

7.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अपरिग्रह को परिभाषित करते हुए जैन, बौद्ध, योग, वेदान्त में अपरिग्रह का क्या स्वरूप है? तुलनात्मक दृष्टि से प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जैन एवं बौद्ध परम्परा में अपरिग्रह के स्वरूप सम्बन्धी साम्य वैषम्य पर विचार प्रस्तुत करें।
2. योदर्शन में अपरिग्रह का स्वरूप क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जैन परम्परा में अपरिग्रह के प्रकार हैं—
   क. 4 ख. 6 ग. 8 घ. 2
2. योगदर्शन में अपरिग्रह यम है—
   क. तीसरा ख. दूसरा ग. पांचवां घ. सातवां
3. बौद्धदर्शन में तृष्णा के प्रकार हैं—
   क. एक ख. पांच ग. तीन घ. आठ
4. बौद्ध परम्परा में संग्रहवृत्ति का मूल है—
   क. अर्जन ख. चोरी ग. आसक्ति घ. अन्याय
5. उत्तराध्ययन के अनुसार सम्पूर्ण दु:खों का मूल कारण है—
   क. पाप ख. क्रोध ग. तृष्णा घ. दुराचार
6. वैदिक परम्परा में पांचवां व्रत है—
   क. ब्रह्मचर्य ख. सत्य ग. दान घ. अहिंसा
7. बौद्ध परम्परा में पांचवां व्रत है—
   क. हिंसा का त्याग ख. चोरी का त्याग ग. मादक द्रव्यों का त्याग
8. ममत्व विसर्जन या इच्छाओं को सीमित करना क्या है—
   क. सत्य ख. पुण्य ग. ब्रह्मचर्य घ. अपरिग्रह
9. समस्त पाप उत्पन्न होते हैं—
   क. लूटखसोट से ख. बेइमानी से ग. परिग्रह से घ. चोरी से।
10. आभ्यन्तर परिग्रह के प्रकार हैं—
    क. पांच ख. नौ ग. चौदह घ. छः।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. दो 2. पांचवां 3. तीन 4. आसक्ति 5. तृष्णा 6. दान 7. मादक द्रव्यों का त्याग
8. अपरिग्रह से 9. परिग्रह से 10. चौदह।

☆☆☆

इकाई–8 : तप—जैन, बौद्ध एवं पुराण

संरचना

8.0 प्रस्तावना

तपसाधना भारतीय आध्यात्मिक जीवन एवं संस्कृति का प्राण है। विभिन्न विचार सरणियों में तपस्या के लक्ष्य के सम्बन्ध में मनभिन्नता हो सकती है, तप के स्वरूप को लेकर विचार भेद हो सकता है लेकिन तपस्या के तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

'कर्म क्षयार्थ इति तपः।
तवो विषयणिग्गहो जत्थ॥'

अर्थात् तप वह है जहां विषयों का निग्रह है। इत्यादि परिभाषाएं प्राप्त होती हैं। साधना के विविध मार्ग सामान्यरूप से जैन आगमों में प्रतिपादित हैं। प्राचीन आगमों में एक चतुर्विध मार्ग का भी वर्णन मिलता है। उत्तराध्ययन, दर्शनपाहुड़ इत्यादि में चतुर्विध मार्ग का वर्णन है। साधना का चौथा अंग सम्यक् तप कहा गया है। जैसे गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग के साथ-साथ ध्यानयोग का भी निरूपण है वैसे ही जैन परम्परा में सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के साथ-साथ सम्यक् तप का भी उल्लेख है। परवर्ती परम्परा में ध्यानयोग का अन्तर्भाव कर्मयोग में और सम्यक् तप का अन्तर्भाव सम्यक् चारित्र में हो गया। लेकिन प्राचीन युग में जैन परम्परा में सम्यक् तप का, बौद्ध परम्परा में समाधिमार्ग का तथा गीता में ध्यानयोग का स्वतंत्र स्थान रहा है।

8.1 उद्देश्य

अतः तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यहां सम्यक् तप का विवेचन स्वतंत्र रूप में किया जा रहा है।

8.2 जैन धर्म में तप का स्वरूप

जैन तीर्थंकरों एवं विशेषकर महावीर का जीवन ही जैन साधना में तप के स्थान का निर्धारण करने हेतु एक सबलतम साक्ष्य है। महावीर के 12.5 वर्ष के साधनाकाल में लगभग 11 वर्ष तो निराहार ही बीते। महावीर का सारा साधनाकाल स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, ध्यान और कायोत्सर्ग से भरा है। अतः उनकी साधना पद्धति तप प्रधान रही है।

जैन साधना का लक्ष्य मोक्ष या शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि है। इसके लिए आत्मा की शक्ति को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गलों का पृथक् होना आवश्यक है। अलग करने की इस क्रिया को निर्जरा कहते

हैं। निर्जरा दो रूपों में होती है। एक स्वतः पृथक् होते हैं और एक है सप्रयास पृथक्करण। तप ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रयासपूर्वक कर्मपुद्गल आत्मा से अलग होते हैं। तप का प्रयोजन भी यही है कि कर्म-पुद्गलों को अलग कर आत्मा की स्वशक्ति को प्रकट करना। राजवार्तिककार भी यही कहते हैं **'कर्मदहनात्तपः।'** कर्म दहन अर्थात् भस्म कर देने के कारण तप कहा जाता है।

8.2.1 तप के भेद

उत्तराध्ययन में तप के दो भेदों का उल्लेख है—**'तवो य दुविहोवुत्तो, बहिरब्भंतरो तहा।'** तप के दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य—बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से होता है और दूसरों के देखने में आता है इसलिए इसे बाह्य तप कहते हैं।

आभ्यन्तर—बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखते। अन्तःकरण के व्यापार से होते हैं, अन्तरंग परिणामों की मुख्यता रहती है, इनका संवेदन स्वयं को ही होता है तथा मन का नियम न करने वाले होने से यह आन्तरिक तप है।

बाह्य और आभ्यन्तर के ही छः-छः प्रभेदों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

'बाहिरो छव्विहो वुत्तेएवमब्भंतरो तवो।'

8.2.2 बाह्य तप के छः भेद

अनशन—यह तप का पहला प्रकार है। अनशन का अर्थ है—आहार का त्याग। काल की अपेक्षा से इसके दो भेद हैं—

1. **इत्वरिक**—एक दिन से लेकर छह मास तक आहार का त्याग।
   यावत्कथिक—जीवन पर्यन्त आहार का त्याग।
   भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन ये भी अनशन के प्रभेद हैं।
2. **अवमोदरिका**—अवम का अर्थ है कम और उदर का अर्थ है पेट। तात्पर्य जितनी भूख हो उससे कम खाना। ऊनोदरिका इसका पर्यायवाची शब्द है। द्रव्य और भाव की अपेक्षा इसके दो भेद हैं। जिसमें वस्तुओं का अल्पीकरण किया जाता है वह द्रव्य ऊनोदरी है। जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि वृत्तियों को कम किया जाता है वह भाव ऊनोदरी है।
3. **वृत्तिसंक्षेप**—वृत्ति का अर्थ है आजीविका, भावना। जहां भावनाओं व अपेक्षाओं को अभिग्रह के द्वारा संक्षेप किया जाता हो उसे वृत्तिसंक्षेप कहते हैं। वृत्तिसंख्यान और भिक्षाचर्या ये इसके अपर नाम हैं।
4. **रसपरित्याग**—रस-परित्याग अर्थात् दूध, दही, घी आदि का त्याग तथ स्निग्ध भोजन का त्याग।
5. **कायक्लेश**—इसका शाब्दिक अर्थ है—काया को कष्ट देना। अर्थात् शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव रखना तथा आसन आदि के द्वारा शरीर को साध लेना। इसमें स्वतः प्राप्त और इच्छा से स्वीकृत दोनों ही प्रकार के कष्टों को झेलता है।
6. **प्रतिसंलीनता**—इन्द्रिय और मन को वश में रखना। प्रति शब्द से प्रस्तुत प्रकरण में आत्मा के प्रति लिया है। संलीनता का अर्थ है पूर्ण लीन होना। तात्पर्य हुआ—आत्मा के प्रति पूर्णरूप से लीन होना, आत्मरमण करना इत्यादि।

8.2.3 आन्तरिक तप के छः प्रकार

7. **प्रायश्चित्त**—प्राय का शाब्दिक अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है उसकी शुद्धि। प्रायश्चित्त का अर्थ हुआ पाप की शुद्धि करना।

8. **विनय**—जिससे आठ प्रकार के कर्मों का विनयन होता है, उसे विनय कहते हैं। इस दृष्टि से विनय तप है इससे नम्रता की साधना होती है। खड़े होना, हाथ जोड़ना, गुरुजनों की भक्ति करना और भावपूर्वक शुश्रूषा भी विनय है।

9. **वैयावृत्य**—सेवा करना। सेवा से कर्मों की निर्जरा होती है इसलिए तप है। आचार्य आदि की सेवा के लिए व्यापृत होना, उनके प्रति समर्पित होना।

10. **स्वाध्याय**—अध्यात्म शास्त्र तथा सत्साहित्य का अध्ययन करना इत्यादि। स्वाध्याय से मन निर्मल होता है।

11. **ध्यान**—मन का स्थिर होना, एक आलंबन पर एकाग्र होना ध्यान है।

12. **व्युत्सर्ग**—व्युत्सर्ग अर्थात् विशेष प्रकार से छोड़ना। यह ममत्व विसर्जन की प्रक्रिया है। इसके भी दो भेद किये जाते हैं। द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। जैनधर्म में तप का विस्तृत वर्णन मिलता है।

8.3 बौद्ध में तप का स्वरूप

बौद्ध साधना में तप का अर्थ है—चित्त शुद्धि का सतत प्रयास। तप को प्रयत्न या प्रयास ही लिया जाता है और इसी अर्थ में तप का महत्त्व भी स्वीकार करते हैं। भगवान् बुद्ध महामंगलसुत्त में कहते हैं कि तप, ब्रह्मचर्य, आर्य सत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मंगल हैं। बुद्ध ने स्वयं कहा है 'मैं श्रद्धा का बीज बोता हूं उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है।' बुद्ध के अनुसार किसी तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढ़ते हैं, अकुशल धर्म घटते हैं तो अवश्य करना चाहिए। यही कारण है कि मैं तपस्वी हूं।

बुद्ध ने अभिनिष्क्रमण के बाद अन्य पंथों का परीक्षण करके तपश्चर्या का मार्ग अपनाया। उरुवेला में नदी के तट पर अपनी तपश्चर्या प्रारम्भ की। छः वर्षों की लम्बी और कठोर तपस्या की। इस तपस्या के दौरान उन्होंने अपनी भूख पर विजय प्राप्त कर ली थी। भोजन के विविध प्रयोग किये। एक दाने पर रहना, एक समय खाना, शरीर की संभाल नहीं की। शीत ऋतु में ठंड और ग्रीष्म ऋतु में गरम आतापना लेते थे। आसन के विविध प्रयोग करते। शरीर कृशप्राय हो चुका था। इतने उग्र तपस्या के बाद भी उन्हें बोधि नहीं मिली तब उन्होंने तपश्चर्या को छोड़ मध्यमप्रतिपदा का मार्ग अपना लिया।

बुद्ध का जीवन उनके साधनाकाल के तपोमय जीवन का साक्षी है। फिर भी ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि बुद्ध ने तपश्चर्या के द्वारा देह-दण्डन की प्रक्रिया को निर्वाण प्राप्ति में उपयोगी नहीं माना। उसका अर्थ इतना ही है कि बुद्ध अज्ञानमूलक देह-दण्डन को निर्वाण के लिए उपयोगी नहीं मानते। ज्ञानयुक्त तपःसाधना उनको भी मान्य थी।

8.4 पुराण में तप का स्वरूप

भारत के प्राचीनतम साहित्य वेदों में तप के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। पुराणों में सामाजिक दृष्टि को प्रमुखता देते हुए तप का विधान किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है। स्कन्ध पुराण में ब्राह्मण के लिए अनशन को परम तप कहा है। छठे समय से अधिक काल तक के तप को निषिद्ध माना गया है। आशय यह है कि शूद्र समाज की भलाई के लिए शारीरिक श्रम करता है यदि वह अधिक समय तक भोजन नहीं करेगा तो शारीरिक श्रम नहीं कर सकेगा और समाज में अव्यवस्था फैल जायेगी। पुराणों में तप को मुख्यरूप से महापातकों से मुक्ति दिलाने वाला बताया गया है। पुराणों में पाप की अवधारणा हिन्दू धर्मशास्त्रों से प्रभावित है। सुरापान और परस्त्रीगमन जैसे अनैतिक कर्मों के प्रायश्चित्त के लिए भी तप का विधान पुराणों में हैं—

'सुरापः परदारी च ब्रह्मा गुरुजल्पगः।

तपसा तरते सर्वं सर्वतश्च विमुच्यते॥' (पद्मपुराण)

पौराणिक साहित्य में अनेक ऐसी घटनाओं का वर्णन है जिनमें तप के द्वारा साधक ने अलौकिक शक्तियां प्राप्त की। महाभारत में वानप्रस्थ संन्यासियों का उल्लेख है जो मनुस्मृति में विहित तपस्याएं करते थे। मनु के अनुसार तप का अधिकार द्विज को ही है। तप के अन्तर्गत जिह्वा पर संयम, स्वाध्याय, दान और करुणा आते हैं। गर्मी में पंचाग्नि तप तपना, वर्षा में खुले आकाश के नीचे रहना, सर्दी में आर्द्र कपड़े पहनना, शरीर को कृश बनाना, कन्द मूल पर ही जीवित रहना, नग्न भूमि पर सोना, भिक्षाचर्या करना, फटे-पुराने वस्त्र पहनना, सबके प्रति मैत्री और ध्यान तपस्या के अंग माने गये हैं।

8.5 तुलना

भारतीय मानस दैहिक सुखभोग और भावनात्मक उत्तेजना का विरोधी रहा है। श्रमण परम्परा भोगवाद के विरुद्ध रही है। लौकिक सुख वस्तुतः दुःख रूप ही है। तप में केवल भोगों का ही नहीं प्रत्युत स्वेच्छा से प्रतिकूल परिस्थितियों का वरण भी है। महावीर का साधनाकाल 12 वर्ष और 13 पक्ष का है। बुद्ध का साधनाकाल 6 वर्ष का। उत्कट तपस्या, उत्कट सहिष्णुता और उत्कट ध्यान परायणता दोनों ही युगपुरुष की साधना में मिलती है। प्रारम्भ में बुद्ध ने महावीर की तरह ही तपस्वी जीवन जीया। आगे चलकर उन्होंने संबोधि का मार्ग ध्यान को चुना।

तपस्या का प्रकार भी बहुत कुछ समान रहा। महावीर कभी सूखे भात, मंथु और उड़द पर निर्भर होते। बुद्ध तिल-तण्डुल आदि पर। अभिनिष्क्रिमण के बाद बुद्ध को भी कई राजाओं ने पुनः आमंत्रित किया लेकिन उन्हें न वस्तु की और न ही भोग की कामना थी। देवकृत, मनुष्यकृत परीषह भी दोनों के ही जीवन में आए।

दोनों ही परम्पराओं में साधुओं का लक्ष्य जन्म-मरण से मुक्ति पाना है। इसके लिए दोनों परम्पराओं में ब्रह्मचर्य का विधान है। ब्रह्मचर्य को एक महान तप माना गया है। जन्म-मरण का कारण कर्म है। हमें सुख-दुःख का अनुभव कर्म के कारण होता है, तप से अशुभ कर्मों का नाश होता है। मज्झिम निकाय में महात्मा बुद्ध ने स्पष्टरूप से यह कहा है कि वे निर्ग्रन्थों के इस मत से सहमत हैं कि तप से अशुभ कर्मों का नाश होता है।

जैन और पुराण इन दोनों परम्पराओं में पापों के प्रायश्चित्त के लिए तप का विधान है। दोनों ही परम्पराओं में कुछ विशेष तिथियों पर और कुछ विशेष स्थानों पर तप करने को अतिरिक्त महत्त्व दिया गया है।

8.6 विषमताएं

जैन कर्म की निर्जरा के लिए तप करने को उचित मानता है किन्तु पुराणों में तप द्वारा किसी देवता को प्रसन्न करके वरदान रूप में विशेष शक्ति प्राप्त करने की भी प्रशंसा है। जैन परम्परा में पुत्र अथवा धन की प्राप्ति के लिए तप करने का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु पुराणों में मिलता है। पुराण जहां शूद्र के लिए तप की एक सीमा मानते हैं वहां जैन सभी को तप का अधिकारी मानते हैं। षड्जीवनिकाय की अवधारणा के कारण जैन परम्परा पंचाग्नि जैसे तप का समर्थन नहीं करती। जैन परम्परा में मनुष्य और तिर्यञ्च ही तप करते हैं देवता आदि नहीं। किन्तु पौराणिक परम्परा में शिव जैसे देव व्यक्तियों के भी तप करने का उल्लेख है।

पण्डित सुखलालजी ने अपनी पुस्तक 'समदर्शी हरिभद्र' में तपोमार्ग के विकास को चार भागों में बांटा है—1. अवधूत साधना 2. तापस साधना 3. तपस्वी साधना और 4. योग साधना। इस क्रम में साधना देह दमन से चितवृत्ति के निरोध की ओर बढ़ती गई। जैन साधना तपस्वी एवं योग साधना का समन्वित रूप में प्रतिनिधित्व करती है। जबकि बौद्ध एवं पुराण योग-साधना का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर भी वे सभी अपने विकास के मूल केन्द्र से पूर्ण अलग नहीं है। जैन आगम आचारांग का धूत अध्ययन, बौद्ध ग्रन्थ विशुद्धिमग्ग

का धूतंगनिद्देस और हिन्दू साधना की अवधूत गीता यह सब एक ही मूल केन्द्र की ओर इंगित करते हैं। पं. सुखलालजी आगे लिखते हैं कि 'अवधूत मार्ग में जिस प्रकार के तपोमार्ग का आचरण किया जाता था बुद्ध ने वैसा ही उग्र तप किया। बुद्ध तप की उत्कट कोटि पर पहुंचे थे परन्तु जब उसका परिणाम उनके लिए सन्तोषप्रद नहीं आया, तब वे ध्यानमार्ग की ओर अभिमुख हुए और तप को निरर्थक मानने तथा मनवाने लगे। शायद यह उनके उत्कट देह-दमन की प्रतिक्रिया हो।

बुद्ध ने यद्यपि योगमार्ग पर अधिक बल दिया और ध्यान की पद्धति को विकसित किया है तथापि तपस्या मार्ग का उन्होंने स्पष्ट विरोध भी नहीं किया है। उनके भिक्षुक धुतंगव्रत के रूप में तपस्या मार्ग का आचरण करते थे।

तप के भेद-प्रभेदों पर तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

जैन जहां अनशन को स्वीकारता है। पुराण में भी अनशन को तप के रूप में स्वीकार किया गया है। ऊनोदरी का वर्णन भी प्राप्त होता है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए अति भोजन वर्जित है, एक समय भोजन का आदेश है। पुराण में अतिभोजन को वर्जित ही बताया गया है। रसपरित्याग की बात भी तीनों ही दर्शनों में प्राप्त होती है। बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि वहां पर विभिन्न प्रकार के आसन, गर्मी-सर्दी की आतापना की बात आती है लेकिन उतनी कठोर नहीं जितनी कि जैनधर्म में, बौद्ध साहित्य में तप का कोई समुचित वर्गीकरण देखने में नहीं आता। बुद्ध ने मज्झिम निकाय में चार प्रकार के मनुष्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—1. एक वे जो आत्मन्तप है परन्तु परन्तप नहीं। इस वर्ग के अन्दर कठोर तपश्चर्या करने वाले तपस्वीगण आते हैं जो स्वयं को कष्ट देते हैं किन्तु दूसरों को नहीं। 2. वे जो परन्तप है आत्मन्तप नहीं। इस वर्ग में वधिक तथा पशुबलि देने वाले आते है जो दूसरों को ही कष्ट देते हैं। 3. वे जो आत्मन्तप भी हैं, परन्तप भी जैसे तपश्चर्या सहित यज्ञ करने वाले। 4. वे जो आत्मन्तप भी नहीं और परन्तप भी नहीं है। बुद्ध मध्यममार्ग के प्रतिपादन के आधार पर ऐसे ही तप को श्रेष्ठ मानते हैं जिनमें न तो स्वपीड़न और न परपीड़न। वहीं जैन विचारणा पहले और चौथे वर्गीकरण को करती है। जैन के अनुसार यदि स्वयं के कष्ट उठाने से दूसरों का हित होता है और हमारी मानसिक शुद्धि होती है तो पहला ही वर्ग सर्वश्रेष्ठ है और चौथा वर्ग मध्यममार्ग है। दूसरे और तीसरे वर्ग के लोगों को किसी भी रूप में नैतिक या तपस्वी स्वीकार नहीं करती।

8.7 सारांश–इस प्रकार जैन, बौद्ध और पुराण के तुलनात्मक अध्ययन के अन्तर्गत निम्न बिन्दु उभरकर आते हैं-

1. बौद्ध परम्परा मध्यममार्गी है इसमें तप की अति का निषेध है।
2. पुराण में विशेष शक्ति प्राप्त करने के लिए तप का विधान है।
3. सभी परम्पराओं में कायिक, वाचिक और मानसिक तप को स्थान दिया गया है।
4. बौद्ध परम्परा ने मानसिक तप को अधिक महत्त्व दिया है जैन परम्परा कायिक तप को भी महत्त्व देती है।
5. सभी परम्पराओं में तप के साथ जीवन में संयम बरतने पर बल दिया गया है।
6. अपरिग्रह, अहिंसा और विलास रहित जीवन तप की अनिवार्य शर्त है इत्यादि।

8.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन, बौद्ध और पुराण में वर्णित तप की अवधारणाओं में समानता और विषमता पर प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. बाह्य तप के छः भेदों को स्पष्ट करें।

2. पुराण में तप की क्या अवधारणा रही है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. साधना का चौथा अंग कौन सा है?
2. महावीर का साधनाकाल कितने वर्ष का था?
3. जैन साधना का लक्ष्य क्या है?
4. उत्तराध्ययन में उल्लिखित तप के दो भेदों का उल्लेख करें।
5. बौद्ध के अनुसार तप क्या है?
6. बुद्ध के अनुसार चार मंगल कौन से हैं?
7. शूद्र को कितने समय तक के तप का विधान है?
8. जैन किस लक्ष्य से तप करने को उचित मानता है?
9. राजवार्तिककार के अनुसार तप की क्या परिभाषा है?
10. आभ्यन्तर निर्जरा के कोई तीन नाम लिखें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. सम्यक् तप
2. 12.5 वर्ष का
3. मोक्ष या शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि
4. बाह्य और आभ्यन्तर
5. चित्तशुद्धि का सतत प्रयास
6. तप, ब्रह्मचर्य, आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार
7. छठे समय तक
8. निर्जरा के लक्ष्य से
9. कर्मदहनात्तप
10.

☆☆☆

इकाई–9 : व्रत का स्वरूप—जैन, बौद्ध एवं योग

संरचना

9.0 प्रस्तावना

भारतीय तत्त्व चिन्तकों ने मानव जीवन की श्रेष्ठता और सार्थकता के उपायों पर गहराई से चिन्तन किया है। **"दुल्लहे खलु माणुसे भवे"** कहकर मानव जन्म की दुर्लभता प्रतिपादित की है। जीवन को उत्कर्ष की ओर निरन्तर ले जाने और गतिशील बनाए रखने के लिए व्रत-नियम का पालन अत्यन्त अनिवार्य है। व्रत केवल समस्याओं को ही नहीं सुलझाता वरन् वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान भी करता है। आज देश में आतंकवाद, भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि जितनी भी समस्याएं उभर रही हैं उन सबका मूल कारण व्रत का अभाव है।

व्रत विहीन व्यक्ति तटहीन नदी की भांति उच्छृंखल और स्वच्छन्द होता है वह कभी भी प्रलय की स्थिति उत्पन्न कर सकता है।

उच्छृंखल मन को वश में करने का एकमात्र उपाय व्रत की लगाम है। व्रत के अभाव में अग्रिम विकास की बाधाएं निरस्त नहीं हो सकतीं।

9.1 उद्देश्य–व्रत का महत्त्व सभी दर्शनों में एक स्वर से स्वीकार किया है। जैनदर्शन जिन्हें व्रत, बौद्ध दर्शन उन्हें शील और योगदर्शन यम कहता है जिनका अध्ययन यहां अपेक्षित है।

9.2 व्रत का अर्थ

व्रत का अर्थ है स्वेच्छा से मर्यादा को स्वीकार करना। दूसरे शब्दों में व्रत का अर्थ है इच्छा नियंत्रण या सत्संकल्प। किसी कार्य को करने या न करने का मानसिक संकल्प। आचार्य उमास्वाति के अनुसार 'असत्प्रवृत्तियों का त्याग ही व्रत है।' हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है।

9.2.1 व्रत के भेद

साधनात्मक पथ पर चलने की क्षमताएं व्यक्ति में भिन्न हो सकती हैं और ऐसी स्थिति में सभी के लिए साधना के समान नियम प्रस्तुत नहीं किए जा सकते। एक श्रमण अहिंसा आदि महाव्रत का पालन निर्विकल्प रूप से अर्थात् अपवाद रहित करता है। किन्तु गृहस्थ अपवाद के साथ अहिंसा आदि का पालन करता है। अत: साधकों की वैयक्तिक क्षमताओं के अनुकूल साधना की विभिन्न कक्षाएं निश्चित हैं। जैन दर्शन में आचरण की क्षमता के आधार पर व्रत को दो भागों में विभक्त किया गया—महाव्रत और अणुव्रत।

- असीम रूप से स्वीकार किए जाने वाले व्रत महाव्रत और सीमा के साथ स्वीकार किए जाने वाले व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।
- असत्वृत्तियों से पूर्णत: निवृत्ति को महाव्रत तथा आंशिक रूप से निवृत्ति को अणुव्रत कहा जाता है।
- आचार्य उमास्वाति के अनुसार सम्पूर्ण रूप से व्रतों का पालन करना महाव्रत तथा अल्प अंश में व्रतों का पालन अणुव्रत कहलाता है।

जो व्यक्ति मुनि नहीं बन सकते, महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते उनके लिए अगारधर्म का रास्ता खुला है। गृहस्थ धर्म के बारह प्रकार हैं—1. अहिंसा 2. सत्य 3. अचौर्य 4. ब्रह्मचर्य 5. अपरिग्रह 6. दिग्व्रत 7. भोगोपभोग परिमाण व्रत 8. अनर्थदण्ड 9. सामायिक व्रत 10. देशावकाशिक 11. पौषधोपवास 12. यथासंविभाग व्रत। उनको दो वर्गों में बांटा जा सकता है।

प्रथम वर्गीकरण में पांच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रत का रूप प्रचलित है। यह उल्लेख **उपासकदशांग** में मिलता है।

दूसरे वर्गीकरण में उसके तीन विभाग किए जाते हैं—पाचं अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

जैन दर्शन के अनुसार मुनि की तरह गृहस्थ भी व्रत की आराधना कर सकता है। गृहस्थ हिंसा आदि असत्प्रवृत्तियों का त्याग आंशिक रूप से करता है अत: उसके द्वारा स्वीकृत संकल्प अणुव्रत कहलाते हैं। मुनि उसका पूर्ण रूप से त्याग करता है अत: मुनि के द्वारा स्वीकृत संकल्प महाव्रत कहलाते हैं।

महाव्रत की भांति अणुव्रत भी पांच हैं तथा इन दोनों के नाम में भी साम्यता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये ही नाम अणुव्रत के भी हैं और महाव्रत के भी, किन्तु इन व्रतों के पालन करने में अन्तर है। महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन करना होता है जबकि अणुव्रतों का क्षमता के अनुसार।

व्रत का स्वरूप व प्रकारों के विषय में **जैनागमों** अच्छा विश्लेषण उपलब्ध होता है शायद कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसलिए सर्वप्रथम व्रत के स्वरूप व प्रकारों के विश्लेषण के लिए हम एक दृष्टि **जैन आगमों** पर डालेंगे—

9.3 व्रत के प्रकार : जैन आगमों की दृष्टि में

9.3.1 अहिंसाव्रत

अहिंसा जैन आचार दर्शन का प्राण है। अहिंसा वह धुरी है जिस पर समग्र जैन आचार विधि अवलम्बित है। **आचारांग** सूत्र में कहा गया—किसी भी प्राणी-भूत-जीव और सत्त्व को किसी प्रकार का

परिताप, दु:ख, कष्ट तथा हनन नहीं करना चाहिए। **सूत्रकृतांग** के अनुसार ज्ञानी होने का सार यह है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा को जानने के लिए हिंसा के स्वरूप को भी जानना आवश्यक है। **तत्त्वार्थसूत्र** में **आचार्य उमास्वाति** ने कहा— **"प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा"** प्रमत्तयोग से प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है। मन, वचन, काय की प्रमादयुक्त प्रवृत्ति हिंसा है। हिंसा का सूक्ष्म रहस्य समझने के लिए जैनाचार्यों ने हिंसा के तीन विभाग किये हैं—

हिंसा के तीन विभाग

1. **संकल्पजा**—संकल्प या विचारपूर्वक हिंसा करना।
2. **विरोधजा**—राष्ट्र पर शत्रु का आक्रमण होने पर जो युद्ध अथवा संघर्ष आदि के द्वारा हिंसा होती है वह विरोधजा हिंसा है।
3. **आरम्भजा**—जीवन निर्वाह के निमित्त होने वाली, उद्योग एवं व्यवसाय के निमित्त होने वाली हिंसा।

जैन आगम साहित्य में अहिंसा का सूक्ष्मता से विस्तृत विवेचन मिलता है। जैनधर्म में जीवन की हर प्रवृत्ति में अहिंसा की महत्ता उजागर हुई है फिर चाहे वह चलना, बोलना, सोना, खाना कुछ भी क्रिया हो।

जैन श्रमण अहिंसाव्रत का पूर्णरूप से पालन करता है वह मन, वचन, काय से किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, नहीं करवाता है और न ही करने वाले का अनुमोदन करता है। इसका विस्तृत विवेचन **'दसवेआलियं'** के चतुर्थ अध्ययन में उपलब्ध होता है। किन्तु एक गृहस्थ इस प्रकार हिंसा का पूर्णरूप से त्याग नहीं कर सकता। क्योंकि गृहस्थ का जीवन हिंसा के बिना चल नहीं सकता, इसलिए वह पूर्ण अहिंसा का जीवन जी नहीं सकता। अत: वह अनावश्यक हिंसा का परिहार करता है; हिंसा के अल्पीकरण का मार्ग अपनाता है तथा चलने-फिरने वाले निरपराध प्राणियों को जान बूझकर मारने का त्याग करता है। निरपराध प्राणी की संकल्पपूर्वक हत्या नहीं करता यह अहिंसा की न्यूनतम सीमा है। अहिंसा अणुव्रत को व्यापक बना दिया जाए तो आतंकवाद की समस्या का समाधान अपने आप हो सकता है। क्योंकि इस व्रत की स्वीकृति के फलस्वरूप निरपराध मनुष्यों की हत्या सहज रूप में निषिद्ध हो जाती है।

गृहस्थ को अहिंसा अणुव्रत का सम्यक् पालन करने के लिए अहिंसा के पांच अतिचार हैं इनसे बचना चाहिए—

1. **वध**—प्राणियों को लकड़ी, चाबुक आदि से मारना अथवा पीटना।
2. **बन्धन**—गाढ़ बन्धन से बांधना। पशु-पक्षियों को पिंजरे में डालना अथवा उन्हें अपने इष्ट स्थान पर जाने से रोकना।
3. **अंगभंग**—चमड़ी उतारना और नाक, कान आदि अवयवों को काटना।
4. **अतिभार**—प्राणियों पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना अथवा अधिक काम लेना अतिभार है।
5. **भोजन-पानी का निरोध**—अपने आश्रित प्राणी के खान, पान या आजीविका में कटौती करना।

9.3.2 सत्यव्रत

आचार्य उमास्वाति ने असत्य की व्याख्या करते हुए कहा है—**"असदभिधानमनृतम्"** असदभिधान के तीन अर्थ हैं—

1. असत् अर्थात् जो बात नहीं है, उसको कहना।
2. जैसी बात है वैसी न कहकर दूसरे रूप में कहना।
3. बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना।

जो जैसा है वैसा न कहना असत्य है। ठीक इसके विपरीत सत्य है। सत्य को परिभाषित करते हुए **"जैन सिद्धान्त दीपिका"** में कहा गया है—**"सद्भावोद्भावनं सत्यम्"** अर्थात् यथार्थ के प्रकाशन को सत्य कहा जाता है।

सत्य के चार प्रकार हैं—

1. काय ऋजुता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली शरीर की प्रवृत्ति।
2. भाषा ऋजुता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली वाणी की प्रवृत्ति।
3. भाव ऋजुता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली मन की प्रवृत्ति।
4. अविसंवादनयोग—कथनी और करनी में समानता रखना।

प्रस्तुत व्रत का संबंध मुख्य रूप से भाषण अथवा वचन-प्रयोग के साथ है। मुनि असत्य बोलने का सर्वथा त्याग करता है। सत्य महाव्रतधारी मुनि किसी भी परिस्थिति में असत्य नहीं बोल सकता तथा ऐसा अप्रिय सत्य भी नहीं बोल सकता जिससे किसी की आत्मा को कष्ट पहुंचे। जैसे मुनि रोगी को रोगी नहीं कह सकता, काणे को काणा नहीं कह सकता। **दशवैकालिक** के सातवें वाक्य शुद्धि अध्ययन में इसका विशद विवेचन मिलता है।

श्रावक श्रमण की भांति पूर्ण रूप से सत्यव्रत का पालन नहीं कर सकता। गृहस्थ पर पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्व का भार होता है। इसलिए वह सूक्ष्मता से सत्यव्रत का पालन नहीं कर सकता, किन्तु स्थूल मृषावाद का त्याग करता है। सत्य अणुव्रत का पालन करने वाला श्रावक पुष्ट आधार के बिना किसी पर दोष का आरोपण नहीं करता। क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वश किसी के लिए अहितकारक असत्य नहीं बोलता। किसी के गोपनीय रहस्य का उद्घाटन नहीं करता। किसी को गलत पथदर्शन नहीं देता और झूठी साक्षी नहीं देता। वह झूठा या जाली लेख भी नहीं लिखता। अनेक कारणों से मानव स्थूल असत्य का प्रयोग करता है। **उपासकदशांग** में स्थूल असत्य के मुख्य पांच प्रकार बताये हैं जिनका श्रमणोपासक परित्याग करता है। वे इस प्रकार हैं—

1. कन्या के संबंध में झूठी जानकारी देना।
2. गाय के संबंध में झूठी जानकारी देना।
3. भूमि के संबंध में असत्य भाषण करना।
4. न्यास धरोहर के संबंध में झूठ बोलना।
5. झूठी साक्षी देना।

9.3.2.1 स्थूल मृषावाद अतिचार

पूर्णरूप से सावधानी रखने पर भी प्रस्तुत व्रत में जिन दोषों के लगने की संभावना रहती है, वे मुख्य रूप से पांच हैं—

1. सहसाभ्याख्यान—बिना सोचे समझे अचानक किसी पर दोषारोपण करना।
2. रहस्याभ्याख्यान—किसी की गोपनीय बात को दूसरे के सामने बताना।
3. स्वदार मन्त्रभेद—पति-पत्नी की आपस में हुई गुप्त बातों को किसी अन्य के सामने प्रकट करना स्वदार या स्वपति मन्त्रभेद है।
4. मिथ्याउपदेश—सच्चा-झूठा समझाकर किसी को कुमार्ग पर लगाना। असत्य का उपदेश देना। बेईमानी, नापतोल में कमी करना आदि मिथ्या कार्यों के लिए प्रेरणा देना मिथ्या उपदेश है।
5. कूटलेखकरण—जाली हस्ताक्षर और दस्तावेज तैयार करना। श्रावकों को इन सभी अतिचारों से बचकर सम्यक् प्रकार से सत्य अणुव्रत का पालन करना चाहिए।

9.3.3 अस्तेयव्रत

बिना दी हुई वस्तु लेना स्तेय (चोरी) है, किन्तु बिना दी हुई (अदत्त) वस्तु ग्रहण न करना अस्तेय है। **दशवैकालिक** में कहा गया—मुनि बिना अनुमति दन्तशोधन के लिए तृण आदि भी नहीं ले सकता क्योंकि मुनि पूर्ण रूपेण अस्तेय महाव्रत का पालन करता है। एक गृहस्थ के लिए पूर्णरूपेण अस्तेयव्रत का पालन नहीं हो सकता, क्योकि सांसारिक व्यवहार चलाने के लिए अस्तेय व्रत की अखंड आराधना नहीं कर सकता। इसलिए अस्तेय अणुव्रत में गृहस्थ डाका डालना, ताला तोड़कर पराई वस्तु लेना, लूट-खसोट करना, किसी की सम्पत्ति पर अनधिकार चेष्टा करना ऐसी स्थूल चोरी का सर्वथा त्याग करता है।

9.3.3.1 अस्तेयव्रत के अतिचार

अस्तेयव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए कभी प्रमाद या असावधानी से जो दोष लग जाते हैं, उन्हें अतिचार कहा है। वे मुख्य रूप से पांच हैं। **उपासकदशांगसूत्र** में इनका वर्णन उपलब्ध होता है—

1. स्तेनाहृत—चोर द्वारा चुराई हुई वस्तु लेना। चोरी का माल खरीदना, चोरी करने के समान ही दूषित प्रवृत्ति है।
2. तस्कर प्रयोग—व्यक्तियों को रखकर उनके द्वारा चोरी, ठगी आदि करवाना तथा प्रोत्साहन देना अथवा चोरों को चोरी करने में विभिन्न प्रकार से सहयोग देना।
3. विरूद्ध राज्यातिक्रम—राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, राजकीय आदेशों के विपरीत वस्तुओं का आयात-निर्यात करना तथा समुचित राजकीय कर का भुगतान नहीं करना। विरोधी राज्य की सीमा का उल्लंघन करके वहां के लोगों को माल देना और वहां से माल लाना, शासन विरूद्ध कार्य करना।
4. कूटतुला-कूटमाप—न्यूनाधिक माप-तोल करना। माप तोल में बेईमानी करना भी एक प्रकार की चोरी है।
5. तत्प्रतिरूपक व्यवहार—वस्तुओं में मिलावट करना। अच्छी वस्तु बताकर बुरी वस्तु देना। आज व्यापारी वर्ग इन अतिचारों का सेवन न करें तो देशवासियों को हर दृष्टि से लाभ हो सकता है।

9.3.4 ब्रह्मचर्य व्रत

गुरुदेव श्री तुलसी ने ब्रह्मचर्य को परिभाषित करते हुए **जैन सिद्धान्त दीपिका** में लिखा है—**"इन्द्रियमनः संयमो ब्रह्मचर्यम्"** इन्द्रिय और मन का संयम ही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य मानव जीवन का श्रृंगार है, सब व्रतों में प्रधान है, आन्तरिक शक्ति है। जिस शक्ति के विकसित होने पर विश्व की अन्य शक्तियां ब्रह्मचारी के चरणों में नत हो जाती है, इतना ही नहीं देवता भी उसके चरणों में नमस्कार करते हैं। मोक्ष मार्ग की आराधना के लिए ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक मानी गई है। श्रमण पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करता है। किन्तु घर में रहते हुए श्रावक के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन असंभव तो नहीं किन्तु अत्यन्त कठिन अवश्य है। इसलिए गृहस्थ के साधना क्रम में स्वदारसन्तोष या स्वपत्नी संतोष का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस प्रयोग से उन्मुक्त वासना सिमटकर एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती है। श्रावक संकल्प करता है मैं अपनी पत्नी के अतिरिक्त शेष सभी स्त्री जाति के साथ मैथुन का परित्याग करता हूँ।

ब्रह्मचर्य व्रत आत्म सुरक्षा का सहज उपाय है और उन्मुक्त भोग की समस्या से बचने का प्रशिक्षण है। इस व्रत की साधना करने वाला इन्द्रिय संयम का विशेष अभ्यास करता है। स्वदार संतोष व्रत को पारिवारिक जीवन का आधार माना जा सकता है। अतः स्वदार संतोष व्रत के पांच अतिचार प्रत्येक श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं—

9.3.4.1 स्वदार संतोष व्रत के अतिचार

1. **इत्वरिक परिगृहीतागमन**—कुछ समय के लिए पैसे देकर या किसी तरह से अपने यहां पर रखी हुई स्त्री के साथ गमन करना। जो महिला अपनी स्त्री नहीं है उसे कुछ समय के लिए अपनी मानना और उसके साथ पत्नीवत् व्यवहार करना अतिचार है।
2. **अपरिगृहीतागमन**—अपरिगृहीता अर्थात् वह स्त्री जिस पर किसी का अधिकार नहीं है अर्थात् वेश्या। वेश्या के साथ समागम करना यह अपरिगृहीतागमन है। कुछ आचार्यों का कहना है अपरिगृहीत अर्थात् किसी के द्वारा ग्रहण नहीं की गई अर्थात् कुमारी।
3. **अनंगक्रीड़ा**—मैथुन के स्वाभाविक अंगों से काम वासना की पूर्ति न करके अप्राकृतिक अंगों जैसे हस्त, मुख, गुदा आदि बाह्य उपकरणों से जैसे चर्म आदि से वासना की पूर्ति करना।
4. **परविवाहकरण**—अपने पुत्र और पुत्रियों का विवाह करना, श्रावक के चतुर्थव्रत के अन्तर्गत है। किन्तु कन्यादान में पुण्य समझकर और रागादि के कारण दूसरों के लिए लड़के-लड़कियां ढूंढ़ना उनका विवाह करना पर विवाहकरण नामक अतिचार है।
5. **काम भोगतीव्र अभिलाषा**—काम वासना के सेवन की तीव्र इच्छा रखना अथवा कामवासना के उत्तेजन के लिए कामवर्धक औषधियां व मादक द्रव्यों का सेवन करना गृहस्थ के लिए निषिद्ध हैं।

9.3.3 अपरिग्रहव्रत

जैन आगमों के अनुसार परिग्रह का वास्तविक अर्थ बाह्य वस्तुओं का संग्रह नहीं किन्तु आन्तरिक मूर्च्छाभाव या आसक्ति से है। **तत्त्वार्थसूत्र** में भी मूर्च्छा या आसक्ति को ही परिग्रह कहा गया है। गुरुदेव श्री तुलसी के अनुसार ममत्व और अहंकार दोनों परिग्रह हैं। अतः ममत्व और मूर्च्छा से जुड़ी हुई समस्त वस्तुएं ही परिग्रह हैं। अपरिग्रह को परिभाषित करते हुए **जैन सिद्धान्त दीपिका** में कहा गया है—**"ममत्वविसर्जनं अपरिग्रहः"** अर्थात् ममत्व विसर्जन या इच्छाओं को सीमित करना अपरिग्रह व्रत है।

अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाला केवल अर्थार्जन और भोग का संयम ही नहीं करता वह अर्थ की आसक्ति एवं अहं से भी बचता है।

प्रस्तुत व्रत का महत्त्व अन्य दृष्टि से भी है। इस विश्व में सोना, चांदी, हीरे, पन्ने, माणिक, मोती, भूमि, अन्न, वस्त्र आदि जितने भी पदार्थ हैं वे परिमित हैं। एक व्यक्ति उनका अधिक संग्रह करता है तब विषमता उत्पन्न होती है। अपरिग्रहव्रत उनको शांत करता है। जीवन में सुख और शांति पैदा करता है। **"उपासकदशा"** में उन समस्त परिग्रहों को दो विभागों में विभक्त किया गया है—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह।

9.3.5.1 बाह्य परिग्रह

बाह्य परिग्रह के नौ प्रकार हैं—

1. **क्षेत्र**—उपजाऊ भूमि की मर्यादा।
2. **वास्तु**—मकान, दुकान, गोदाम, अतिथिगृह, बंगला आदि।
3. **हिरण्य**—चांदी के बर्तन आभूषण तथा चांदी के अन्य उपकरण आदि।
4. **सुवर्ण**—स्वर्ण, स्वर्ण के बर्तन, स्वर्ण के आभूषण आदि।
5. **धन**—रुपये, पैसे, सिक्के आदि।
6. **धान्य**—अन्न, गेहूं, चावल आदि।
7. **द्विपद**—दो पांव वाले प्राणी—दास, दासी आदि।

8. चतुष्पाद—हाथी, घोड़ा, गधा आदि।

9. कुप्य या गोप्य—सोने चांदी की वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य घर में काम आने वाली वस्तुएं।

9.3.5.2 आभ्यन्तर परिग्रह

आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है—

1. मिथ्यात्व	2. हास्य	3. रति	4. अरति	5. भय
6. शोक	7. जुगुप्सा	8. स्त्रीवेद	9. पुरुषवेद	10. नपुंसकवेद
11. क्रोध	12. मान	13. माया	14. लोभ।	

श्रमण आभ्यन्तर एवं बाह्य सब प्रकार के परिग्रह का पूर्णरूप से त्याग करता है। **दसवैकालिकसूत्र** में कहा गया है कि श्रमण को सभी प्रकार के परिग्रह चाहे वह अल्प हो या अधिक, चाहे वह सचित्त हो या अचित्त सबका त्याग करना होता है। अतः श्रमण तीन करण, तीन योग से परिग्रह रखने का त्याग करता है। किन्तु श्रावक पूर्णरूप से परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता। वह नौ प्रकार के परिग्रह में से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा कर शेष समस्त वस्तुओं के ग्रहण व संग्रहण का त्याग करता है। संग्रह वृत्ति कम होने से ही संसार में अमीरी गरीबी की विषमता समाप्त हो सकती है। भगवान् महावीर ने कभी नहीं कहा कि एक गृहस्थ अर्थार्जन न करे अथवा अपरिग्रही बन जाए। स्वयं महावीर के श्रावक करोड़ों की सम्पदा के स्वामी थे। भगवान् महावीर ने कहा—इच्छा का परिमाण करो, इच्छा की सीमा करो तथा आसक्ति का परिहार करो।

इच्छाओं को सीमित करना पांचवां अणुव्रत है इससे आर्थिक उलझने अपने आप शांत हो जाती हैं। गृहस्थ के सन्दर्भ में अपरिग्रह के तीन सूत्र बनते हैं—

1. अर्जन में नैतिकता—अशुद्ध साधन का उपयोग नहीं करना,
2. अर्जन की सीमा—अमुक स्थिति तक पहुंचने के बाद व्यवसाय से मुक्त होना,
3. अर्जित सम्पत्ति के व्यक्तिगत भोग का संयम।

9.3.5.3 अपरिग्रह व्रत के अतिचार

स्थूल अपरिग्रह व्रत के पांच अतिचार हैं—

1. **क्षेत्रवस्तु प्रमाणातिरेक**—खेत और घर के प्रमाण का अतिक्रमण करना।
2. **हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिरेक**—सोने और चांदी के प्रमाण का अतिक्रमण करना।
3. **धन-धान्य प्रमाणातिरेक**—धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रमण करना।
4. **द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिरेक**—नौकर, पशु, पक्षी आदि के प्रमाण का अतिक्रमण करना।
5. **कुप्यप्रमाणातिरेक**—गृह सामग्री के प्रमाण का अतिक्रमण करना। इस व्रत को ग्रहण करने से जीवन में सादगी, मितव्ययिता और शांति अनुभव हो सकती है।

9.4 बौद्धदर्शन में व्रत का स्वरूप

भगवान् बुद्ध ने पांच अणुव्रतों के स्थान पर पांच शीलों का प्रतिपादन किया है। अन्तर केवल यह है कि भगवान् बुद्ध का पांचवां शील मद्य निषेध है, जबकि जैन विचारणा का पांचवां परिग्रह परिमाण है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध विचारणा में गृहस्थ उपासक के लिए परिग्रह मर्यादा को इतना अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया गया जितना कि जैन परम्परा में दिया गया है। यद्यपि बुद्ध के अनेक वचन परिग्रह की मर्यादा की ओर संकेत करते हैं। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि जो मनुष्य क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, गौ, अश्व, दास इत्यादि की कामना करता है उसे वासनाएं दबाती हैं। तब वह पानी में टूटी नाव की तरह दुःख में पड़ता है। बौद्ध

विचारणा का मद्य निषेध जैन आचार साधना में स्वीकृत है किन्तु उसके लिए स्वतन्त्र अणुव्रत की मान्यता जैनागमों में नहीं है। मद्य निषेध को सातवें उपभोग-परिभोग नामक अणुव्रत के अन्तर्गत ही मान लिया गया है। यदि हम बौद्ध दृष्टि से व्रतों का विवेचन करें तो हमें जैन विचार सम्मत गृहस्थ जीवन के बारह व्रतों के स्थान पर अष्ट शील एवं भिक्षु संघ संविभाग की धारणा मिलती है। वे इस प्रकार हैं—1. हिंसा परित्याग 2. चोरी परित्याग 3. अब्रह्मचर्य परित्याग 4. असत्य परित्याग 5. मद्यपान परित्याग 6. रात्रि एवं विकाल भोजन परित्याग 7. माल्यगन्ध धारण परित्याग 8. उच्च शय्या परित्याग 9. भिक्षु संघ संविभाग।

जैन परम्परा में जहां दूसरा व्रत मृषावाद है वहां बौद्ध परम्परा में चतुर्थ व्रत के रूप में उपलब्ध होता है। बौद्ध परम्परा में दस भिक्षु शील माने गये हैं जिनकी जैन परम्परा के पांच महाव्रतों के साथ साम्यता है। वे दश शील इस प्रकार हैं—

1. प्राणातिपात विरमण   2. अदत्तादान विरमण   3. अब्रह्मचर्य विरमण
4. मृषावाद विरमण   5. सुरामेरय मद्य विरमण   6. विकाल भोजन विरमण
7. नृत्यगीतवादित्र विरमण   8. माल्यधारण गंध विलेपन विरमण   9. उच्च शय्या, महाशय्यया विरमण
10.जातरूप रजत ग्रहण विरमण।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो इनमें से 6 शील पंचमहाव्रत और रात्रिभोजन परित्याग के रूप में जैन परम्परा में भी स्वीकृत हैं। शेष चार भिक्षुशील भी स्वीकृत हैं यद्यपि महाव्रत के रूप में इनका उल्लेख नहीं है। अतः हम उसकी चर्चा नहीं करेंगे।

जैन परम्परा में महाव्रतों और बौद्ध परम्परा के भिक्षुशीलों में न केवल शाब्दिक समानता वरन् दोनों की भावना भी समान है। जैनों की भांति बौद्ध विचारकों ने भी इनके सम्बन्ध में गहराई से विवेचन किया है। तथागत बौद्ध ने भी भिक्षुओं एवं उपासकों के लिए मुख्यरूप से पंचशील का ही प्रतिपादन किया है—

9.4.1 प्राणातिपात विरमण

बौद्ध धर्म में भी भिक्षु के लिए हिंसा वर्जित है। इतना ही नहीं बौद्ध परम्परा में भिक्षु के लिए मन, वचन, काय और कृत, कारित तथा अनुमोदित हिंसा का निषेध है। **विनयपिटक** में कहा गया—वनस्पति को तोड़ना और भूमि को खोदना भी भिक्षु के लिए त्याज्य है, क्योंकि इसमें प्राणियों की हिंसा की संभावना है। जैन परम्परा के समान बौद्ध परम्परा पृथ्वी, पानी, आदि में जीवन को स्वीकार नहीं करती है, फिर भी पृथ्वी, पानी आदि में जीव रहते हैं इसे स्वीकार करती है। अतः बौद्ध भिक्षु के लिए सचित्त जल का पीना निषेध नहीं। मात्र नियम यह है कि उसे जल छानकर पीना चाहिए।

9.4.2 अदत्तादान विरमण

जैन और बौद्ध दोनों परम्पराएं यह स्वीकार करती हैं कि भिक्षु को कोई भी वस्तु स्वामी के दिये बिना ग्रहण नहीं करनी चाहिए। बौद्ध भिक्षु भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षावृत्ति के द्वारा ही करता है। बौद्ध परम्परा में न केवल उन बाह्य वस्तुओं के लिए ही अस्तेय व्रत को स्वीकार किया है जिनका कोई स्वामी हो वरन् यह भी स्वीकार करती है कि न केवल नगर में किन्तु जंगल में भी बिना दी हुई वस्तु नहीं लेनी चाहिए। **विनयपिटक** के अनुसार जो भिक्षु बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करता है, वह अपने श्रमण जीवन से च्युत हो जाता है। **संयुत्तनिकाय** में कहा गया है कि यदि भिक्षु फूल को सूंघता है तो भी वह चोरी करता है।

9.4.3 अब्रह्मचर्य विरमण

बौद्ध आचार दर्शन भी भिक्षु-भिक्षुणी के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का विधान करता है, वहां गृहस्थ साधक के लिए स्वपत्नी अथवा स्वपति तक ही सहवास को सीमित करने का विधान करता है। **विनयपिटक** के अनुसार भिक्षु के लिए स्त्री का स्पर्श भी वर्जित माना गया है।

9.4.4 मृषावाद

जैन परम्परा की भांति बौद्ध परम्परा में भी भिक्षु के लिए असत्य भाषण वर्जित है। भिक्षु न स्वयं असत्य बोले, न अन्य से असत्य बुलवावे, न किसी को असत्य बोलने की अनुमति दे। बौद्धधर्म के अनुसार भिक्षु को सत्यवादी होना चाहिए। वह मिथ्याभाषण न करे, न किसी की चुगली ही करे, न कपटपूर्ण वचन बोले। बुद्ध का कथन है कि जो वचन सत्य हो लेकिन अहितकर हो तो न बोले परन्तु जो वचन सत्य हो, वह प्रिय या अप्रिय होते हुए भी हित दृष्टि से बोलना हो उसे बुद्ध बोलते हैं। **दीघनिकाय** के अनुसार भिक्षु को असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए तथा हमेशा उचित एवं अर्थपूर्ण वचन ही बोलना चाहिए। गृहस्थोचित भाषा बोलना भी वर्जित है। भिक्षु को हमेशा कठोर वचन का परित्याग कर नम्र एवं मधुर वचन बोलने का ही विधान है।

9.4.5 सुरामेरय मद्य विरमण

बौद्ध भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के लिए ही सुरापान, मद्यपान एवं नशीले पदार्थों का सेवन वर्जित है। जैन परम्परा में भी गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिए मद्यपान वर्जित है।

9.4.6 विकाल भोजन विरमण

भिक्षुओं के लिए विकाल भोजन एवं रात्रिभोजन को त्याज्य बताया गया है। **मज्झिम निकाय** में बुद्ध कहते हैं—हे भिक्षुओ! मैंने रात्रिभोजन को छोड़ दिया है, उससे मेरे शरीर में व्याधि कम हो गई है, शरीर में बल आया है, चित्त को शांति मिली है। हे भिक्षुओ! तुम भी ऐसा ही आचरण रखो। बौद्ध दर्शन में दिन के बारह बजे के पश्चात् से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व तक का समय विकाल माना जाता है। इस समय भोजन करना बौद्ध भिक्षुओं के लिए वर्जित है।

9.5 जैन और बौद्ध तुलनात्मक विश्लेषण

जैन विचारणा के परिग्रह परिमाण व्रत एवं दिशा परिमाण व्रत का विवेचन बौद्ध विचारणा में स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होता है। जैन विचारणा के सामायिक व्रत को सम्यक् समाधि के अन्तर्गत माना जा सकता है। यद्यपि उसका शील (व्रत) के रूप में निर्देश बौद्ध ग्रन्थों में नहीं है। इसी प्रकार जैन देशावकाशिक व्रत को बौद्ध उपोसथ के अन्तर्गत तथा बौद्ध मद्यपान एवं रात्रि भोजन परित्याग को जैन उपभोग-परिभोग व्रत का आंशिक रूप माना जा सकता है। दूसरी अपेक्षा से विकाल भोजन, माल्यगन्धधारण और उच्चशय्या परित्याग तीनों शील उपोसथ के विशेष अंग होने से जैन पौषध व्रत से तुलनीय है।

जैन विचारणा के द्वारा गृहस्थ उपासक के लिए पांच अणुव्रतों की व्यवस्था है, वहां बौद्ध विचारणा में पंचशील की व्यवस्था है। लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि बौद्ध विचारणा में भिक्षु एवं गृहस्थ उपासक के लिए आचरणीय पंचशील में कोई अन्तर नहीं है। गृहस्थ उपासक की सीमाओं का ध्यान रखकर उनमें कोई संशोधन नहीं किया गया है। जैसे **सुत्तनिपात** में गृहस्थ धर्म के उपदेश में गृहस्थ उपासक के लिए त्रस एवं स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का निषेध है जबकि गृहस्थ उपासक का स्थावर प्राणियों के हिंसा से विरत होना संभव नहीं है।

जैन विचारणा भिक्षु के पांच महाव्रतों को सामर्थ्य के अनुसार पालन करने हेतु अणुव्रतों के रूप में उन्हें गृहस्थ उपासक के लिए प्रस्तुत करती है। जिससे उन व्रतों की प्रतिज्ञाओं का सम्यक् परिपालन हो सके। जैन विचारणा में अणुव्रतों की प्रतिज्ञा का विधान अधिकांश रूप में मन से करना, वचन से करना और शरीर से करना, इसी प्रकार—मन से कराना, वचन से कराना तथा शरीर से कराना—इन छह भंगों या छह से कम भंगों से किया गया है वहां बौद्ध विचारणा ने नव भंगों का विधान किया है, क्योंकि **सुत्त निपात** में हिंसा विरमण, मृषाविरमण और अदत्तादान विरमण में कृत, कारित, अनुमोदित अर्थात् करना, कराना और अनुमोदन

करना इन नव कोटियों का विधान किया गया है जो मनसा, वचसा, कर्मणा की दृष्टि से नव बन जाती है। जैन विचारणा केवल साधु के लिए ही नवभंग प्रतिज्ञा का विधान करती है। यद्यपि ब्रह्मचर्य या परस्त्री अनतिक्रमण की प्रतिज्ञा में जैन और बौद्ध दोनों दृष्टि भंग-विधान नहीं करती है ऐसा **सुत्तनिपात** के उपर्युक्त वर्णन से लगता है। वहां मात्र यही कहा गया है कि ब्रह्मचर्य का पालन असंभव हो तो परस्त्री का अतिक्रमण न करे।

काल दृष्टि से विचार करने से जैन विचारणा में पांच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों की प्रतिज्ञा जीवन पर्यन्त के लिए होती है, इनके प्रतिज्ञा सूत्रों से इसकी पुष्टि होती है। बौद्ध-विचारणा में भी पंचशील को यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया जाता है। शेष तीन शील जिन्हें उपोसथ शील भी कहा जाता है। शिक्षाव्रतों के समान एक विशेष समयावधि के लिए ही ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रकार देखते हैं कि बौद्ध परम्परा में वर्णित गृहस्थ आचार जैन परम्परा से बहुत कुछ साम्य रखता है।

9.6 योगदर्शन में व्रत का स्वरूप

जैन परम्परा में मुख्य व्रतों को अणुव्रत या महाव्रत कहा है। योगदर्शन में उसे पंचयम कहा है। जैन आचार दर्शन में जितना व्रत का महत्त्व है उतना ही योग आचार दर्शन में यम का महत्त्व है। **पातंजल योग दर्शन** में पांच यम का उल्लेख मिलता है। महर्षि पतंजलि ने कहा—**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः**— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पांच यम हैं।

यम का अर्थ है—ऊपरम, अभाव। हिंसा, मृषा, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह—इनका अभाव होना यम है। मन, वचन, शरीर के नियन्त्रण को यम कहते हैं। इनके पांच भेद हैं—

9.6.1 अहिंसा

शरीर, वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि की मनोवृत्तियों के साथ किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक पीड़ा अथवा हानि पहुंचाना हिंसा है, इससे बचना अहिंसा है। अहिंसा ही सब यम-नियमों का मूल है, उसी के साधन तथा सिद्धि के लिए अन्य यम और नियम हैं।

अहिंसा की प्रतिष्ठा होने से अर्थात् अहिंसा की दृढ़स्थिति हो जाने पर अनेक प्रकार के लाभ होते हैं कहा भी है—**"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः"** अहिंसा की भावना जिस व्यक्ति के भीतर प्रवाहित होती है उस व्यक्ति का कोई शत्रु नहीं रहता, कोई वैरी नहीं रहता। अहिंसा व्रत की सिद्धि से आत्मिक तेज बढ़ता है जिसके परिणामस्वरूप हिंसक हिंसा की भावना को त्याग देता है। सारा संसार उसके लिए **वसुधैवकुटुम्बकम्** की भावना से अनुप्राणित होता है तथा सबके साथ मैत्री,करुणा,सौहार्दपूर्ण व्यवहार करता है।

9.6.2 सत्य

वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। उसको शरीर से काम में लाना शरीर का सत्य है, वाणी से कहना वाणी का सत्य है और विचार में लाना मन का सत्य है। जिस समय जिसके लिए जैसा यथार्थ रूप से कहा जाय वह सत्य है।

सत्य की व्याख्या करते हुए **श्री व्यासजी** ने कहा जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो और जैसा सुना हो वैसा ही वाणी से कथन करना और मन में धारण करना। जिससे किसी प्राणी का नाश पीड़ा अथवा हानि न हो वह सत्य है। **मनु** ने कहा—**"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्"** सत्य बोले, प्रिय बोले, वह सत्य न बोले जो अप्रिय हो।

9.6.2.1 सत्य वाणी के लाभ

पातंजलयोग प्रदीप में कहा गया है—सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्—जिसकी सत्य में दृढ़स्थिति हो गयी है अर्थात् जिसकी सत्य में प्रबल आस्था हो गयी है उसकी वाणी से कभी असत्य नहीं निकलेगा;

क्योंकि वह यथार्थज्ञान रखने वाला हो जाता है। उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। उसकी वाणी द्वारा जो क्रिया होती है, उसमें फल का आश्रय होता है अर्थात् उसकी वचनसिद्धि हो जाती है जैसा कहता है वैसा ही हो जाता है। सत्य की प्रबलता से उसका अन्तःकरण इतना स्वच्छ-निर्मल हो जाता है कि उसकी वाणी से वही बात निकलती है जो क्रियारूप में होने वाली होती है अर्थात् वस्तुतः होने वाली होती है।

9.6.3 अस्तेय

अन्यायपूर्वक किसी के धन, द्रव्य अथवा अधिकार आदि का हरण करना स्तेय है। अधिकारियों के द्वारा रिश्वत लेना, दूकानदारों का उचित मूल्य से ज्यादा दाम लेना अथवा तोल में कम देना तथा चीजों में मिलावट करना तथा किसी की बिना आज्ञा वस्तु लेना आदि स्तेय है। इन सबका त्याग करना अस्तेय है। **महर्षि पतंजलि** ने कहा—**अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्**—अस्तेय की दृढ़स्थिति होने पर सब रत्नों की प्राप्ति होती है। अर्थात् जिस व्यक्ति की अस्तेयव्रत में पूर्ण आस्था हो जाती है उसके समीप अपने आप सम्पत्ति आती है, उसको किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। वह स्वलाभ में ही संतोष का अनुभव करता है।

9.6.4 ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का मतलब केवल जननेन्द्रिय को ही नियन्त्रण में रखना नहीं बल्कि समस्त इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना है।

ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट तप है। ब्रह्मचर्य की महिमा महान् है। ब्रह्मचारी पुरुष के लिए संसार में कोई बात असंभव नहीं है। योग साधना के लिए ब्रह्मचारी होना आवश्यक है। अतः कहा है—**"ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः"।**

अर्थात् ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति होने पर वीर्य (शक्ति) का लाभ होता है। वीर्य ही सब शक्तियों का मूल है। ब्रह्मचर्य के पालन से व्यक्ति के शरीर की शक्ति क्षीण नहीं होती है, तत्त्व बाहर नहीं निकलते और ऊर्जा से व्यक्ति अपनी साधना कर सकता है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि सारी शक्तियाँ ब्रह्मचर्य पर निर्भर हैं।

9.6.5 अपरिग्रह

योग दर्शन में अपरिग्रह का अर्थ केवल संग्रह नहीं करना ही नहीं है बल्कि वे मानते हैं कि मूर्च्छा रहित होना, किसी के प्रति ममत्व न रखना, भौतिक सम्पत्ति का अधिक संग्रह न करना अपरिग्रह है। भौतिक सम्पत्ति योग के लिए बाधक है। अधिकांशतः व्यक्ति भौतिक सम्पदा से पथभ्रष्ट हो जाते हैं इसलिए इस पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। महर्षि पतंजलि ने **पातंजल योगदर्शन** में कहा—**अपरिग्रहस्थैर्य जन्मकथन्ता सम्बोधः** —अपरिग्रह से चित्त शुद्ध-निर्मल होकर ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इससे भूत और भविष्य जन्म का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् पूर्व जन्म में हम क्या थे, यह जन्म किस प्रकार हुआ, आगे कैसा होगा आदि सब बातों का ज्ञान हो जाता है।

9.7 जैन व योग दर्शन में व्रत की समानता

जैन परम्परा के पंच महाव्रत के समान ही योगदर्शन में पंच यम स्वीकार किये गये हैं। **पातंजल योगसूत्र** में पंच यम की चर्चा उपलब्ध होती है। **"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यपरिग्रहा यमाः** —अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इन्हें महाव्रत भी कहा गया है। **पातंजल योगसूत्र** के अनुसार जो व्यक्ति जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित हैं तथा सभी अवस्थाओं में पालन करने योग्य हैं, वे महाव्रत हैं। वैदिक परम्परा के अनुसार संन्यासी को पूर्णरूप से अहिंसा महाव्रत का पालन करना चाहिए। संन्यासी के लिए त्रस और स्थावर दोनों प्रकार की हिंसा निषिद्ध है। इसी प्रकार असत्य-भाषण, कटु भाषा तथा अब्रह्मचर्य, परिग्रह-संग्रह भी वर्जित है।

जहां तक अहिंसा महाव्रत का प्रश्न है, जैन और वैदिक दोनों ही परम्परायें त्रस और स्थावर की हिंसा को निषिद्ध मानती हैं।

सत्य महाव्रत के सन्दर्भ में **योगदर्शन** में काफी गहराई से विचार किया गया है। वैदिक दृष्टि से प्रिय सत्य बोलने का विधान है। **महाभारत** के अनुसार सत्य बोलना अच्छा है परन्तु सत्य भी ऐसा बोलना अधिक अच्छा है जिससे सब प्राणियों का हित हो। **जैन आगमों** में भी सत्य और प्रिय बोलने का विधान है। दोनों ही आचार दर्शनों में बिना दी हुई वस्तु लेने का निषिद्ध है। ब्रह्मचर्य महाव्रत के संदर्भ में भी वैदिक परम्परा में स्वीकृत मैथुन के आठ अंग जैन धर्म में बताई गई ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ों से काफी साम्यता रखता है। जैन, योग दोनों ही आचार दर्शन अनासक्ति के सैद्धान्तिक पक्ष पर समान रूप से बल देती है, किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से कुछ मतभेद भी हैं। जैन दर्शन के अनुसार अनासक्त होने के लिए अपरिग्रही होना आवश्यक है। वहां योगदर्शन यह नहीं मानता। इस प्रकार जैन, योग दोनों परम्परा में व्रत के स्वरूप में काफी साम्यता प्रतीत होती है।

9.8 उपसंहार

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि व्रत की अवधारणा धार्मिक मतान्धता नहीं अपितु मानवीय स्वरूप की रक्षा और संस्कृति की सुरक्षा का एक कारगर प्रयोग है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सभी व्रतों का पालन किसी जाति विशेष, देश विशेष, काल विशेष या अवस्था विशेष के मनुष्यों के लिए नहीं हैं, ये व्रत सार्वभौमिक हैं। अर्थात् जाति, देश, काल, परिस्थिति आदि के प्रतिबंध से रहित है, सर्वव्यापक है, सभी स्थितियों में उपयोगी है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए महर्षि पतंजलि का कहना है कि—**"जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्"** इस व्यापक उपयोगिता के कारण ही सभी धर्म दर्शनों में व्रत के संदर्भ में विशदता से विचार किया गया है।

प्रस्तुत संदर्भ में हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध, योग तीनों परम्परा में व्रत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जैन दर्शन में कृत, कारित, अनुमोदित हिंसा का निषेध है। ठीक वैसे ही बौद्ध दर्शन में कृत, कारित, अनुमोदित हिंसा का निषेध है। योग दर्शन में तो यहां तक कहा गया है कि जाति, देश, काल की सीमा में रहकर ही अहिंसा का पालन नहीं होना चाहिए, बल्कि हर परिस्थिति में पालन होना चाहिए।

जैन परम्परा की भांति बौद्ध परम्परा व वैदिक परम्परा में भी भिक्षु के लिए असत्य भाषण वर्जित है। बौद्ध दर्शन में कहा गया भिक्षु को सत्य वचन ही बोलना चाहिए, मिथ्या वचन न बोलें।

जैन, योग दोनों ही आचार परम्परा में सत्य और प्रिय बोलने का विधान है वहां बौद्ध का कहना है अगर सत्य वचन हो तो वह प्रिय या अप्रिय होते हुए भी बोल सकते हैं।

अस्तेय व्रत के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध, योग तीनों की साम्यता परिलक्षित होती है। तीनों परम्परा का एक ही स्वर है बिना अनुमति हमें एक तिनका भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

जैन व बौद्ध आचार दर्शन में भिक्षु-भिक्षुणी के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन आवश्यक है। वहां योग आचार परम्परा में भी कहा गया है—ब्रह्मचर्य का पालन हर स्थिति में होना आवश्यक है क्योंकि उनका कहना है ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्य का लाभ होता है।

जैन आचार दर्शन में अपरिग्रह का जितना महत्त्व है उतना बौद्ध आचार दर्शन में परिग्रह मर्यादा को महत्त्व प्रदान नहीं किया गया। यद्यपि बुद्ध के अनेक वचन परिग्रह की मर्यादा की ओर संकेत करते हैं। फिर भी वहां स्वतन्त्र परिग्रह व्रत की मान्यता नहीं है। योगदर्शन में मूर्च्छा और ममत्व को परिग्रह कहा है। जैन आगमों में भी परिग्रह की यही परिभाषा उपलब्ध होती है।

इस प्रकार जैन, बौद्ध, योग तीनों ही आचार दर्शनों में व्रत के स्वरूप के सम्बन्ध में काफी साम्यता प्रतीत होती है।

9.9 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

व्रत को परिभाषित करते हुए जैन, बौद्ध, योग दर्शन में व्रत का क्या स्वरूप है। स्पष्ट करें?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

क. अहिंसा व्रत को परिभाषित करते हुए उसके मुख्य अतिचारों पर प्रकाश डालें।

ख. बौद्ध दर्शन में भिक्षुओं के लिए कितने शील (व्रत) का उल्लेख मिलता है तथा उनकी पांच महाव्रतों से क्या समानता है?

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न (सही पर निशान लगायें)

1. जैन दर्शन में आचरण की क्षमता के आधार पर व्रत को कितने भागों में विभक्त किया गया है—
   (क) चार (ख) दो (ग) पांच (घ) सात
2. अल्प अंश में व्रत का पालन कहलाता है—
   (क) महाव्रत (ख) व्रताव्रत (ग) अणुव्रत (घ) शीलव्रत
3. गृहस्थ धर्म के प्रकार हैं—
   (क) दस (ख) आठ (ग) बारह (घ) तेरह
4. मुनि द्वारा स्वीकृत संकल्प कहलाते हैं—
   (क) देशव्रत (ख) सर्वव्रत (ग) महाव्रत (घ) गुणव्रत
5. अहिंसा का विस्तृत विवेचन किसमें उपलब्ध होता है—
   (क) भगवती (ख) ज्ञाताधर्मकथा (ग) उत्तराध्ययन (घ) दशवेआलियं
6. सत्य के प्रकार हैं—
   (क) चार (ख) पांच (ग) सात (घ) आठ
7. इन्द्रिय और मन संयम क्या है—
   (क) अपरिग्रह (ख) ब्रह्मचर्य (ग) अहिंसा (घ) सत्य
8. प्रमाद या असावधानी से जो दोष लग जाते हैं उन्हें कहा है—
   (क) सुव्रत (ख) अतिचार (ग) धर्माधर्मी (घ) व्रत
9. बाह्य परिग्रह के प्रकार हैं—
   (क) 7 (ख) 9 (ग) 14 (घ) 8
10. जैन परम्परा के पंच महाव्रत के समान ही योगदर्शन में स्वीकृत हैं—
   (क) नियम (ख) यम (ग) साधन (घ) प्राणायाम।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. ख—दो 2. ग—अणुव्रत 3. ग—बारह 4. ग—महाव्रत
5. घ—दसवेआलियं 6. क—चार 7. ख—ब्रह्मचर्य 8. ख—अतिचार
9. ख—9 10. यम।

☆☆☆

इकाई–10 : कर्म—जैन, बौद्ध, योग और वेदान्त

संरचना

10.0 प्रस्तावना

यह दृश्यमान् चराचर जगत् हमारे सामने है। किन्तु यह क्यों है? इसका समाधायक तत्त्व हमारे सामने नहीं है। जो कारण प्रत्यक्ष नहीं होता उसके बारे में जिज्ञासा उठनी भी स्वाभाविक है। जगत् रूप कार्य हम सबके प्रत्यक्ष का विषय है किन्तु इसका कारण प्रत्यक्ष नहीं है। इसके कारण की खोज में दार्शनिक जगत् में नये–नये प्रस्थानों का आविर्भाव हुआ। जगत् है, इसमें विभिन्नता भी दिखाई दे रही है। प्राणियों के स्तर पर भी विभिन्नता है। एक ही प्रजाति के जीवों में भी परस्पर विभिन्नता है। एक मनुष्य का दूसरे से विभेद है। उसकी अपनी सुख दुःख आदि की अनुभूति भी पृथक् प्रकार की है। शारीरिक रचना, आकार-प्रकार सबमें भेद परिलक्षित है। ज्ञान चेतना का विकास भी एक जैसा नहीं है, उसमें तरतमता स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही है। इन्हीं तथ्यों के कारण की खोज में दर्शन जगत् में काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर, कर्म आदि सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ।

जगत् एवं जगत् में उपस्थित वैविध्य का कारण कालवादी चिन्तकों ने काल को, स्वभाववादी चिन्तकों ने स्वभाव को, नियतिवादी, ईश्वरवादी, कर्मवादी चिन्तकों ने क्रमशः नियति, ईश्वर एवं कर्म को स्वीकार किया।

कर्म सिद्धान्त का प्रादुर्भाव सृष्टि वैचित्र्य, वैयक्तिक-भिन्नता एवं व्यक्ति की सुख दुःखात्मक अनुभूतियों के कारण की व्याख्या के प्रयासों में ही हुआ है। वस्तुतः जगत् वैविध्य एवं वैयक्तिक भिन्नताओं की तार्किक व्याख्या ही कर्म सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास का कारण बनी है। भारतीय चिन्तकों में जगत् के कारण की मीमांसा के सन्दर्भ में अनेक विचार उपस्थित हुये हैं। जैन दर्शन ने स्पष्ट रूप से जगत् के वैविध्य का

कारण कर्म को स्वीकार किया है। **भगवतीसूत्र** में भगवान् महावीर कहते हैं जीव कर्म के द्वारा विभक्तिभाव अर्थात् विभिन्नता को प्राप्त होता है। **'कम्मओ णं जीवे णो अकम्मओ, विभत्तिभावं परिणमई' भ./12/120** बौद्ध दर्शन भी जगत् की, लोक की विचित्रता कर्म हेतुक मानता है। **कर्मजं लोकवैचित्र्यं (अभिधर्मकोश 4/1)** ईश्वरवादी चिन्तकों ने भी किसी-न-किसी रूप में इस प्रश्न के समाधान में सहयोगी कारण के रूप में कर्म की अवधारणा को स्वीकार किया है।

10.1 उद्देश्य- भारतीय चिन्तन की धारा में कर्म सिद्धान्त एक सर्वमान्य विचार का बिन्दु रहा है जिसका विवेचन प्रस्तुत है।

10.2 कर्म का स्वरूप

कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया/प्रवृत्ति है। कर्म अर्थात् कुछ करना। मन, वचन एवं शरीर के द्वारा की जाने वाली सम्पूर्ण क्रिया/प्रवृत्ति को कर्म कहा जा सकता है। मीमांसक परम्परा में यज्ञ-यागादि, नित्य नैमित्तिक क्रियाओं को कर्म की संज्ञा दी गयी। गीता में कायिक आदि प्रवृत्तियों को कर्म कहा गया। बौद्ध विचारकों ने भी कर्म शब्द का प्रयोग क्रिया के अर्थ में किया है। बौद्ध दर्शन में यद्यपि शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों प्रकार की क्रियाओं के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, फिर भी इन तीनों में चेतना को ही प्रधान माना गया है। योग एवं वेदान्त दर्शन को भी कर्म के विशिष्ट अर्थ के साथ उसका क्रियात्मक अर्थ भी मान्य है। जैन परम्परा में संसारी की प्रत्येक क्रिया अथवा प्रवृत्ति कर्म कहलाती है। जैन परिभाषा में इस को भावकर्म कहते हैं। इसी भावकर्म अर्थात् जीव की शरीर, वाणी एवं मन की क्रिया के द्वारा जो पुद्गल आकर आत्मा के चिपक जाते हैं उनको जैन दर्शन में द्रव्यकर्म कहा जाता है। **जैन सिद्धान्त दीपिका** में कहा गया—**'आत्मप्रवृत्त्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्म'** आत्मा की प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट एवं कर्म रूप में परिणत होने योग्य पुद्गलों को कर्म कहते हैं। कार्मण वर्गणा के पुद्गलों में ही कर्म रूप में परिणत होने की योग्यता है। संसार में अलग-अलग प्रकार के कार्य करने वाले पुद्गलों का समूह उपस्थित है। एक प्रकार का कार्य करने वाले समान जाति वाले पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहते हैं। कार्मण वर्गणा के पुद्गल स्कन्धों से ही कर्म का निर्माण हो सकता है। वे पुद्गल स्कन्ध चतुःस्पर्शी होते हैं, अर्थात् उनमें शीत, उष्ण स्निग्ध एवं रूक्ष ये चार स्पर्श होते हैं। अनन्त प्रदेशी कार्मण वर्गणा के पुद्गलों से ही द्रव्य कर्म का निर्माण हो सकता है इसके अतिरिक्त पुद्गलों में कर्म रूप में परिणत होने की योग्यता नहीं है। प्रायः भारतीय चिन्तकों ने कर्म का क्रिया के अतिरिक्त अन्य अर्थ भी स्वीकार किया है।

10.3 विभिन्न दर्शनों में कर्म

जैन परम्परा में जिस अर्थ में 'कर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे मिलते-जुलते अर्थ में अन्य भरतीय दर्शनों में माया, अविधा, अपूर्व, वासना, आशय, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। वेदान्त दर्शन में माया एवं अविधा, मीमांसा-दर्शन में अपूर्व, नैयायिक-वैशेषिक में अदृष्ट, सांख्य में आशय एवं बौद्ध दर्शनों में कर्म एवं वासना शब्द का प्रयोग कर्म अर्थ में हुआ है। दैव, भाग्य, पुण्य, पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं, जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनों में हुआ है।

प्रस्तुत निबंध में जैन कर्म सिद्धान्त के साथ बौद्ध योग एवं वेदान्त दर्शन के कर्म सिद्धान्त की तुलना का प्रयत्न किया जायेगा।

10.4 बौद्ध दर्शन

जैन एवं बौद्ध दोनों ही दर्शन सृष्टि कर्त्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार जगत् की विविधता कर्मकृत है कर्म का कर्त्ता प्राणी है। वह कर्म का बन्धन करता है फिर कर्म उसे अपना फल देते हैं इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है।

10.4.1 कर्म के भेद

बौद्ध दर्शन में मुख्यरूप से कर्म के दो प्रकार हैं—1. चेतना और 2. चेतयित्वा। चेतना मानस कर्म है। चेतना से जो उत्पन्न होता है वह चेतयित्वा कर्म है। चेतयित्वा कर्म दो प्रकार का है—कायिक और वाचिक। इस प्रकार मानसिक, वाचिक एवं कायिक के भेद से कर्म के तीन प्रकार हो जाते हैं। आश्रय, स्वभाव और समुत्थान की दृष्टि से इन तीनों कर्मों का अपना विशिष्ट स्थान है। आश्रय की दृष्टि से कायकर्म प्रधान है क्योंकि सब कर्म काय पर आश्रित है। स्वभाव की दृष्टि से विचार करें तो वाक् कर्म ही एक कर्म है, अन्य दो का कर्मत्व नहीं होगा क्योंकि काय, वाक् और मन इन तीन में से केवल वाक् स्वभावतः कर्म है। यदि समुत्थान की दृष्टि से चिन्तन करें तो केवल मनस् कर्म है क्योंकि सब कर्मों का प्रारम्भ मन से ही होता है। इस प्रकार विशेष प्रकार की अपेक्षा से अलग-अलग कर्म की प्रधानता हो जाती है। कर्म के ये तीन भेद प्राचीन माने जाते हैं।

जैन दर्शन में इस मन-वचन एवं काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। जिससे कर्म का आकर्षण होता है उसे द्रव्यकर्म कहा जाता है। द्रव्य कर्म के ज्ञानावरणीय आदि अनेक भेद प्रभेद हैं।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म के दो प्रकार हैं—द्रव्यकर्म एवं भावकर्म। भावकर्म आत्मा की प्रवृत्ति है एवं द्रव्यकर्म उस प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के चिपकने वाले कर्म पुद्गल हैं। राग, द्वेष, मोह आदि भावकर्म हैं। जैनों के सदृश बौद्ध ने भी कर्म की उत्पत्ति में राग, द्वेष एवं मोह को कारण रूप से मान्य किया है। बौद्ध दर्शन में कर्म मात्र चैतसिक है जैन के अनुसार कर्म चैतसिक तो है ही किन्तु द्रव्यकर्म पौद्गलिक है। कर्मों को पौद्गलिक मानना जैन दर्शन की मौलिक अवधारणा है।

कर्म के दो अन्य भेद भी बौद्ध दर्शन में उपलब्ध होते हैं—विज्ञप्ति कर्म अर्थात् काय एवं वाणी के द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति और अविज्ञप्ति कर्म अर्थात् विज्ञप्ति से उत्पन्न कुशल और अकुशल कर्म। विशुद्धिमग्ग में कर्म को अरूपी कहा है तथा अभिधर्मकोश में उसे अविज्ञप्ति रूप माना गया है। बौद्ध दर्शन में कर्म को मानसिक वाचिक और कायिक मानकर उसे विज्ञप्ति रूप कहा है। विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कर्म भावों के अनुसार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। जैन धर्म के द्रव्य एवं भावकर्म की तुलना एक अपेक्षा से इनके साथ की जा सकती है। वासना और अविज्ञप्ति कर्म को जैन धर्म का द्रव्य कर्म तथा विज्ञप्ति कर्म को जैनधर्म का भावकर्म कहा जा सकता है।

10.4.2 कर्मविपाक की अवधारणा

जैन दर्शन के अनुसार कृत कर्मों का फल भोग किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्राप्त होता है। **'कडाण कम्माण णत्थि मोक्खो'** जो कर्म किये हैं उनका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। किन्तु कर्म की अवस्थाओं में समय, शक्ति, रस आदि के विपाक को कम, अधिक एवं परिवर्तित भी किया जा सकता है। जैन के अनुसार कुछ कर्म नियत विपाकी होते हैं कुछ अनियत विपाकी होते हैं। जिनका विपाक नियत है उनमें किसी भी प्रकार से हेराफेरी नहीं की जा सकी। वे कर्म जैन परिभाषा में निकाचित कर्म कहलाते हैं। जिन कर्मों का बंध तीव्र कषाय के द्वारा हुआ है वे प्रगाढ़ कर्म हैं, उनका विपाक नियत होता है। इसके विपरीत जिन कर्मों के बंधन के समय कषाय की अल्पता होती है वे अनियत-विपाकी कर्म हैं अर्थात् उनके फल एवं समय में परिवर्तन किया जा सकता है। जैन कर्म सिद्धान्त की संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा एवं उपशमन की अवस्थाएं कर्मों के अनियत विपाक की ओर संकेत करती है।

बौद्ध दर्शन में भी कर्मों के विपाक की नियतता और अनियतता पर विमर्श किया गया है। बौद्ध दर्शन में कर्मों को नियत विपाकी और अनियत विपाकी दोनों प्रकार का माना गया है।

नियत विपाकी अर्थात् जिनका फलभोग उसी रूप में भोगना अनिवार्य होता है अनियत विपाकी जिनका फल भोग नियत नहीं होता परिवर्तित हो सकता है। कुछ बौद्ध आचार्यों ने नियत विपाकी और अनियतविपाकी कर्मों में प्रत्येक को चार-चार भागों में विभक्त किया है।

10.4.2.1 नियतविपाकी कर्म

1. **दृष्टधर्मवेदनीय**—वह कर्म जिसका इसी जन्म में अनिवार्य रूप से फल प्राप्त होता है।
2. **उपपद्यवेदनीय**—वह कर्म जिसका फल समनन्तर अर्थात् इस जन्म के बाद में होने वाले जन्म में अनिवार्य रूप से प्राप्त होता है।
3. **अपरपर्यायवेदनीय**—वह कर्म जो विलम्ब से अनिवार्य फल देता है।
4. **अनियत वेदनीय किन्तु नियत विपाक**—वह कर्म जिसका स्वभाव तो बदला जा सकता है किन्तु उसका भोग अनिवार्य है। यह कर्म जैन मान्य कर्म की संक्रमण अवस्था जैसा है। अर्थात् कर्म का बंध जिस रूप में हुआ है उसको बदलकर भोगा जा सकता है।

10.4.2.2 अनियतविपाक कर्म

1. **दृष्टधर्मवेदनीय**-वह कर्म जो इसी भव में फल देने वाला है किन्तु जिसका फल भोग आवश्यक नहीं है।
2. **अपपद्यवेदनीय**—वह कर्म जो उपपन्न होकर समनन्तर जन्म में फल देने वाला है किन्तु जिसका फलभोग हो ही यह आवश्यक नहीं है।
3. **अपरपर्यायवेदनीय**—वह कर्म जो विलम्ब से फल देने वाला है किन्तु जिसका फलयोग आवश्यक नहीं है।
4. **अनियतवेदनीय-अनियतविपाक**—वह कर्म जो अनुभूति एवं विपाक दोनों दृष्टियों से अनियत है।

इस प्रकार बौद्ध विचारक कर्मों की नियतता एवं अनियतता की विस्तृत व्याख्या करते हैं। जिसकी तुलना जैन कर्म सिद्धान्त के निकाचित एवं दलिक कर्मों के साथ होती है। जैनदर्शन के अनुसार निकाचित कर्म नियतविपाकी होते हैं तथा दलिक कर्म अनियत विपाकी होते हैं।

10.4.3 कर्मफल संविभाग

कर्म सिद्धान्त के संदर्भ में एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या व्यक्ति अपने किये हुये शुभ-अशुभ कर्मों का फल दूसरे व्यक्ति को दे सकता है अथवा नहीं दे सकता? कर्मफल के संविभाग संदर्भ में जैन, बौद्ध विचारधारा में भिन्नता परिलक्षित होती है।

जैन विचारणा के अनुसार प्राणी के शुभ-अशुभ कर्मों के प्रतिफल में कोई भागीदार नहीं बन सकता। जो कर्म करता है उसी को उसका फल भोगना पड़ता है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि उसके दुःख को न ज्ञातिजन बांट सकते हैं और न मित्र, पुत्र, बंधुजन। वह स्वयं अकेला ही प्राप्त दुःखों को भोगता है क्योंकि कर्म कर्त्ता के पीछे चलता है। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का भोग करते हैं परकृत सुख-दुःख का भोग नहीं करते हैं।

बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्मफल संविभाग में दूसरे को सम्मिलित किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन में बोधि सत्त्व का आदर्श कर्मफल संविभाग के विचार को पुष्ट करता है। बोधि सत्त्व तो सदैव कामना करते हैं कि उनके कुशलकर्मों का फल विश्व के समस्त प्राणियों को मिले। बौद्ध दर्शन यह मानता है कि केवल शुभकर्मों के फल में दूसरे को सम्मिलित किया जा सकता है। पापकर्म का फल तो कर्म के कर्त्ता को ही भोगना पड़ता है। कर्मफल के संविभाग के संदर्भ में आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं कि सामान्य नियम यह है कि कर्म स्वकीय है, जो करता है, वही उसका फल भोगता है। किन्तु **पालिनिकाय** में पुण्य-परिणामना का

उल्लेख है। बौद्धों के अनुसार व्यक्ति अपने पुण्य कर्म में दूसरे को सम्मिलित कर सकते हैं पाप में नहीं कर सकते।

10.4.4 कर्मफल का नियामक

कर्मफल की प्राप्ति के विषय में न्याय, वैशेषिक दर्शन एवं शंकराचार्य आदि चिन्तकों का मन्तव्य है कि कर्म अचेतन होते हैं अत: वे अपना फल स्वत: नहीं दे सकते। कर्मों का फल सर्वशक्तिमान ईश्वर के अधीन है किन्तु जैन एवं बौद्ध दोनों ही दर्शन कर्मफल के संदर्भ में ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं। कर्म स्वयं ही अपने फल को देने में समर्थ है। उसके लिए अन्य कर्मफल प्रदाता की आवश्यकता नहीं है।

जैन एवं बौद्ध दोनों ही कर्म को सूक्ष्म मानते हैं। उनको स्थूल पदार्थों की तरह इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनाया जा सकता। जैन एवं बौद्ध दोनों ही श्रमण परम्परा है इन परम्पराओं में कर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

10.5 योगदर्शन

10.5.1 कर्म स्वरूप

योगदर्शन की कर्म प्रक्रिया की जैन दर्शन में बहुत समानता है। योग दर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं— **'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः'।** इन पांच क्लेशों के कारण क्लिष्टवृत्ति चित्त व्यापार की उत्पत्ति होती है और उससे धर्म-अधर्म रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। जैन परिभाषा में क्लेशों को भावकर्म, वृत्ति को योग एवं संस्कार को द्रव्य-कर्म समझा जा सकता है। योग दर्शन में संस्कार को वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा गया है। यहां क्लेश और कर्म का कार्य कारणभाव जैन दर्शन के समान बीज अंकुरवत् अनादि स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन की भी मान्यता योग दर्शन जैसी है।

जैन मतानुसार मोह, राग, द्वेष आदि के कारण अनादिकाल से आत्मा के साथ पौद्‌गलिक कार्मण शरीर का सम्बन्ध है। इसी प्रकार सांख्य मत में लिंग शरीर अनादिकाल से पुरुष के संसर्ग में है। इस लिंग शरीर की उत्पत्ति राग, द्वेष, मोह जैसे भावों से होती है तथा भाव एवं लिंग शरीर में भी बीज एवं अंकुर की तरह कार्य-कारण-भाव है। जैसे जैन औदारिक स्थूल शरीर को कार्मण शरीर से भिन्न मानते हैं, वैसे ही सांख्य भी लिंग (सूक्ष्म) शरीर को स्थूल शरीर से पृथक् मानते हैं। जैनों के कार्मण शरीर एवं सांख्य के लिंग शरीर में बहुत कुछ समानता है। जैन सम्मत भावकर्म की तुलना सांख्य सम्मत भावों से, योग की तुलना वृत्ति से तथा द्रव्यकर्म अथवा कार्मण शरीर की तुलना लिंग शरीर से की जा सकती है। जैन तथा सांख्य दोनों ही कर्मफल अथवा कर्म निष्पत्ति में ईश्वर जैसे किसी कारण को स्वीकार नहीं करते हैं। जैन और योग में अन्तर यह है कि योगदर्शन की प्रक्रिया के अनुसार, क्लेश, क्लिष्टवृत्ति और संस्कार इन सबका सम्बन्ध आत्मा से नहीं है अपितु चित्त अथवा अन्तःकरण के साथ है और यह अन्तःकरण प्रकृति का विकार है। जैन के अनुसार इनका सम्बन्ध आत्मा से है जो परिणामी नित्य है।

10.5.2

योग दर्शन में कर्म चार प्रकार का माना गया है—कृष्ण, शुक्ल, शुक्ल-कृष्ण और अशुक्लाकृष्ण। कृष्ण पापकर्म को शुक्ल पुण्य कर्म को कहा जाता है। इनमें दुरात्माओं का कर्म कृष्ण है, कृष्ण-शुक्ल कर्म बाह्य व्यापार से साध्य होता है; उसमें परपीड़न तथा परानुग्रह से कर्माशय संचित होता है। तपस्वी, स्वाध्यायी और ध्यानी व्यक्तियों का कर्म शुक्ल है, यह केवल मन के अधीन होने के कारण बाह्यसाधन शून्य है, अत: यह कर्म पर-पीड़न पूर्वक नहीं होता है। क्लेशहीन, चरमदेह संन्यासियों का कर्म अशुक्लाकृष्ण है। योगियों का कर्मफल संन्यास के कारण अशुक्ल और निषिद्ध कर्म-त्याग के कारण अकृष्ण होता है। अन्य प्राणियों के कर्म

अशुक्लाकृष्ण को छोड़कर तीन प्रकार के होते हैं। जैन परिभाषा में कृष्ण को पाप एवं शुक्ल को पुण्य कर्म कहा जा सकता है। जैन कर्म सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार व्यक्ति जैसी प्रवृत्ति करता है उसके अनुसार ही उसके कर्मों का बंध होता है। जिस प्राणी की प्रवृत्ति शुभ है उसको जैन परिभाषा में शुभयोग कहा जाता है, उसीसे शुक्ल अर्थात् पुण्यकर्म का आकर्षण होगा। एक व्यक्ति के एक ही प्रकार के कर्म बंध होगा ऐसी जैन अवधारणा नहीं है। यद्यपि जैन परम्परा में भी यह माना जाता है कि इर्यापथिकी क्रिया/अर्थात् वीतराग की क्रिया से केवल शुक्ल कर्मों का ही बंध होता है; किन्तु वीतराग के शुक्ल कर्मों का बंध भी दो समय वाला होता है पहले समय में वह उसे बांधता है दूसरे में भोग लेता है, उस कर्म की कोई वासना या संस्कार नहीं बनते। अतः एक अपेक्षा से वीतराग के कर्मबंध को अशुक्लाकृष्ण कह सकते हैं। सम्परायक्रिया अर्थात् सकषायी प्राणी की क्रिया से शुक्ल एवं कृष्ण/पुण्य एवं पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों का बंध होता है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम गोत्र एवं अन्तराय ये मुख्य रूप से आठ कर्म जैनदर्शन में माने गये हैं। उनमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय ये चार कर्म एकान्त रूप से कृष्ण पापकर्म हैं। जैनदर्शन में इन चार कर्मों को घाती कर्म कहा जाता है। वेदनीय आयुष्य, नाम एवं गोत्र कर्म शुक्ल एवं कृष्ण/पुण्य एवं पाप उभयरूप हैं। इन चार कर्मों को जैन दर्शन में अघाती कर्म कहा जाता है।

10.5.3 कर्म का विपाक

योग दर्शन के अनुसार कर्म का फल/विपाक जाति, आयु और भोग रूप से तीन प्रकार का होता है। जाति पद मनुष्य, पशु, देव आदि योनियों का सूचक है। एक निश्चित अवधि तक देह तथा प्राण के संयोग की सूचना आयु पद से हो रही है तथा भोग शब्द सुख दुःख रूप अनुभूति को अभिव्य्जित कर रहा है। योग सम्मत ये तीनों पद एक-दूसरे से इतने आबद्ध हैं कि एक के अभाव में दूसरे की संभावना ही असंभव है क्योंकि व्यक्ति अपने द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार सुख दुःख का भोग तभी कर सकता है जब उसके पास आयु हो और आयु वह तभी धारण कर सकता है जब उसने जन्म लिया हो। इस प्रकार जाति (जन्म) आयु (उम्र) एवं भोग रूप तीनों फल परस्पर सम्बद्ध है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि योग सम्मत जाति जैनदर्शन के नाम कर्म के विपाक से तुलनीय है। आयु विपाक की तुलना जैनदर्शन के आयुष्यकर्म के विपाक से की जा सकती है। योग एवं जैनदर्शन दोनों में ही सोपक्रम एवं निरूपक्रम के भेद से आयुविपाक को उभयरूप स्वीकार किया है। किसी बाह्य निमित्त को प्राप्त कर यदि आयु समाप्त हो जाती है तो वह सोपक्रम आयु है और यदि बाह्य निमित्त से आयु समाप्त नहीं की जा सके वह निरूपक्रम आयु है। सुख, दुःख, रूप भोग की तुलना वेदनीय कर्म से की जा सकती है। पातञ्जल योगदर्शन में प्रकाशावरण एवं विवेक ज्ञानावरणीय कर्म का उल्लेख हुआ है उसकी तुलना जैन सम्मत ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म से की जा सकती है।

योगदर्शन में जैनदर्शन की भांति कर्माशय को नियत-विपाकी एवं अनियत विपाकी उभयविध माना है। योगदर्शन में कर्म विपाक की अनियतता पर अधिक बल दिया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वजन्म की पाप राशि वर्तमान जन्म के पुण्य प्रभाव से बिना विपाक दिये हुए ही नष्ट हो जाती है। विपाक के सम्बन्ध में जैन मत में प्रत्येक कर्म का विपाक नियम है वैसे योगदर्शन में नियत नहीं है। योग मत के अनुसार सभी संचित कर्म मिलकर उक्त जाति, आयु और भोगरूप विपाक का कारण बनते हैं।

कर्माशय का विपाक दो प्रकार है—अदृष्टजन्म वेदनीय और दृष्टजन्म वेदनीय। जिसका विपाक दूसरे जन्म में मिले वह अदृष्टजन्म वेदनीय कहलाता है तथा जिसका फल इस जन्म में मिल जाए वह दृष्टजन्म वेदनीय कहलाता है। योगदर्शन के अनुसार अदृष्टजन्म वेदनीय के जाति, आयु एवं भोग ये तीनों विपाक होते हैं किन्तु दृष्टजन्म वेदनीय के आयु तथा भोग अथवा केवल भोग रूप विपाक ही होता है। जन्म रूप विपाक

नहीं हो सकता यदि दृष्टजन्म वेदनीय में भी जन्म रूप विपाक स्वीकार कर लिया जाये तो वह भी अदृष्टजन्म वेदनीय ही हो जायेगा। योगदर्शन के अनुसार कृष्ण कर्म की अपेक्षा शुक्ल कर्म अधिक बलवान् होते हैं। शुक्ल कर्म का उदय होने पर कृष्ण कर्मफल दिये बिना ही नष्ट हो जाते हैं।

10.5.4 कर्म की अवस्था

जैनदर्शन में कर्म की बंध आदि दश अवस्थाएं मानी गयी हैं। पातञ्जल योग दर्शन में भी क्लेशों की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख है। जैन न्याय के विशिष्ट विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी ने भावों के साथ पांच क्लेशों के आविर्भाव एवं तिरोभाव अवस्था की तुलना की है। उन्होंने अविद्या, अस्मिता आदि पांच क्लेशों को मोहनीय कर्म का उदयरूप माना है। पतञ्जलि के अनुसार क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार इन चार रूपों में विद्यमान रहते हैं। उपाध्यायजी के अनुसार क्लेश की प्रसुप्तावस्था जैन मान्य अबाधाकाल सदृश है। तनु अवस्था उपशम एवं क्षयोपशम स्थानीय है। विच्छिन्न विरोधी प्रकृति के उदय के व्यवहित स्थानीय है। उदार उदय स्थानीय है।

योगदर्शन एवं जैनदर्शन के कर्म सिद्धान्त के विमर्श से अवबोध प्राप्त होता है कि इन दोनों परम्पराओं में कर्म की अवधारणा के संदर्भ में निकटता है। गंभीरता से विचार करने से इस सम्बन्ध में अनेकों नये तथ्य उपलब्ध होते हैं।

10.6 वेदान्त दर्शन

वैदिक परम्परा में कर्म के अनेक रूप परिलक्षित होते हैं। उपनिषदों के पूर्व के ग्रंथों में कर्म का तात्पर्य मात्र यज्ञ, यागादि, नित्य नैमित्तिक क्रियाओं से माना गया है। यज्ञ आदि से उत्पन्न अपूर्व पदार्थ की स्वीकृति भी उस दर्शन में हुयी। शंकराचार्य ने मीमांसक सम्मत इस अपूर्व की कल्पना का अथवा सूक्ष्मशक्ति की कल्पना का खण्डन किया है और यह बात सिद्ध की है कि ईश्वर कर्म के अनुसार फल प्रदान करता है। उन्होंने इस पक्ष का समर्थन किया है कि फल की प्राप्ति कर्म से नहीं अपितु ईश्वर से होती है।

10.6.1 कर्म स्वरूप

कर्म स्वरूप के विमर्श से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भावकर्म के विषय में किसी भी दार्शनिक को आपत्ति नहीं है। सभी के मत में राग-द्वेष और मोहभाव कर्म अथवा कर्म के कारण है। वेदान्त दर्शन में अविद्या या माया कर्म स्थानीय है। **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार बंधन का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है। अविद्या आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है अपितु वह जीव की मिथ्या कल्पना का परिणाम है।

शंकराचार्य का मन्तव्य है कि यदि हम यह स्वीकार कर लें कि अविद्या आत्मा का स्वाभाविक गुण है तो ऐसी स्थिति में अज्ञान का कभी भी अन्त ही नहीं होगा, जीव की मुक्ति ही नहीं हो सकेगी, वह निरन्तर बंधन में ही पड़ा रहेगा। बंधन केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बंधन में पड़ता है तथा न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। **शंकर** के अनुसार बंधन और मोक्ष दोनों ही व्यावहारिक हैं। शंकर की अविद्या की अवधारणा जैनदर्शन सम्मत भावकर्म के सदृश है। उस अविद्या से होने वाले बंधन को द्रव्यकर्म स्थानीय स्वीकार किया जा सकता है।

वेदान्त ज्ञान-मीमांसा पर आधारि है उसे उत्तर-मीमांसा कहा जाता है उसने कर्म के संदर्भ में पूर्व मीमांसा के मन्तव्य को ही प्राय: स्वीकार किया है। पूर्व मीमांसा कर्म की मीमांसा पर आधृत दर्शन है।

10.7 मीमांसा दर्शन में कर्म

पूर्व मीमांसा में यज्ञ आदि को कर्म कहा गया है। मुख्य कर्म तीन प्रकार के हैं—

1. **नित्यकर्म**—जिनका अनुष्ठान प्रतिदिन करना अनिवार्य है। जिनके नहीं करने से पाप का बन्ध होता है।
2. **नैमित्तिक कर्म**—सूतक, पातक आदि निमित्तों के आधार पर किये जाने वाले कर्म।
3. **काम्यकर्म**—पुत्र आदि की प्राप्ति से किये जाने वाले कर्म।

यज्ञ आदि कर्म से अपूर्व नाम के पदार्थ की उत्पत्ति होती है। मनुष्य जो कुछ भी अनुष्ठान करता है वह क्रिया रूप होने के कारण क्षणिक है अतः उस अनुष्ठान से अपूर्व नामक पदार्थ का जन्म होता है जो यज्ञ आदि अनुष्ठान का फल प्रदान करता है। वेदविहित कर्म से जिस शक्ति अथवा संस्कार का प्रादुर्भाव होता है उसी को अपूर्व कहा जाता है। अन्य दार्शनिक जिसे संस्कार, योग्यता, शक्ति कहते हैं उसे मीमांसक अपूर्व शब्द के प्रयोग से व्यक्त करते हैं। मीमांसक यह भी मानते हैं कि अपूर्व अथवा शक्ति का आश्रय आत्मा है और आत्मा के समान अपूर्व भी अमूर्त्त है।

मीमांसक के अनुसार कार्य निष्पादन का क्रम यह होता है—कामना, कामना से यज्ञ आदि की प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से अपूर्व की उत्पत्ति। जैन परिभाषा में कामना या तृष्णा को भावकर्म, यज्ञ आदि की प्रवृत्ति को योग और अपूर्व को द्रव्यकर्म कहा जा सकता है। मीमांसक अपूर्व को अमूर्त्त मानता है यद्यपि जैन का द्रव्य कर्म अमूर्त्त नहीं है तथापि वह अपूर्व के समान अतीन्द्रिय तो है ही।

10.8 जैन दर्शन में कर्म की अवस्थाएं

जैन दर्शन में बंध, सत्ता आदि कर्म की दश अवस्थाएं मानी गयी हैं। इनमें कुछ अवस्थाओं का नामान्तर से उल्लेख वैदिक परम्परा में भी प्राप्त होता है। वैदिक परम्परा में कर्म की संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—ऐसी तीन अवस्थाएं मानी गयी है। पूर्व एवं वर्तमान जीवन के उन कर्मों को संचित कहते हैं जिनका फलोपभोग अभी शुरू नहीं हुआ है। संचित अवस्था की तुलना जैन कर्म की सत्ता नामक अवस्था से की जा सकती है।

जिन कर्मों का फल भोग प्रारम्भ हो जाता है उसे प्रारब्ध कहते हैं। यह उदय स्थानीय है। जो कर्म किये जा रहे हैं उनको क्रियमाण कहते हैं इसकी तुलना बध्यमान कर्म से की जा सकती है। डॉ. टाटिया संचित कर्म की तुलना जैन कर्म की सत्ता से, प्रारब्ध की तुलना उदय एवं क्रियमाण कर्म की तुलना बध्यमान कर्म से करते हैं। दोनों परम्परा की कर्म की अवस्थाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उनका परस्पर नाम का भेद है, स्वरूप में कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

10.8.1 कर्मफल संविभाग

कर्मफल संविभाग का अभिप्राय एक व्यक्ति के किये हुए कर्म के फल का दूसरे को मिलने से है। इस परम्परा में कर्म संविभाग की अवधारणा स्वीकृत है। पितरों आदि के श्राद्ध-तर्पण आदि की व्यवस्था इसी आधार पर है। जैनदर्शन कर्मफल के संविभाग को स्वीकार नहीं करता है।

10.8.2 कर्म-विपाक

कृत कर्मों का फल प्राप्त होता है। ये कर्म नियत एवं अनियत विपाकी होते हैं। कर्म को मानने वाली प्रायः सभी परम्पराओं ने कर्म को नियत एवं अनियतविपाकी माना है।

चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय परम्पराओं ने कर्म को स्वीकार किया है। कर्म के सिद्धान्त के बिना पुनर्जन्म की व्यवस्था ही नहीं की जा सकती है। कर्म की कतिपय अवधारणाओं के सम्बन्ध में उनमें परस्पर मतैक्य है तथा अनेक अवधारणाओं के संदर्भ में मतभेद भी हैं।

10.9 सारांश–कर्म सिद्धान्त का विस्तृत एवं व्यवस्थित वर्णन जैन परम्परा में हुआ है वैसा अन्य परम्परा में दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन परम्परा में कर्म सिद्धान्त की व्याख्या करने वाले स्वतंत्र अनेकों कर्म सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, अन्य परम्पराओं में वे उपलब्ध नहीं है। कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक विवेचन एक नई दृष्टि प्रदान करता है।

10.10 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. कर्म स्वरूप का विमर्श प्रस्तुत करें। **अथवा**
   विभिन्न दर्शनों के संदर्भ में कर्मविपाक की अवधारणा को स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. बौद्धदर्शन मान्य नियत विपाकी एवं अनियत विपाकी कर्म को स्पष्ट करें।
2. कर्मफल के नियामक तत्त्व का विश्लेषण करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जैनदर्शन के अनुसार कर्म—
   अ. चैतसिक है ब. पौद्‌गलिक है
   स. दोनों प्रकार के हैं द. कुछ चैतसिक है, कुछ पौद्‌गलिक हैं।
2. योगदर्शन के अनुसार कर्म का विपाक .... प्रकार का होता है।
3. योग सम्मत जाति जैनदर्शन के किस कर्म से तुलनीय है—
   अ. नाम ब. आयुष्य स. अन्तराय द. गोत्र
4. इर्यापथिकी क्रिया से केवल .... का बंध होता है।
5. सकषायी प्राणी की क्रिया से .... कर्मों का बंध होता है।
6. जैन परिभाषा में कृष्ण को .... एवं शुक्ल को .... कर्म कहते हैं।
7. जैनदर्शन में .... योग कहते हैं।
8. अभिधर्मकोश में कर्म को .... माना गया है।
9. नैयायिक दर्शन में .... शब्द का प्रयोग कर्म अर्थ में हुआ है।
10. .... पुद्‌गल स्कन्धों से ही कर्म का निर्माण होता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. स
2. तीन
3. अ
4. पुण्य
5. पुण्य एवं पाप दोनों प्रकार के।
6. पाप, पुण्य
7. मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति को
8. अविज्ञप्ति
9. अदृष्ट
10. कार्मण वर्गणा के।

☆☆☆

इकाई–11 : अविद्या–जैन, बौद्ध एवं वेदान्त

संरचना

11.0 प्रस्तावना

जैन–दर्शन आत्मवादी दर्शन है। इसमें जीव तथा अजीव के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए समस्त संसार में इन्ही दोनों तत्वों के साहचर्य से होने वाले क्रिया–कलापों को ही देखा जाता है। जैन–दर्शन में आत्मा या जीव को ज्ञान–स्वरूप, आनन्द–स्वरूप, आगम, अगोचर सशरीरी (संसार अवस्था में) अशरीरी (मुक्त अवस्था में) कर्त्ता, भोक्ता आदि विभिन्न रूपों में स्वीकार किया गया है जबकि अजीव–पुद्गल जड़ पदार्थ इससे विपरीत गुणों वाला कहा गया है। जड़ होने के कारण अजीव पुद्गल में चेतना शक्ति एवं ज्ञान के अभाव का बोध, अकर्त्ता, अभोक्ता, संसारस्थ, व्याधिस्वरूप तथा दृष्टिगत आदि लक्षण पाये जाते हैं।

11.1 उद्देश्य–अविद्या का सांगोपांग विवेचन संभव होगा।

11.2 जैन–दर्शन में अविद्या

जैन दर्शन में परमात्मा एवं आत्मा की स्वतंत्र तथा पृथक्–पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। यद्यपि यह सही है कि जीव एवं अजीव संसार के मूल में दो तत्त्व हैं, किन्तु जीव ही कर्म–रहित होकर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है, जिसे परमात्मा की संज्ञा से अभिहित किया गया है। जब तक जीव का अजीव के साथ संयोग है, वह सिद्धत्व प्राप्त नहीं कर सकता। अतः परमात्म–पद को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि आत्मा या जीव अपने ज्ञान गुण को प्रकाशित/प्रकट करे। आत्मा में विद्यमान उत्कृष्ट ज्ञान केवलज्ञान के प्रकट

होते ही जीव या आत्मा पर पड़ा हुआ आवरण समाप्त हो जाता है, जिससे जीव सर्वज्ञ अथवा जगत् के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला कहा गया है। केवलज्ञान के अभाव में आत्मप्रदेशों में पड़े हुए "आवरण" (ज्ञानावरण) के कारण जीव संसार के पदार्थो का यथार्थ रूप ग्रहण नहीं कर पाता। ज्ञानावरण कर्म का बन्ध वस्तु के यथार्थ बोध में बाधक होता है। इसलिए जीव पर पड़ा हुआ ज्ञानावरण कर्म 'अविद्या' का द्योतक है। इसी के कारण जीव को वस्तु का यथार्थ बोध नहीं हो पाता। जैन-दर्शन में अविद्या को राग-द्वेष स्वरूप आसक्ति, प्रीति, मोह, क्षोभ, लोभ, माया आदि विभिन्न रूपों में स्वीकार किया जाता है।

सभी भारतीय दर्शनों में कर्मबन्ध स्वीकार किया गया है। जैन-दर्शन भी इस तथ्य को पूर्ण रूप से स्वीकार करता है। जीव संसार अवस्था में शरीर के संयोग से जब योगपूर्वक क्रियाएं करता है तब पुद्गल कर्म परमाणु आत्म-प्रदेश से चिपक जाते हैं। कर्म का चिपकना ही बन्धन है। बन्धन का कारण है-आस्रव। कर्मो का आगमन ही आस्रव है। इन कर्मो के आस्रव के 5 हेतु हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। जिन कारणों से कर्मबन्धन होता है, वे राग-द्वेष रूप अविद्या के कारण ही होता है। क्योंकि अविद्या ही ज्ञानावरण कर्म के रूप में विद्यमान होकर वस्तु के यथार्थ रूप को ग्रहण करने में बाधक होती है। जब जीव ज्ञान गुण से युक्त होता है, तब आस्रवों के पांच हेतुओं में न्यूनता रहती है अर्थात् योग के कारण किए गये कर्मो का आस्रव कम होता है। मिथ्यात्व का अभाव होना ज्ञान की विद्यमानता का सूचक है। मिथ्यात्व का सद्भाव एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान जैसे संस्कारों को उपस्थित करता है।

विपरीत ज्ञान रूप यह मिथ्यात्व जिसे अज्ञान भी कहते हैं, जैन विचारणा में अविद्या ही है। अविद्या या अज्ञान शब्द जैन आगमों में दो अर्थो में प्रयुक्त हुआ है—एक तो ज्ञान का अभाव या कमी के अर्थ में और दूसरा मिथ्याज्ञान के अर्थ में। पहले वाले को औदयिक अज्ञान और दूसरे वाले को क्षायोपशमिक अज्ञान कहते हैं। मोक्षमार्ग की प्रमुखता होने के कारण आगम में अज्ञान शब्द से प्रायः मिथ्याज्ञान कहना ही इष्ट होता है। पदार्थो के नहीं जानने को अज्ञान कहते हैं। यह ज्ञानाभाव अर्थ में कहा गया है। चूंकि ऐसा ज्ञानावरण कर्म के उदय से होता है, इसलिए औदयिक कहा गया। संशय, विमोह, विभ्रम से युक्त ज्ञान अज्ञान कहलाता है। हिताहित की परीक्षा से रहित होना अज्ञानयुक्त मिथ्यादर्शन है।

11.2.1 मिथ्यात्व के रूप में अविद्या

सामान्यतया अज्ञान एवं अयथार्थ ज्ञान दोनों के लिए जैन आगमों में मिथ्यात्व शब्द का प्रयोग मिलता है। वस्तु तत्त्व का यथार्थ रूप में बोध नहीं होना मिथ्यात्व है। लक्ष्य विमुखता, तत्त्वरूचि का अभाव अथवा सत्य के प्रति जिज्ञासा या अभीप्सा का अभाव ही मिथ्यात्व है। ऐकान्तिक दृष्टिकोण भी मिथ्यात्व के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। मिथ्यात्व अकेला ही बन्धन का कारण नहीं है। प्रमुख होते हुए भी सर्वस्व नहीं है। जैन-दर्शन की शब्दावली में मिथ्यात्व को अनादि तो कहा गया है, किन्तु अनन्त नहीं। क्योंकि भव्य जीवों की अपेक्षा से वह सान्त है। आत्मा पर अविद्या या मिथ्यात्व का आवरण कब से है, यह पता नहीं लगाया जा सकता है किन्तु उससे मुक्ति पाई जा सकती है।

अविद्या एवं विद्या को मूढ़ता एवं अमूढ़ता शब्द से भी जैन-दर्शन में स्वीकार किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार (21-22) में कहते हैं कि जो पुरुष अपने से परद्रव्य सचित्त स्त्री-पुत्रादि, अचित्त धनधान्यादिक, मिश्र ग्रामनगरादिक इनको ऐसा समझे कि ये मेरे हैं, ये पूर्व में मेरे थे, इनका मैं पहले भी था और ये मेरे आगामी होंगे। मैं भी इनका आगामी होऊँगा, ऐसा झूठा आत्म-विकल्प जो करता है वह मूढ़ नहीं है, ज्ञानी है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यथार्थ को अयथार्थ और अयथार्थ को यथार्थ समझने वाली बुद्धि को मिथ्यात्व कहा गया है। इसी के कारण अनात्मा में आत्मबुद्धि, अदेव में देवबुद्धि, कुगुरु में गुरुबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि, अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि, संसार मार्ग में मोक्ष मार्ग बुद्धि का विपर्यास होता है।

जैन-दर्शन में मिथ्यात्व को नैसर्गिक (अनर्जित) एवं परोपदेशपूर्वक दो रूपों में कहा गया है। जो मिथ्यात्व मोह कर्म के उदय से होता है, वह नैसर्गिक है तथा जो मिथ्या धारणा वाले लोगों के उपदेश से स्वीकार किया जाता है, अर्जित या परोपदेशपूर्वक मिथ्यात्व है। इन दोनों मिथ्यात्व में अविद्या विद्यमान है। अतः स्वरूप की दृष्टि से अविद्या रूप मिथ्यात्व को जैन आगमों में पांच प्रकार से विवेचित किया गया है—

(1) एकान्तः अनन्तधर्मात्मक वस्तु में अनन्त गुणों के साथ-साथ अनंत विरोधी गुण भी विद्यमान होते हैं। उन समस्त गुणों एवं विरोधी गुणों में से कुछ गुण ही जाने जाते हैं। अतः वस्तु तत्त्व का एकांगी ज्ञान पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करता, बल्कि आंशिक सत्य को ही उद्घाटित कर पाता है। इस ऐकान्तिक ज्ञान को जैन विचारणा में अविद्या कहा गया है।क्योंकि पूर्ण सत्य को प्रकट करने की शक्ति ऐकान्तिक मिथ्यात्व में नहीं है।

(2) विपर्ययः वस्तु तत्त्व को उसके स्व-स्वरूप के रूप में ग्रहण नहीं कर उसके विपरीत रूप में ग्रहण करना भी मिथ्यात्व है। जैसे आत्मा को पर्यायार्थिक नय से अनित्य माने तथा द्रव्यार्थिक नय से भी अनित्य माने, यही विपरीत मिथ्यात्व अविद्या रूप है। अतः पदार्थ के अयथार्थ ज्ञान को विपर्यय कहते हैं।

(3) वैनयिकः बिना बौद्धिक गवेषणा के परम्परागत तथ्यों, धारणाओं, नियमों आदि को स्वीकार कर लेना वैनयिक मिथ्यात्व है। इसमें रूढ़िवादिता को प्रश्रय दिया जाता है।

(4) संशयः किसी पदार्थ को देखने पर यह स्थाणु है या मनुष्य— इस तरह की दोलायमान स्थिति ही संशय मिथ्यात्व है। जहां पदार्थ के एक धर्म के बारे में दो या अधिक विकल्प हों, वही संशय है।

(5) अज्ञानः जब व्यक्ति में उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक करने की क्षमता का अभाव हो, तब उसे अज्ञान कहा जायेगा। एकान्त, विपर्यय, वैनयिक और संशय ये चारों ज्ञान की कोटि में है, यद्यपि इनसे वस्तु के अयथार्थ स्वरूप को ग्रहण किया जाता है जबकि अज्ञान मिथ्यात्व में ज्ञान का अभाव होता है। अज्ञान ज्ञानाभाव है। अतः ऐसे ज्ञानाभाव अर्थात् अज्ञान की अवस्था में नैतिक आचरण सम्भव नहीं होता।

इस तरह अविद्या की भांति मिथ्यात्व के पांचों भेदों में से चार में ज्ञान की विद्यमानता होते हुए भी वस्तु के अयथार्थ स्वरूप को ही ग्रहण किया जा सकता है जबकि अज्ञान ज्ञानाभाव होने से कुछ भी व्यवहार/विकल्प नहीं किया जा सकता।

11.2.2 दर्शनमोहनीय के रूप में अविद्या

जैनदर्शन में अविद्या का पर्यायवाची शब्द मोह भी है। मोह आत्मा को सत् के सम्बन्ध में यथार्थ दृष्टि को विकृत कर उसे गलत मार्गदर्शन करता है और असम्यक् आचरण के लिए प्रेरित करता है। परमार्थ और सत्य के सम्बन्ध में जो अनेक भ्रान्त धारणाएं आती हैं, उनका आधार यही मोह है। मिथ्यात्व, मोह अथवा अविद्या के कारण व्यक्ति की दृष्टि दूषित हो जाती है। परिणाम स्वरूप व्यक्ति की परम मूल्यों के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाएं बन जाती हैं। वह उन्हें ही परम मूल्य मान लेता है जो कि वस्तुतः परममूल्य या सर्वोच्च मूल्य नहीं होते हैं।

अविद्या अष्ट कर्मो के अन्तर्गत दर्शन मोहनीय कर्म से सम्बन्धित है, क्योंकि दर्शन मोह के कारण जीव तत्त्व-अतत्त्व का भेद नहीं कर पाता। उसमें मदिरापान किए जैसी स्थिति कही गयी है जो कर्म आत्मा में मूढ़ता उत्पन्न करते हैं उन्हें मोहनीय कर्म कहा गया है। सभी आठ कर्मो में शक्तिशाली, प्रधान तथा राजा रूप यही मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म आत्मा के वीतराग भाव को विकृत कर देता है। मोहनीय कर्म की तुलना मदिरापान से की गयी है जिससे मानव परवश हो जाता है स्वयं अपने का भी ध्यान नहीं रहता।

हिताहित के विवेक से विहीन संसार के विकारों में उलझा रहता है। अविद्या के कारण व्यक्ति की ऐसी स्थिति बनती है।

मोहनीय कर्म के दो भेद- दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय में से दर्शन मोहनीय को अविद्या कहा गया है। क्योंकि दर्शन मोहनीय के कारण आत्मा का विवेक लुप्त हो जाता है। जिससे तत्त्व में अतत्त्व एवं अतत्त्व में तत्त्व की प्रतीति होने लगती है। दर्शन मोहनीय के तीन भेद किए गए हैं:—

(1) सम्यक्त्व मोहनीय—जो कर्म सम्यक्त्व को मलिन तथा दोषपूर्ण बनाते हों, सम्यक्त्व मोहनीय है।

(2) मिथ्यात्व मोहनीय—जो कर्म तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देते और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करते हैं।

(3) मिश्रमोहनीय—जो कर्म तत्त्व श्रद्धा में दोलायमान स्थिति उत्पन्न करता है।

11.3 बौद्ध दर्शन में अविद्या

अन्य दर्शनों की भांति कर्म-बन्धन बौद्ध दर्शन में स्वीकार किया गया है। इसमें भी कर्म शब्द का अर्थ 'क्रिया' रूप में किया गया है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक—इन तीन क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। उसमें चेतना शब्द का प्रयोग किया गया है। तत्त्व को प्रमुखता देने के साथ-साथ बौद्ध दर्शन में कर्म को ही चेतना मान लिया गया है। जैन-दर्शन में कर्म जड़-पुद्गल रूप है। क्योंकि चेतना के साथ उसका बन्धन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार गीले शरीर में रजकण का।

आत्मा के साथ बन्धन और मुक्ति की धारणा जैन-दर्शन की भांति बौद्ध-दर्शन में भी स्वीकार की गयी है। बौद्ध विचार में संसार (बन्धन) का कारण कुछ न कुछ है, यह स्वीकार किया जाता है। व्यक्ति संसार को यथार्थ रूप में नहीं जान पाता और दु:ख के संसार में भटकता रहता है। आत्मा के साथ दु:ख, दु:ख समुद्रय, दु:ख निरोध (मोक्ष) और उसके उपाय ये चार सत्य लगे ही रहते हैं। इन चारों सत्यों का साक्षात्कार करके ही जीव निर्वाण प्राप्त कर सकता है। किन्तु संसार अवस्था में जब आत्मा इनके बीच या भवचक्र में फंसी रहती है, उसके मूल में जिन कारणों को बौद्ध दर्शन स्वीकार करता है, वे 'द्वादशांग' हैं अर्थात् अतीत,वर्तमान और भविष्य जन्म की अपेक्षा से ये द्वादश तत्त्व ही क्रमश: कारण बनते हैं जिन्हें बौद्ध दर्शन प्रतीत्यसमुत्पाद (कारणवाद) कहता हैं। प्रतीत्य+समुत्पाद का अर्थ है—प्राप्ति कर+प्रादुर्भाव। इसके पीछे यह भावना जुड़ी हुई है कि "एक के होने पर दूसरे की उत्पत्ति होना"—**इमस्मि सति इदं होति।** अत: यह कहा जा सकता है कि संसार की इस गति धारा में बौद्ध दर्शन ने द्वादश कारण बताये हैं। जिनके द्वारा ही भवचक्र निर्धारित होता है। वे हैं—

अविद्या →	संस्कार →			अतीत जन्म
विज्ञान →	नामरूप →	षडायतन (इन्द्रियां)		वर्तमान जीवन
स्पर्श →	वेदना →	तृष्णा→	उपादान →	भव
जाति →	जरामरण →			भविष्य जन्म

इन द्वादश निदानों में अविद्या सर्वप्रथम आती है। अविद्या का अर्थ यहाँ भी आवरणयुक्त ज्ञान किया गया है अर्थात् संसार के स्वरूप को नहीं जानने की शक्ति ही अविद्या है। अविद्या का अर्थ है—अज्ञान। प्राय: चार आर्य सत्यों का अज्ञान ही अविद्या है। अनित्य दु:ख और अनात्मभूत जगत् में आत्मा को खोजना या सुख को खोजना अविद्या है। अभिधर्म कोश के भाष्यकार आचार्य वसुबन्धु पूर्वजन्म की क्लेशावस्था को ही अविद्या कहते है। यह पूर्वजन्म की अवस्था अज्ञान, मोह तथा लोभ के वश होकर क्लेशबद्ध ही बनी रहती है।

आचार्य बुद्धघोष ने प्रज्ञाभूमि (विसुद्धिमग्ग) अध्ययन में स्पष्ट किया है कि अविद्या ही स्कन्धों की राशि होने, आयतनों के आयतन होने, धातुओं के शून्य होने तथा इन्द्रियों के अधिपति होने से सत्यों का

यथार्थ ज्ञान नहीं कराती। अन्तहीन इस संस्कार में सब योनि, गति, भव, विज्ञान की स्थिति और सत्त्वों के आवास में सत्त्वों को दौड़ाती रहती है, यह इसलिए भी अविद्या है। अविद्या स्वरूप से 'मोह' ही है। अविद्या, अज्ञान, अदर्शन और मोह ये सभी एकार्थक हैं।

वैसे अविद्या संसार का मूल कारण नहीं कही जा सकती, क्योंकि मज्झिमनिकाय में कहा गया है—**"आस्रवसमुदया अविज्जासमुदयोति"** अर्थात् आस्त्रव के उत्पन्न होने पर अविद्या उत्पन्न होती है, अतः अविद्या का कारण आस्रव है। इसलिए अविद्या स्वयं संसार का मूल कारण नहीं है। अविद्या के मूल में आस्रव तथा आस्रव के मूल में अविद्या। इस तरह यह भावचक्र चलता रहता है।

बौद्ध दर्शन में द्वादश निदानों का जो क्रम है वह निम्नानुसार है—अविद्या प्रत्यय से संस्कार, संस्कार प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान प्रत्यय से नामरूप, नामरूप प्रत्यय से षडायतन, षडायतन प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श प्रत्यय से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा प्रत्यय से उपादान, उपादान प्रत्यय से भव, भव प्रत्यय से जाति, जाति प्रत्यय से जरा-मरण-शोक-परिदेव दुख -दौर्मनस्य और उपायास होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण दुःख-स्कन्ध का समुदय होता है। अविद्या का हेतु आस्रव एवं आस्रव का हेतु अविद्या द्वारा ही संसार की स्थिति बनती है। अविद्या के कारण जन्म-मरण परम्परा का संसरण होता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में अविद्या संसार में आवागमन (बन्धन) का मूलाधार है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो अविद्या जैन-परम्परा के दर्शन मोह के समान है। दोनों दर्शनों में इसे आध्यात्मिक अंधता एवं विपरीत ज्ञान की दृष्टि के रूप में दर्शाया गया है। जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में अविद्या को अहेतुक या अकारण नहीं माना गया बल्कि कार्य-कारण सम्बन्ध इसके साथ माना गया है। बौद्ध परम्परा में जहाँ अविद्या और तृष्णा में कार्य-कारण स्वीकार किया गया, वहीं जैन-दर्शन में दर्शनमोह और चारित्र के साथ परस्पर सम्बन्ध माना गया। इसलिए अविद्या अथवा दर्शनमोह का हेतु तृष्णा या चारित्रमोह है। यहाँ पर अविद्या को सहेतुक इसलिए दर्शाया गया है, क्योंकि हमें जीवन में प्राप्त होने वाले बन्धन या दुःख का कोई न कोई तो हेतु मानना ही पड़ेगा। अतः दुःख का हेतु अविद्या ही है। इसलिए सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि चार आर्य सत्यों का ज्ञानाभाव अविद्या है।

11.4 जैन एवं बौद्धः एक तुलनात्मक दृष्टि

अनात्मवादी होने के बावजूद अविद्या को आत्मनिष्ठ मानने वाले बौद्ध दर्शन के चार प्रस्थानों में से विज्ञानवादी एवं शून्यवादी अविद्या को इन्द्रियानुभूति का विषय मानते हैं। बौद्ध दर्शन में अयथार्थ को यथार्थ मानना अविद्या का कारण है। प्रतीत्य समुत्पाद के अन्तर्गत विद्या को मूल में रखते हुए अविद्या एवं तृष्णा में कार्य-कारण सम्बन्ध सिद्ध किया गया है अर्थात् अविद्या के कारण तृष्णा एवं तृष्णा के कारण अविद्या उत्पन्न होती है। जैन दर्शन में मोहनीयकर्म के दर्शन एवं चारित्र, ये दो भेद किए गए हैं। ये दोनों ज्ञेयावरण (दर्शनमोह) एवं क्लेशावरण (चारित्रमोह) की कोटि में रखे जा सकते हैं। बौद्ध दर्शन जहाँ अविद्या को द्वादश निदान के मूल में स्वीकार करता है, वहीं जैन-दर्शन मिथ्यात्व के रूप में तथा मोहनीय कर्म के अन्तर्गत दर्शन मोह के रूप में स्वीकार करता है।

जैन और बौद्ध विचारणा में एकता दिखाई तब देती है जब आस्रव के मूल में अविद्या को रखा जाता है। जैन दर्शन में मिथ्यात्व आदि से आस्रव की उत्पत्ति मानी गयी है। मिथ्यात्व के कारण जीव विपरीत ज्ञान की धारणा करता है। बौद्ध दर्शन में भी आस्रव का हेतु अविद्या होने के कारण अविद्या को विपर्यय अथवा विपरीत ज्ञान वाला कहा गया है। अयथार्थ दृष्टि से मुक्त होने के कारण अविद्या दुःख रूप है। डॉ नथमल टाटिया की पुस्तक "स्टडीज इन जैन फिलासफी" में विस्तार से इसकी चर्चा की गई है।

11.5 वेदान्त दर्शन में अविद्या

वेदान्त दर्शन में अविद्या का संप्रत्यय स्वीकार किया गया है। वहाँ पर अज्ञान, विवर्त, माया, अध्यास आदि के रूप में विश्व प्रपंच कर्त्ता अविद्या का वर्णन मिलता है। वेदान्त दर्शन में अविद्या का विवेचन

निम्नानुसार किया जा रहा है, जहाँ शंकर पूर्व वेदान्त के रूप में योगवासिष्ठ एवं गौड़पादाचार्य के विचारों को भी स्पष्ट किया गया है—

11.5.1 योगवासिष्ठ के अनुसार

योगवासिष्ठ के अनुसार यह सारा संसार अनित्य, असार, क्षणभंगुर और मायामय है। संसार के समस्त पदार्थ समुद्र के जल तरंग के समान हैं। सभी मनुष्य मोह के वशीभूत हैं, जिससे उन्हें संसार के दुःखों को भोगना पड़ता है। यहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदान्त पर बौद्धों का प्रभाव पड़ा है, क्योंकि वेदान्त में भी संसार को दुःखमय स्वीकार किया गया है। अतः इससे मुक्त होना ही अविद्या या माया से रहित होना है। योगवासिष्ठ में भी अद्वैत को ही प्रतिपादित किया गया है।

11.5.2 जगत्

योगवासिष्ठ के अनुसार यह जगत् मनोमय, कल्पनामय तथा स्वप्न के समान अनुभव करने वाला है। दृश्यमान इस जगत् को योगवासिष्ठ में (3/1/20) अविद्या, संसृत, महत्तमस्, कल्पना, मोह, माया आदि अनेक नामों से कहा गया है—

अविद्या संसृतिर्बन्धो माया मोहो महत्तमः।
कल्पितानीति नामानि यस्याः सकलवेदिभिः।।

संसार के सब पदार्थ कल्पनामय होने से शश-श्रृंग के समान असत् हैं। जगत एवं स्वप्न अवस्था में कोई अन्तर नहीं है। जागृत में स्थिर का अनुभव होता है जबकि स्वप्न अवस्था में अस्थिर का। दोनों में बाह्य वस्तुओं की प्रतीति आदि समान रूप से होती है। सभी जीव ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं। जीवन ही सृष्टि का कर्त्ता है। समुद्र की लहरों के समान ब्रह्म में अनन्त जगत् उत्पन्न और लीन होता रहता है। प्रलयकाल में केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है। फिर ब्रह्म से सृष्टि निर्मित होती है। इस प्रकार वह ब्रह्म ही बाह्यजगत् के रूप में अपने आपको परिणत कर लेता है। इसी से आकाश आदि भूतप्रपंच और जीव प्रपंच की उत्पत्ति होती है।

11.5.3 जीव

जीवित और चेतन होने के कारण जीव कहा जाता है। जिस प्रकार हिलते हए जल से लहरों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मा से जीवों की उत्पत्ति कही गई है। आत्मा और शरीर अलग-अलग है। एक शरीर को छोड़कर जीव दूसरे शरीर को धारण करता है। जब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता तब तक शरीर धारण रूप जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है। आत्मा के लिए जीवन और मरण नहीं है। जीव के ही कर्म-बन्धन होता है। ब्रह्मा जिससे जीव की उत्पत्ति होती है वह कर्म-बन्धन से रहित है। जीव को पन्द्रह जातियों में विभक्त कर उसके सात प्रकार बतलाये गये हैं। स्वप्नजागर, संकल्पजागर, केवलजागर, चिरजागर, धनजागर, जागृत् स्वप्न तथा क्षीणजागर।

वेदान्त में ब्रह्म ही एक मात्र सत् वस्तु है। जीव और जगत् को असत्य बतलाया गया है। संसार का कारण अविद्या है। चित्त को ही अविद्या का नाम दिया गया है **(चित्त्मेव सकलाडम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि)**। ब्रह्म की चित् शक्ति ही माया के रूप में प्रकट होती है। अज्ञान के कारण जगत् का अनुभव होता है। ज्ञान उत्पन्न होने पर जगत् का नाश हो जाता है। तब एक मात्र ब्रह्म रह जाता है। वह सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। आत्मानन्द ही अन्तिम गति है जिसे जीव प्राप्त करना चाहता है।

11.5.4 बन्ध और मोक्ष

संसार के पदार्थो के प्रति वासना के प्रबल होने को बन्धन कहा जाता है तथा समस्त वासनाओं का क्षय होना मुक्ति (मोक्ष) है। वासना बन्धन का कारण है। जीव वासना में पड़कर अपने आत्मस्वरूप को

भूलने से बन्धन में पड़ जाता है। यह वासना रूप बन्धन का मुख्य कारण अज्ञान कहा गया है। अज्ञान के समाप्त हो जाने से सम्यक् ज्ञान पूर्वक चित्त की सभी इच्छाएं जब नष्ट हो जाती हैं तब चित्त की वह क्षय-दशा ही मोक्ष कहलाती है। अतः ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति का मुख्य उपाय कहा गया है। ज्ञान के अभाव में अज्ञान की दशा संसार का (बन्धन का) कारण कही गयी है।

11.5.5 गौड़पादाचार्य के अनुसार

गौड़पादाचार्य ने अपनी 'माण्ड्क्यकारिका' में माया से प्रभावित अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—

अनादिमायया सुप्तो यदाजीवः प्रबुध्यते।
अजन्मनिद्रामस्वप्नद्वैतं बुध्यते तदा।। 1/6

अर्थात् अनादिकालीन माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव जब जागता है तब वह अजन्म, निद्रा-रहित, स्वप्न-रहित, अद्वैत तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है।

गौड़पाद ने जगत् को मिथ्या मात्र बताया है। यह द्वैतरूप प्रपंच माया मात्र है। परमार्थ नैश्चयिक रूप में द्वैत है ही नहीं, अद्वैत मात्र है। सारा का सारा प्रपंच ब्रह्म का विवर्त कहा गया है। संसार का अनुभव विषय-प्रतीति मात्र है और मिथ्या है। माया-मोहित जीव को भेद प्रपंच की भ्रान्ति होती है। माया का पर्दा हटते ही एक मात्र अखण्ड अद्वैत वस्तु शेष रह जाती है जिसे ब्रह्म कहा गया है। गौड़पादाचार्य ने सभी वस्तुओं की अयथार्थता सिद्ध करते हुए कहा कि यह सारा विश्व मायामय है—

स्वप्नमये यथादृष्टे गंधर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।। 2/31

अर्थात् जैसे स्वप्न दिखाई देता है, जैसे माया दिखाई पड़ती है, जैसे गंधर्वनगर होता है उसी प्रकार वेदान्त में विद्वानों को यह विश्व दिखाई देता है। अतः स्वरूप-विस्मृति ही माया है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में चित में कल्पना किये गये पदार्थ असत्य और बाहर देखे जाने वाले पदार्थ सत्य जान पड़ते हैं उसी प्रकार जागृत अवस्था में भी मानसिक और इन्द्रिय ग्राह्य दोनों ही पदार्थ असत्य हैं। माया के कारण ही अव्यक्त वासना रूप से स्थित भेद-समूह को व्यक्त करता है।

11.5.6 मण्डनमिश्र के अनुसार

अद्वैत दर्शन के इतिहास में मण्डनमिश्र का अपना विशेष स्थान है। इन्होंने ब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ में ब्रह्म, तर्क, नियोग एवं सिद्धि, इन चार अध्यायों का विवेचन करते हुए अविद्या के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। उन्होंने अविद्या को न सत् एवं न असत् मानते हुये लिखा है—

नाविद्या ब्रह्मणः स्वभावः, नार्थान्तरम् नात्यन्तमसती, नापि सती, एमेवेयम विद्या माया मिथ्यावभास इत्युच्यते। (ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ 9)

नाम रूपों की भिन्नता से स्पष्ट होता है कि अविद्या एक नहीं, अपितु अनेक हैं। प्रत्येक जीव के साथ जो एक अविद्या अवस्थित है उसका आधेय ब्रह्म है। इस प्रकार मण्डनमिश्र जीव को अविद्या का आधार और ब्रह्म को आधेय मानते हैं। अग्रहण एवं अन्यथा-ग्रहण के रूप में दो प्रकार की अविद्याओं का निर्देश मण्डनमिश्र ने किया है।

11.5.7 शंकराचार्य के अनुसार अविद्या

शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवेदान्त में आत्मा या ब्रह्म को ही केन्द्र में रखकर दार्शनिक विचारणा की है। अद्वैतमत में आत्मा और ब्रह्म में अभेद है, इसीलिए शंकर बार-बार उपनिषदों से यह धारणा लेते हुए कहते हैं—

अहं ब्रह्मास्मि (वृह. उप. 1/4/10), **अयमात्मा ब्रह्म** (वृह. उप. 2/5/19)
तत्त्वमसि (छान्दो. 6/8/7), **एकमेवाद्वितीयम्** (छान्दो. 6/2/2)
सर्वं खल्विदं ब्रह्मं (छान्दो. 3/14/1), **नेह नानास्ति किंचन** (वृह. उप. 4/4/19)
आत्मा व इदमेक एवाग्र आसीत (ऐस. 2/1/1)

ऐसी धारणा के पीछे शंकर को आत्मा और ब्रह्म में अभेद सम्बन्ध बताना ही अभीष्ट था। यह तभी संभव है जब सत् एक मात्र 'ब्रह्म' ही हो, जो जगत् का कारण है। एक मात्र ब्रह्म के कहने से यह भी फलित हो जाता है कि एक को जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है। आचारांग भी इसी बात को दर्शाता है। **"जे एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ।"**

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अस्थूल, अनणु अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित आदि विशेषणों से समझाया गया है। यही ब्रह्म का परमार्थ रूप है। किन्तु माया की उपाधि से संयुक्त ब्रह्म, जिसे ईश्वर भी कहते हैं, जगत् की स्थिति, उत्पत्ति और भंग का कारण होता है। शंकराचार्य ने अद्वैत के आधार पर एकत्ववाद की जो सिद्धि की है वह मायावाद के रूप में भी जानी जाती है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त की मुख्य मान्यताएं निम्नानुसार कही जा सकती हैं—

1. एक मात्र तात्त्विक पदार्थ कूटस्थनित्य, निर्गुण, सच्चिदानन्द ब्रह्म है।
2. जीव और ब्रह्म एक ही है।
3. जीव और ब्रह्म के भेद अथवा बन्धन युक्त होने का मूलकारण है अविद्या।
4. यह दृश्यमान जगत् माया का कार्य-मिथ्या है।

शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त में अविद्या को माया, विवर्त, अध्यास के रूप में बता कर जगत् को इसका प्रतिरूप माना है। अतः यहां अविद्या के तीनों रूपों की चर्चा की गई है।

11.5.8 माया और अविद्या

ब्रह्म अथवा आत्मा की तरह ही वेदान्त का दूसरा प्रत्यय माया अथवा अज्ञान का है, जिसे अविद्या कहते हैं। शंकर ने माया एवं अविद्या शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में किया है। ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीति है, जिसकी भी प्रतीति है, वह अविद्या है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी अविद्यामूलक है। संसार में दृश्यमान सभी पदार्थज्ञान पर अविद्या के पड़े हुए आवरण के कारण मूल रूप में ग्रहण नहीं किए जा सकते । ब्रह्म सूत्र के भाष्य में शंकर ने अविद्या को माया की शक्ति के रूप में प्रदर्शित किया है। वहां उन्होंने कहा कि सत् और असत् से विलक्षण संसार प्रपंच के बीजभूत नाम और रूप जो अविद्या कल्पित हैं, सर्वज्ञ ईश्वर के मानो आत्मभूत हैं। इन्हीं को ईश्वर की माया शक्ति कहा जाता है। गीता भाष्य (9/10) में शंकर ने स्वयं माया को **"त्रिगुणात्मिका अविद्यालक्षणा प्रकृति"** कहा है जो चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। ब्रह्मसूत्र (1/4/3) के भाष्य में शंकर ने अविद्या को कई नामों से उल्लिखित किया है। यथा- अविद्या, अव्यक्त, आकाश, अक्षर, माया आदि। यहां शंकराचार्य की विशेषता यह दिखाई देती है कि उन्होंने माया संयुक्त परमेश्वर ही जगत् का स्रष्टा है। इसीलिए माया का आश्रय परमेश्वर को बतलाया है, ब्रह्म को नहीं।

अविद्या को विभिन्न तरह से शंकराचार्य ने स्पष्ट किया है। कहीं-कहीं शंकराचार्य ने अविद्या को तामस प्रत्यय बताने के लिए कहा है—**तामसो हि प्रत्ययः आवरणात्मकत्वात् अविद्या**-(गीता भाष्य 13/2)

शंकराचार्य के माया रूप जगत् के सिद्धान्त को अन्य आचार्यो ने भी स्पष्ट किया तथा अविद्या को अज्ञान के रूप में विवेचित किया। पद्मपाद ने 'पंचपादिका' में माया या अविद्या को अनिर्वचनीय अविद्या शक्ति कहा है। विशेष यही है कि माया या अज्ञान अनादि और भाव रूप है, सत्-असत् से विलक्षण है। 'संक्षेपशारीरक' नामक कृति में आचार्य सुरेश्वर जी ने भी अज्ञान शब्द का प्रयोग किया था। वाचस्पतिमिश्र ने

शंकराचार्य से भिन्न अर्थ में अविद्या के स्वरूप को स्पष्ट किया। वे कहते हैं कि अविद्या का आश्रय जीव है जबकि उसका विषय ब्रह्म है। जीव को जैन दर्शन की भांति अनादि-निधन मानने से अविद्या को जीव का आश्रय मानना दुरूहता नहीं बल्कि सहज ही हैं।

11.5.9 विवर्तवाद

वेदान्त का कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त विवर्तवाद कहलाता है। नैयायिकों के असत्कार्यवाद के विरुद्ध अद्वैत वेदान्ती सत्कार्यवाद का पक्ष लेते हैं। उत्पत्ति से पहले कार्य को न तो नैयायिकों की तरह असत् मानना चाहिए और न ही सांख्यों की तरह सत्। सत् कारण से अनिर्वचनीय कार्य उत्पन्न होता है। अनिर्वचनीय कार्य का पारिभाषिक नाम विवर्त है। उपादान कारण का सदृश कार्य परिणाम कहलाता है और विषम कार्य विवर्त। सर्प रस्सी का विवर्त है। क्योंकि उसकी सत्ता रस्सी से भिन्न प्रकार की है। यहां पर रस्सी की व्यावहारिक सत्ता है तथा सर्प की प्रातिभाषिक। इसी तरह जगत् ब्रह्म का विवर्त है। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है और जगत् की व्यावहारिक।

11.5.10 अध्यास

यदि आत्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभावी कहा गया है तो उसमें अनित्यता, अशुद्धि, अल्पज्ञता एवं बन्धन क्यों दिखाई देते हैं। अत: जिस कारण आत्मा में विरोधी स्वभाव जैसे अनित्यता, अशुद्धि, अल्पज्ञता एवं बन्धन आदि दिखाई देते हैं वही अध्यास है, मिथ्यादर्शन है। आत्मा में अनात्मा को और अनात्मा में आत्मा को देखना या स्वीकार करना ही अध्यास है और यह अज्ञान अथवा मिथ्यारूप अध्यास अविद्या के कारण होता है। ब्रह्मसूत्र में शंकर ने अध्यास की परिभाषा करते हुए लिखा है—**"स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।"**

अर्थात् किसी जगह पहले देखे हुए की प्रतीति स्मृति रूप है। रज्जु में सर्प की प्रतीति करना अध्यास है। अत्यन्ताभाव के रूप में सर्प का आरोपण भ्रमवश होता है और यह भ्रम यथार्थ-बोध के अभाव के कारण अर्थात् अज्ञान के कारण होता है। स्मृति में ज्ञान का विषय होने वाली वस्तु हमारे सामने नहीं होती। हम उस वस्तु विशेष को ज्ञान के आधार पर उन गुणों को आरोपित कर देते हैं। इसलिए अध्यास में स्मृति को स्वीकार किया गया है। रज्जु में सर्प का आरोपण करने पर यह कहा जा सकता है कि रज्जु परमार्थ सत् है तथा सर्प भ्रांति अध्यास रूप होने से मिथ्या है। अध्यास अवस्था में सत् तत्त्व के गुण-दोषों में कोई परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है। किन्तु इससे ब्रह्म के गुण-दोषों में कहीं कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता। हम उसमें विकार या परिवर्तन का आरोपण अज्ञानता वश कर देते हैं। यही अज्ञानता अध्यास है, अविद्या है, माया है या विवर्त है। इसीलिए अद्वैत वेदान्ती जगत् को ब्रह्म का विवर्त रूप कार्य मानते हैं और ब्रह्म को जगत् का विवर्त रूप कारण स्वीकार करते हैं। सांख्य की प्रकृति की भांति ब्रह्म परिणामी नहीं है। क्योंकि सर्प रज्जु का विवर्त होता है, न कि परिणाम।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में अविद्या को माया, विवर्त, अध्यास तथा अज्ञान (ज्ञान का अभाव) के अर्थ में प्रतिपादित किया गया है।

11.6 जैन और वेदान्त तुलनात्मक दृष्टि

जैन परमपरा में बन्धन के लिए तीन शब्दों का उल्लेख मिलता है—राग, द्वेष और मोह। इन तीनों से ही जीव संसार के बन्धन में पड़ कर कर्मो से सबद्ध हो जाता है। राग-द्वेष और मोह मिथ्यात्व के रूप कहे गये हैं, जिनसे जीव सम्यक् बोध प्राप्त नहीं कर पाता। विपरीत ज्ञान एवं अज्ञानयुक्त जीव की स्थिति अविद्या के कारण ही होती है। इसी प्रकार वेदान्तिक परम्परा में भी जगत् के प्रति आसक्ति एवं मिथ्या दृष्टिकोण का मूल अविद्या को माना है। जगत् माया की शक्ति से नियंत्रित एवं संचालित है। उससे ही अनेकतामय जगत्

की अस्तित्वयुक्त प्रतीति होती है। नानारूप जगत् का आधार माया है और अविद्या के कारण (जगत् की यथार्थ प्रतीति नहीं होने से) जीव जगत् से बंधा हुआ है। वेदान्त में माया न तो सत् है और न असत्। अयथार्थ होने से सत् नहीं है और लोक व्यवहार में व्यवहृत होने से असत् भी नहीं है। इसलिए माया अथवा अविद्या को वैयक्तिक आसक्ति कहा गया है। अतः वेदान्त दर्शन में जगत् को माया, विवर्त एवं अध्यास शब्द से सम्बोधित किया गया है। जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है जबकि जगत् की व्यावहारिक। आत्मा में अनात्मा, यथार्थ में अयथार्थ आदि जैसे गुणों को अध्यास कहा गया है।

इस तरह माया अर्धसत्य है, पूर्ण नहीं। तार्किक दृष्टि से माया सत्य अथवा असत्य कोई एक ही हो सकती है। जैन दृष्टिकोण से सत्य सापेक्ष हो सकता है किन्तु अर्धसत्य सापेक्ष नहीं हो सकेगा। अतः अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह, माया विवर्त, अध्यास आदि शब्दों के द्वारा अविद्या व्याख्यायित की गई है।

11.7 सारांश

जैन, बौद्ध एवं वेदान्त, इन तीनों की समन्वित दृष्टि से यदि अविद्या को परिभाषित करना हो तो यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की आत्मा पर अज्ञान का आवरण पड़ा होने के कारण उसे वस्तु की यथार्थता का बोध/अनुभव नहीं हो पाता। उसके लिए जैन दर्शन में कर्मबन्ध के पांच हेतुओं में मिथ्यात्व और दर्शन मोह की अवस्था को ही अविद्या कहा है। बौद्धों ने प्रतीत्य समुत्पाद के अन्तर्गत भवचक्र के बारह कारणों में अविद्या को मूल में रखा और उसे ही आस्रव का कारण माना। वेदान्त दर्शन में जगत् को माया, विवर्त एवं अध्यास के रूप में स्वीकार करते हुए आत्मा पर अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ माना गया है। मनुष्य को इसी अज्ञान के कारण जगत् की यथार्थता का बोध नहीं हो पाता। इस प्रकार सभी दर्शनों में अविद्या को किसी न किसी नाम से स्वीकार किया गया है।

11.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अविद्या क्या है? जैन एवं वेदान्त दर्शन के अनुसार अविद्या का स्वरूप बताइए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन में अविद्या किसे कहा है? समझाइए।
2. जैन-दर्शन तथा शंकराचार्य ने अविद्या के पर्यायवाची कौन-कौन से शब्द दिये हैं? संक्षेप में लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "अविद्या के मूल में आस्रव एवं आस्रव के मूल में अविद्या" यह कथन किसका है?
2. बौद्धदर्शन में भवचक्र का विवेचन किस सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जाता है?
3. जैन-दर्शन में अविद्या किन-किन अर्थो में विवेचित की गई है?
4. आत्मा को अनात्मा और आत्मा को अनात्मा या अन्यरूप किस मिथ्यात्व में माना जाता है?
5. शंकराचार्य ने जगत् को कैसा माना है?
6. "सर्वखल्विदं ब्रह्म" पंक्ति .... ग्रन्थ की है।
7. जैन-दर्शन में अविद्या का सम्बन्ध ....कर्म से है।
8. मिथ्यात्व के .... भेद हैं।
9. ....होने पर मुक्ति प्राप्त होती है।
10. ब्रह्मसिद्धि नाम ग्रन्थ .... का है।

☆☆☆

संवर्ग–4 : जैन प्रमाण

इकाई–12 : अनेकान्त–जैन, मीमांसा, वेदान्त एवं बौद्ध

संरचना

12.0 प्रस्तावना

विश्व के स्वरूप विषयक चिन्तन का मूल ऋग्वेद से भी प्राचीन है। इस चिन्तन के फलस्वरूप विविध दर्शन क्रमशः विकसित और स्थापित हुए जो संक्षेप में पांच प्रकारों में समा जाते हैं—केवल नित्यवाद, केवल अनित्यवाद, परिणामी नित्यवाद, नित्यानित्य उभयवाद और नित्यानित्यात्मकवाद। ब्रह्मवादी वेदान्ती केवल नित्यवादी हैं, क्योंकि उनके मत से अनित्यत्व आभासिक मात्र है। बौद्ध क्षणिकवादी होने से केवल अनित्यवादी हैं। सांख्ययोगादि चेतन भिन्न जगत् को परिणामी नित्य मानने के कारण परिणामी नित्यवादी हैं। न्याय–वैशेषिक आदि कुछ पदार्थों को मात्र नित्य और कुछ को मात्र अनित्य मानने के कारण नित्यानित्य उभयवादी हैं। जैनदर्शन सभी पदार्थों को नित्यानित्यात्मक मानने के कारण नित्यानित्यात्मकवादी है। नित्यानित्यत्व विषयक दार्शनिकों के उक्त सिद्धान्त श्रुति और आगमकालीन उनके अपने–अपने ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से वर्णित पाये जाते हैं और थोड़ा बहुत विरोधी मन्तव्यों का प्रतिवाद भी उनमें देखा जाता है। इस तरह तर्क युग के पहले भी विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में नाना दर्शन और उनमें पारस्परिक पक्ष–प्रतिपक्ष भाव स्थापित हो गया था।

तर्कयुग अर्थात् करीब दो हजार वर्ष के दर्शन साहित्य में उसी पारस्परिक पक्ष–प्रतिपक्ष भाव के आधार पर वे दर्शन अपने–अपने मन्तव्य का समर्थन और विरोधी मन्तव्यों का खण्डन विशेष–विशेष युक्ति–तर्क के द्वारा करते हुए देखे जाते हैं। इसी तर्क–युद्ध के फलस्वरूप तर्कप्रधान दर्शनग्रन्थों में यह निरूपण सब दार्शनिकों के लिए आवश्यक होगा कि प्रमाण निरूपण के बाद प्रमाण के विषय का स्वरूप अपनी–अपनी दृष्टि से बतलाना, अपने मन्तव्य की कोई कसौटी रखना और उस कसौटी को अपने ही पक्ष में लागू करके अपने पक्ष की यथार्थता साबित करना एवं विरोधी पक्षों में उस कसौटी का अभाव दिखाकर उसकी अवास्तविकता साबित करना।

12.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से अनेकान्त के बारे में जानकारी हो सकेगी।

12.2 जैन दर्शन में अनेकान्त विषयक दृष्टि

जैनदर्शन ने वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मक स्वीकार किया है तथा विविध दर्शनों की ऐकान्तिक मान्यताओं को अनेकान्त के सूत्र में पिरोकर एक विशेष दृष्टि प्रदान की है। यद्यपि सभी दर्शनों की वस्तु–स्वरूप के प्रतिपादन की अपनी–अपनी दृष्टि है परन्तु उनकी मान्यताओं में अनेकान्त के बीज अवश्य ही

विद्यमान हैं, क्योंकि इसके माने बिना कहीं न कहीं विसंगतियां उत्पन्न होती हैं। जैनदर्शन में नय दृष्टियों के अन्तर्गत वे सभी दृष्टियां मान्य हैं परन्तु उनमें धर्मान्तर सापेक्षता की स्वीकृति आवश्यक है अन्यथा वे भी कुनय की श्रेणी में आ जायेंगे। अनेकान्त के द्वारा ही विविध दार्शनिक समस्याओं का समाधान संभव है, क्योंकि उनकी अस्वीकृति में वस्तु का अर्थक्रियाकारित्व नहीं बन सकता।

विश्व और सृष्टि की प्रक्रिया जानने के लिए जैन आचार्यों ने अनेकान्त दृष्टि की स्थापना की। उनका अभिमत था कि द्रव्य अनन्तधर्मात्मक है। उसे एकान्त दृष्टि से नहीं जाना जा सकता। उसे जानने के लिए अनन्त दृष्टियां चाहिए। उन सब दृष्टियों के सकल रूप को प्रमाण और विकल रूप को नय कहा जाता है। प्रमाण दो हैं—

1. प्रत्यक्ष—आत्मा को किसी माध्यम के बिना द्रव्य का सीधा ज्ञान होना।
2. परोक्ष—आत्मा को इन्द्रिय आदि के माध्यम से द्रव्य का ज्ञान होना।

नय सात हैं—

1. नैगम—द्रव्य और पर्याय-उभयाश्रयी दृष्टिकोण
2. संग्रह—द्रव्याश्रयी दृष्टिकोण
3. व्यवहार—पर्यायाश्रित दृष्टिकोण
4. ऋजुसूत्र—वर्तमान दृष्टिकोण
5. शब्द—शब्द प्रयोगाश्रित दृष्टिकोण
6. समभिरूढ़—शब्द की उत्पत्ति के आश्रित दृष्टिकोण
7. एवंभूत—क्रिया परिणति के अनुरूप शब्द प्रयोगाश्रयी दृष्टिकोण।

वस्तु विज्ञान की दृष्टि से वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। इसके आधार पर दो दृष्टियां बनती हैं—

1. निश्चय—द्रव्यस्पर्शी नय
2. व्यवहार—पर्याय या विस्तारस्पर्शी नय।

पहली अभेद प्रधान दृष्टि है और दूसरी भेद प्रधान। यह विश्व न अभेदात्मक है और न भेदात्मक, किन्तु उभयात्मक है।

यद्यपि सभी दर्शनों में अनेकान्त की दृष्टि विद्यमान है, क्योंकि उसके बिना वस्तु की समीचीन व्यवस्था नहीं बन सकती परन्तु जैनदर्शन ने इस सिद्धान्त का व्यापक रूप से अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया है, अतः जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन के नाम से विख्यात है।यहां हम अनेकान्त के परिप्रेक्ष्य में मीमांसा, वेदान्त एवं बौद्ध के साथ एक तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन कर रहे हैं—

12.3 मीमांसा दर्शन एवं अनेकान्त

मीमांसा शब्द पूजार्थक मान् धातु से जिज्ञासा अर्थ में निष्पन्न होता है। महर्षि जैमिनि मीमांसा दर्शन के सूत्रकार हैं। मीमांसा के दो भेद हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा में वैदिक कर्मकाण्ड का वर्णन है और उत्तरमीमांसा का विषय है ब्रह्म, अतः उत्तरमीमांसा 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध है। इस कारण पूर्वमीमांसा के लिए केवल मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता है।

पूर्वमीमांसा में भी कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकर इन दो प्रमुख आचार्यों के अनुयायियों के अनुसार भट्ट और प्रभाकर इस प्रकार दो भेद हैं।

मीमांसकों में कुमारिल आदि स्वयं ही सामान्य और विशेष में कथंचित्तादात्म्य, धर्म और धर्मी में भेदाभेद तथा वस्तु को उत्पादादि त्रयात्मक स्वीकार करके अनेकान्त को मानते ही हैं। वस्तु के सम्बन्ध में कुमारिल लिखते हैं—

"वर्धमानकभङ्गे. च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभङ्ग.ानामभावे स्यान्मतित्रयम्॥
न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन बिना सुखम्।
स्थित्या बिना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥"

जब सोने के एक प्याले को तोड़कर माला बनाई जाती है तब प्याला चाहने वाले को शोक होता है, माला चाहने वाले को हर्ष होता है और सोने का इच्छुक मध्यस्थ रहता है। इससे वस्तु के त्रयात्मक होने की सूचना मिलती है। उत्पाद, स्थिति और व्यय के अभाव में तीन प्रकार की बुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्याले का नाश हुए बिना शोक नहीं हो सकता, माला की उत्पत्ति हुए बिना हर्ष नहीं हो सकता और सोने के स्थायित्व के बिना माध्यस्थ्य भाव नहीं हो सकता। अतः वस्तु सामान्य से नित्य है।

मीमांसक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानते हैं। वे श्रुतिवाक्य को कार्यरूप अर्थ में ही प्रमाण मानते हैं। इस कार्य को वे त्रिकालशून्य कहते हैं। उनका तात्पर्य है कि वेदवाक्य त्रिकालशून्य शुद्ध कार्यरूप अर्थ को ही विषय करते हैं। इसी विषय में अनेकान्तवादियों का प्रश्न है कि यदि कार्यरूपता त्रिकालशून्य है, किसी भी काल में अपनी सत्ता नहीं रखती तब वह अभाव प्रमाण का ही विषय हो जायेगी; उसे आगमगम्य मानना अयुक्त है। यदि वह अर्थरूप है तो कार्य को त्रिकाल शून्य भी मानना होगा तथा अर्थरूप भी, तभी वह वेदवाक्य का विषय हो सकता है। इसलिए जब अनेकान्त को माने बिना वेदवाक्य का विषय ही नहीं सिद्ध हो सकता, तब उसे अगत्या मान ही लेना चाहिए।

ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता कैसे आती है? इस विषय में विवाद है। न्याय-वैशेषिक दोनों को परतः, सांख्य दोनों को स्वतः तथा मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानते हैं। जैनाचार्यों ने 'तत्प्रामाण्य स्वतः परतश्च' अर्थात् प्रमाण की वह प्रमाणता अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः होती है, ऐसा स्वीकार किया है।

मीमांसकों का कहना है कि जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है उनके अतिरिक्त अन्य किसी कारण की प्रमाणता की उत्पत्ति में अपेक्षा नहीं होती है। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान पहले प्रमाण ही उत्पन्न होता है। बाद में यदि कारणों में दोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्यय के द्वारा उसकी प्रमाणता हटा दी जाय तो वह अप्रमाण कहलाने लगता है। अतः जब तक कारण दोष ज्ञान अथवा बाधक प्रत्यय का उदय न हो तब तक सब ज्ञान प्रमाण ही हैं। इसलिए ज्ञान में प्रमाणता स्वतः ही आती है किन्तु अप्रामाण्य में ऐसी बात नहीं है। अप्रामाण्य की उत्पत्ति तो परतः ही होती है, क्योंकि उसमें ज्ञान के कारणों के अतिरिक्त दोषरूप सामग्री की अपेक्षा होती है। अतः प्रमेयरत्नमाला ग्रन्थ में मीमांसकों की उक्त मान्यता का सप्रमाण खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि प्रामाण्य अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः गृहीत होता है। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति के विषय में सर्वथा एकान्त पक्ष का आश्रय लेना ठीक नहीं है किन्तु अनेकान्त पक्ष ही श्रेयस्कर है।

12.4 वेदान्त और विश्व

शंकराचार्य के शब्दों में जो सदा समरूप होता है वही सत्य है। विश्व के पदार्थ परिवर्तनशील हैं—सदा समरूप नहीं हैं, इसलिए वे सत्य नहीं हैं। ब्रह्म सदा समरूप है, तीनों कालों तथा तीनों दशाओं (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) में एकरूप है, इसलिए वह सत्य है। फलित की भाषा में ब्रह्म सत्य है, जगत् असत्य है।

सत्य त्रिकालाबाधित होता है, इसलिए वह पारमार्थिक सत्ता है। असत्य के दो रूप हैं—

1. व्यावहारिक—नाम-रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता। 2. प्रातिभासिक—रज्जु में सर्प की सत्ता।

जगत् के विकारात्मक पदार्थ व्यवहार-काल में सत्य होते हैं, किन्तु वे ब्रह्मानुभव के द्वारा बाधित हो जाते हैं, इसलिए व्यावहारिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नहीं है।

रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत आदि प्रतीतिकाल में सत्य प्रतिभासित होते हैं, किन्तु उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा वे बाधित हो जाते हैं, इसलिए प्रातिभासिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नहीं हैं।

व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थ त्रिकालबाधित नहीं होने के कारण पारमार्थिक सत्य नहीं है किन्तु वे आकाश-कुसुम की भांति निराश्रय नहीं हैं, इसलिए सर्वथा असत्य भी नहीं हैं। वेदान्त के अनुसार अज्ञान की दो शक्तियां हैं—

1. आवरण शक्ति 2. विक्षेप शक्ति।

आवरण शक्ति भेद-बुद्धि उत्पन्न करती है। इसलिए संसार का कारण है। इसी शक्ति के प्रभाव से मनुष्य में "मैं कर्त्ता हूं, भोक्ता हूं, सुखी हूं, दुःखी हूं" आदि-आदि भावनायें उत्पन्न होती हैं। तमः प्रधान विशेष शक्तियुक्त तथा अज्ञान घटित चैतन्य से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।"

इन सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूतों की उत्पत्ति हुई। सूक्ष्म शरीर के सत्तरह अवयव होते हैं— पांच ज्ञानेन्द्रियां—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण।

6. बुद्धि—अन्तःकरण की निश्चयात्मिक प्रवृत्ति।

7. मन—अन्तःकरण की संकल्प-विकल्पात्मिका प्रवृत्ति।

8-12. पांच कर्मेन्द्रियां—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।

13-17. पांच वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान।

12.4.1 तीन प्रकार के कोश

ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहा जाता है। यही व्यावहारिक जीव है। ज्ञानेन्द्रियों सहित मन को मनोमय कोश कहा जाता है। कर्मेन्द्रियों सहित पांच वायुओं को प्राणमय कोश कहा जाता है। विज्ञानमय कोश ज्ञान-शक्तिमान है। वह कर्त्ता है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति रूप है। वह करण (साधन) है। प्राणमय कोश क्रिया-शक्तिमान है। वह कार्य है। इन तीनों कोशों का मिश्रित रूप सूक्ष्म शरीर है।

12.4.2 वेदान्त एवं अनेकान्त-

जैनदर्शन के द्वारा दो सत्ता स्वीकृत है—

1. पारमार्थिक 2. व्यावहारिक

वेदान्त के द्वारा तीन सत्ताएं स्वीकृत हैं—

1. पारमार्थिक 2. व्यावहारिक 3. प्रातिभासिक

जैनदर्शन के अनुसार चेतन और अचेतन—दोनों पारमार्थिक सत्य हैं। दोनों की वास्तविक सत्ता है। जैनदर्शन चेतन और अचेतन जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करता है, इसलिए वह यथार्थवादी है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। वह एक है। शेष जो नानात्व है, वह वास्तविक नहीं है। वेदान्त दर्शन ब्रह्म से भिन्न जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह आदर्शवादी है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन में अचेतन की और अचेतन में चेतन की संज्ञा करना मिथ्या-दर्शन है और चेतन में चेतन की और अचेतन में अचेतन की संज्ञा करना सम्यग् दर्शन है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन या ब्रह्म से भिन्न अचेतन की सत्ता स्वीकार करना मिथ्या-दर्शन है और ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य मानना सम्यग् दर्शन है।

वेदान्त के अनुसार जैसे एकत्व पारमार्थिक और प्रपंच (या नानात्व) व्यावहारिक है। वैसे ही अनेकान्त की भाषा में कहा जा सकता है कि द्रव्यत्व पारमार्थिक और पर्यायत्व (या विस्तार) व्यावहारिक है। शाश्वत सत्ता चेतन है। मनुष्य, तिर्यञ्च आदि उसके विस्तार हैं। वे शाश्वत नहीं हैं। मनुष्य शाश्वत नहीं है, इसलिए वह पारमार्थिक नहीं है। एक ही चेतन के अनन्त रूपों में मनुष्य एक रूप है, जो उत्पन्न होता है और विलीन हो जाता है। उसके उत्पन्न या विलीन होने पर भी चेतन चेतन ही रहता है, इसलिए वह पारमार्थिक है।

पारमार्थिक सत्ता को जानने वाली दृष्टि को निश्चय नय और व्यावहारिक सत्ता को जानने वाली दृष्टि को व्यवहार नय कहा जा सकता है। निश्चय-नय के अनुसार विश्व के मूल में दो तत्त्व हैं—चेतन और अचेतन। यह नय पर्याय या विस्तार को मौलिक तत्त्व नहीं मानता। वेदान्त प्रपञ्च को व्यावहारिक या प्रातिभासिक ही मानता है, उसका हेतु यही है कि वह जगत् के मूल तत्त्व की व्याख्या केवल निश्चय नय से करता है। जैनदर्शन के अनुसार विस्तार मिथ्या या असत् नहीं है। सत् के तीन अंश हैं—1. ध्रौव्य 2. उत्पाद 3. विनाश।

ध्रौव्य शाश्वत अंश है। उत्पाद और विनाश अशाश्वत अंश हैं। ध्रौव्य एक है और उत्पाद विनाश अनेक हैं। ध्रौव्य संक्षेप है और उत्पाद विनाश विस्तार है। ध्रौव्य की व्याख्या निश्चय-नय से की जाती है और उत्पाद विनाश की व्याख्या व्यवहार नय से। ध्रौव्य से भिन्न उत्पाद-विनाश और उत्पाद-विनाश से भिन्न ध्रौव्य कभी और कहीं भी नहीं मिलता। जहां ध्रौव्य है वहीं उत्पाद-विनाश है और जहां उत्पाद-विनाश है वहीं ध्रौव्य है। इसलिए ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश—ये तीनों सत् के अपरिहार्य अंश हैं। वेदान्त यह कब मानता है कि मूल से भिन्न विस्तार और विस्तार से भिन्न मूल है। मूल और विस्तार दोनों सर्वत्र समव्याप्त हैं।

वेदान्त विस्तार को मिथ्या या असत् मानता है और जैनदर्शन उसे अनित्य मानता है। अनित्य अंतिम सत्य नहीं है, इस दृष्टि से वेदान्त अंतिम को मिथ्या मानता है। अनित्य अंतिम सत्य की परिधि से बाहर नहीं है, इस दृष्टि से जैनदर्शन अनित्य को सत् का अंश मानता है। दोनों में जितना भाषा भेद है उतना तात्पर्य-भेद नहीं है।

स्याद्वाद और क्या है? भाषा के आवरण में जो सत्य छिपा हुआ है, उसे अनावृत करने का जो प्रबल माध्यम है वही तो स्याद्वाद है। स्याद्वाद की भाषा में कोई भी दर्शन सर्वथा द्वैतवादी या सर्वथा अद्वैतवादी नहीं हो सकता।

सत्ता की दृष्टि से विश्व एक है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं, इसलिए यह एक है। इस व्याख्या पद्धति को जैनदर्शन संग्रह-नय कहता है।

जगत् की व्याख्या एक ही नय से नहीं की जा सकती। दृश्य जगत् की वास्तविकता को भ्रान्ति मानकर झुठलाया नहीं जा सकता। इस दृष्टि से विश्व अनेक भी है। विस्तार की व्याख्या पद्धति को जैनदर्शन व्यवहार नय कहता है।

सत्य की व्याख्या इन दोनों नयों से ही की जा सकती है। निश्चय नय से इस सत्य का रहस्योद्घाटन होता है कि विश्व के मूल में अभेद की प्रधानता है और व्यवहार नय से इस सत्य की व्याख्या होती है कि विश्व के विस्तार में भेद की प्रधानता है।

जैनदर्शन द्रव्य और पर्याय (मूल और विस्तार) को सर्वथा एक नहीं मानता, इस दृष्टि से ही द्वैतवादी नहीं है किन्तु वह उस दृष्टि से द्वैतवादी है कि वह विश्व के मूल में चेतन और अचेतन का भिन्न-भिन्न अस्तित्व स्वीकार करता है। वह इस अर्थ में बहुत्ववादी भी है कि उसके अनुसार जीव और परमाणु व्यक्तिशः अनन्त हैं। जब अनित्यता से नित्यता की ओर तथा अशुद्धता (विस्तार) से शुद्धता (मूल) की ओर बढ़ते हैं तब हमें अभेद प्रधान विश्व उपलब्ध होता है। जो दर्शन एकान्त दृष्टि से देखता है उसे एक सत्य लगता है

और दूसरा मिथ्या। वेदान्त की दृष्टि में भेदात्मक विश्व मिथ्या है और बौद्धदर्शन की दृष्टि में अभेदात्मक विश्व मिथ्या है। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, इसलिए उसकी दृष्टि में विश्व के दोनों रूप सत्य हैं।

इस उभयात्मक सत्य की स्वीकृति वेदान्त के प्राचीन आचार्यों ने भी की है। भर्तृप्रपञ्च भेदाभेदवादी थे। उनका अभिमत है कि ब्रह्म अनेकात्मक है। जैसे वृक्ष अनेक शाखाओं वाला होता है वैसे ही ब्रह्म अनेक शक्ति तथा प्रवृत्तियुक्त है। इसलिए एकत्व और नानात्व दोनों ही सत्य हैं, पारमार्थिक हैं। 'वृक्ष' यह एकत्व है। 'शाश्वत' यह अनेकत्व है। 'समुद्र' यह एकत्व है। 'उर्मियां' यह अनेकत्व हैं। 'मृत्तिका' यह एकत्व है। 'घड़ा' आदि अनेकत्व हैं। एकत्व अंश के ज्ञान से कर्मकाण्डाश्रित लौकिक और वैदिक व्यवहारों की सिद्धि होगी। शंकराचार्य ने भर्तृप्रपञ्च को मान्यता नहीं दी पर उन्होंने नानात्व को भी मृगमरीचिका की भांति सर्वथा असत्य नहीं माना।

भाषा के आवरण में जैन और वेदान्त के साधना-पथ भिन्न-भिन्न लगते हैं किन्तु तात्पर्य की दृष्टि से उनमें विशेष भिन्नता नहीं है। आत्मा का श्रवण, मनन और साक्षात्कार—यह वेदान्त की साधना विधि है और जैनदर्शन की साधना विधि है—आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और आत्मरमण।

वेदान्त ज्ञानमार्गी है। जैनदर्शन ज्ञानमार्गी तथा कर्ममार्गी दोनों को स्वीकार करता है। कोरा ज्ञान-मार्ग और कोरा कर्म-मार्ग दोनों अपूर्ण हैं। परिपूर्ण पद्धति है—दोनों का समुच्चय। मोक्ष की उपलब्धि के लिए वे कर्म अप्रयोजनीय हैं जो आत्म-चिन्तन से शून्य हैं। इस अपेक्षा दृष्टि से प्रयोजनीय कर्म आत्मज्ञान में समाहित हो जाते हैं। वेदान्त का दृष्टिकोण यही होना चाहिए। जैनदर्शन इस तथ्य को इस भाषा में प्रस्तुत करता है कि कर्म से कर्म क्षीण नहीं होते, अकर्म से कर्म क्षीण होते हैं। मोक्ष पूर्ण संवर होने पर उपलब्ध होता है। पूर्ण संवर से तात्पर्य कर्म-निवृत्त अवस्था है।

जैनदर्शन का प्रसिद्ध श्लोक है—

आस्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥

आस्रव (बाह्य निष्ठा) भव का हेतु और संवर (आत्मनिष्ठा) मोक्ष का हेतु है। अर्हत् की दृष्टि का सार-अंश इतना ही है, शेष सारा प्रपंच है।

वेदान्त के आचार्यों ने भी इन्हीं स्वरों में गाया है—

अविद्या बन्धहेतुः स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति बध्यते जन्तुः, न ममेति विमुच्यते॥

अविद्या (कर्मनिष्ठा) बन्ध का हेतु है और विद्या (ज्ञाननिष्ठा) मोक्ष का हेतु है। जिसमें ममकार होता है, वह बंधता है और ममकार का त्याग करने वाला मुक्त हो जाता है।

एक दृष्टि में प्रमाण का वर्गीकरण दोनों दर्शनों का भिन्न दर्शन है। दूसरी दृष्टि में उतना भिन्न नहीं है जितना की प्रथम दर्शन में दीखता है। प्रत्यक्ष दोनों द्वारा सम्मत है। जैन प्रमाणविदों ने परोक्ष प्रमाण के पांच विभाग किये—1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क, 4. अनुमान, 5. आगम।

वेदान्त की प्रमाण-मीमांसा में अप्रत्यक्ष प्रमाण के विभागों का संग्राहक कोई शब्द व्यवहृत नहीं हुआ, इसलिए वहां अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति को स्वतंत्र स्थान मिला।

जैनदर्शन की प्रमाण-मीमांसा में अनुमान आदि के लिए एक परोक्ष शब्द व्यवहृत हुआ, इसलिए वहां उनकी स्वतंत्र गणना नहीं हुई। अनुमान और आगम वेदान्त पद्धति में स्वतंत्र प्रमाण के रूप में और जैन-पद्धति में परोक्ष प्रमाण के विभाग के रूप में स्वीकृत हैं। वेदान्त के उपमान और जैन के सादृश्य प्रत्यभिज्ञा में कोई अर्थ-भेद नहीं है। अर्थापत्ति का अर्थ है—दृश्य अर्थ की सिद्धि के लिए जिस अर्थ के बिना उसकी सिद्धि न

हो, उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना। यदि दृष्ट और अदृष्ट अर्थ की व्याप्ति निश्चित न हो, तो यह प्रमाण नहीं हो सकती और यदि उसकी व्याप्ति निश्चित हो तो जैन प्रमाणविदों के अनुसार इसमें और अनुमान में कोई अर्थ-भेद नहीं होता।

जैन और वेदान्त दोनों आध्यात्मिक दर्शन हैं, इसीलिए इनके गर्भ में समता के बीज छिपे हुए हैं। अंकुरित और पल्लवित दशा में भाषा और अभिव्यक्ति के आवरण मौलिक समता को ढांककर उसमें भेद किये हुए हैं। भाषा के आवरण को चीरकर झांक सकें तो हम पायेंगे कि दुनिया के सभी दर्शनों के अन्तःकरण उतने दूर नहीं है जितने दूर उनके मुख हैं। अनेकान्त का हृदय यही है कि हम केवल मुख को प्रमुखता न दें, अन्तःस्थल का भी स्पर्श करें।

12.5 बौद्धदर्शन और अनेकान्त

बौद्ध निर्विकल्पक दर्शन को प्रमाण रूप भी मानते हैं तथा अप्रमाण रूप भी। उनका मत है कि निर्विकल्पक दर्शन प्रत्यक्ष ऐसे साधारण पदार्थ को विषय करता है, जो क्षणिक भी हो सकता है तथा स्थायी भी। अनादिकालीन अविद्या और पदार्थों की प्रतिक्षण सदृश रूप से उत्पत्ति रूप कारणों से वस्तु में 'यह वही वस्तु है, इस प्रकार नित्यत्व का आरोप हो जाता है। इस मिथ्या आरोप के कारण वस्तु नित्यरूप में भासित होने लगती है। निर्विकल्पक दर्शन इस नित्यत्व के आरोप में प्रमाण नहीं है, वह इसका समर्थन नहीं करता। वह तो उलटा इस नित्यत्वारोप में अप्रमाण ही है। क्षणिक वस्तु में नित्यत्वरूप विपरीत आरोप होने के कारण दर्शन इसमें प्रमाण हो ही नहीं सकता, क्योंकि दर्शन तो वस्तु के अनुसार ही उत्पन्न होता है। इस तरह निर्विकल्प दर्शन नित्यत्व के आरोप में प्रमाण तो है ही नहीं, बल्कि अप्रमाण ही है। यद्यपि निर्विकल्प दर्शन क्षणिक अंश का अनुभव कर लेता है, पर 'यह क्षणिक है' ऐसे अनुकूल विकल्प को उत्पन्न न करने के कारण वह क्षणिकांश में भी प्रमाण नहीं है। यदि निर्विकल्पक ही क्षणिकांश में प्रमाण हो जाय, तो अनुमान को क्षणिकत्व की सिद्धि करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए और ऐसी हालत में 'सब क्षणिक हैं, सत् होने से' यह अनुमान निरर्थक हो जायेगा। इस प्रकार के अनुकूल विकल्प को उत्पन्न करने के कारण वह प्रमाण माना जाएगा। तात्पर्य यह है कि एक ही निर्विकल्पक दर्शन को नीलादि अंशों में अनुकूल विकल्प की उत्पत्ति होने से प्रमाण तथा क्षणिक और नित्य अंशों में अप्रमाण रूप मानने वाले बौद्धों ने अनेकान्त को स्वीकार कर ही लिया है।

इसी तरह वे निर्विकल्प के बाद उत्पन्न होने वाले सविकल्पक ज्ञान को बाह्यार्थ में सविकल्पक तथा स्वरूप में निर्विकल्पक मानते हैं। निर्विकल्पक दर्शन के बाद 'यह नीला है, यह पीला है' इत्यादि विकल्प ज्ञान उत्पन्न होते हैं। ये विकल्पज्ञान अपने आकार मात्र का ही निश्चय करने वाले होते हैं। वे बाह्य नीलादि अंशों में ही शब्द योजना होने से सविकल्पक होते हैं। स्वरूप की दृष्टि से तो सभी ज्ञान निर्विकल्पक ही होते हैं। ज्ञान चाहे निर्विकल्पक हो या सविकल्पक, दोनों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पक रूप ही होता है। धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में कहा है—

'समस्त चित्त सामान्य अवस्था को ग्रहण करने वाले ज्ञान तथा चैत्त विशेष अवस्थाओं के ग्राहक ज्ञानों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है', अतः एक ही विकल्प ज्ञान को बाह्य नीलादि की अपेक्षा सविकल्पक तथा स्वरूप की अपेक्षा निर्विकल्पक, इस तरह निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ही रूप मानने वाले बौद्धों ने अनेकान्तवाद को स्वीकार कर ही लिया है। उनका एक ही विकल्प को दो रूप मानना अनेकान्तवाद के बिना कैसे संभव हो सकता है?

बौद्ध अहिंसा रूप धर्मक्षण के प्रत्यक्ष को अपनी सत्ता में प्रमाणरूप तथा स्वर्ग प्राप्त कराने की शक्ति में अप्रमाण रूप मानते हैं। हिंसा से विरक्त होकर अहिंसक बनना तथा दान देना आदि शुभ क्रियाओं में स्वर्ग पहुंचने की शक्ति आगम से प्रसिद्ध है, इनको बौद्ध क्षणिक भी मानते हैं। जिस समय कोई व्यक्ति किसी पर

अहिंसा, दया करके उसे कुछ दान देता है, उस समय अहिंसा दान का प्रत्यक्ष, अहिंसा आदि की सत्ता, उनकी ज्ञानरूपता तथा सुखरूपता का प्रत्यक्ष ही अनुभव कराता है तथा आगे 'मैंने दया की, उससे संतोष या सुख हुआ,' ऐसे अनुकूल विकल्प को उत्पन्न करने के कारण वह अहिंसा आदि की सत्ता और सुखरूपता में प्रमाण माना जाता है अथवा अहिंसा और दान आदि स्वयं ज्ञान क्षणरूप हैं, अतः वे अपनी सत्ता, ज्ञानरूपता तथा सुखरूपता स्वयं ही अनुभव करने के कारण उक्त अंशों में प्रमाण हैं परन्तु अहिंसा आदि में रहने वाली स्वर्ग प्रापण शक्ति में तथा उसकी क्षणिकता में वह अहिंसा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। यद्यपि प्रत्यक्ष से उसकी क्षणिकता तथा स्वर्ग प्रापण शक्ति का अनुभव हो जाता है परन्तु उनके अनुकूल 'ये क्षणिक हैं, ये स्वर्ग प्रापक हैं' इत्यादि विकल्पों की उत्पत्ति न होने के कारण प्रत्यक्ष इन अंशों में प्रमाण नहीं माना जाता है। इस तरह एक ही अहिंसा क्षण को अपनी सत्ता आदि में प्रमाणात्मक तथा स्वर्ग प्रापण शक्ति या क्षणिकता में अप्रमाणरूप मानने वाले बौद्धों ने अनेकान्तवाद को स्वीकार किया है।

बौद्ध नीलादि वस्तुओं को नीलादि की अपेक्षा प्रमेय तथा क्षणिकत्व आदि की अपेक्षा अप्रमेय कहते हैं। जो नील वस्तु अपने नीलेपन चौकोर और सामने दिखने वाले ऊपरी आकार आदि की दृष्टि से प्रमेय है—प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता है, वही अपने भीतरी अवयवों की दृष्टि से तथा क्षणिकत्व आदि की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं होने से अप्रमेय है। इस तरह एक ही नीलादि को प्रमेय तथा अप्रमेय मानना क्या अनेकान्त नहीं है?

बौद्ध स्वप्नादि भ्रान्त ज्ञान को बाह्य पदार्थ की प्राप्ति न कराने के कारण भ्रान्त तथा स्वरूप की दृष्टि से अभ्रान्त मानते हैं। स्वप्न में "मैं धनी हूं", मैं राजा हूं इत्यादि विकल्पज्ञान होते हैं। ये विकल्पज्ञान बाह्य में धनीपन या राजापन का अभाव होने से जागने पर कंगाली का अनुभव होने से भ्रान्त है, परन्तु वे अपने स्वरूप की दृष्टि से अभ्रान्त हैं। वैसे विकल्प ज्ञान स्वप्न में हुए तो अवश्य ही हैं। इसी तरह सीप में चांदी का ज्ञान कराने वाली मिथ्या विकल्प चांदी रूप बाह्य अर्थ का प्रापक न होने से भ्रान्त है, परन्तु वैसा मिथ्याज्ञान हुआ तो अवश्य है, उसका स्वरूप संवेदन तो होता ही है, अतः वह स्वरूप की दृष्टि से अभ्रान्त है। इस तरह एक ही मिथ्या विकल्प को बाह्य अर्थ में भ्रान्त तथा स्वरूप में अभ्रान्त मानना स्पष्ट ही अनेकान्त को स्वीकार करना है।

बौद्ध द्विचन्द्रज्ञान को द्वित्व अंश में विसंवादी होने से अप्रमाण तथा सफेदी, नियतदेश में गमन करना आदि चन्द्रगत धर्मों में उसे प्रमाण मानते हैं। अतः एक ही द्विचन्द्रज्ञान को अंशतः प्रमाण तथा अंशतः अप्रमाण कहना अनेकान्त का ही निरूपण करना है।

जिस व्यक्ति को मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है, वह उस मिथ्याज्ञान का ज्ञानरूप से तो अनुभव करता है परन्तु मिथ्यात्व रूप से अनुभव नहीं कर पाता। यदि अपनी भ्रान्तता को जानने लगे तो सम्यग्ज्ञान ही हो जायगा अथवा मिथ्याज्ञान अपनी ज्ञानरूपता का तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से साक्षात्कार करता है, पर अपनी भ्रान्तता को नहीं जान पाता। अतः एक ही मिथ्याज्ञान का अंशतः ज्ञानरूप से स्वरूप साक्षात्कार तथा अंशतः मिथ्यारूप से असाक्षात्कार स्पष्ट ही दो विरोधी भावों को बताता हुआ अनेकान्त को सिद्ध कर रहा है।

बौद्ध एक किसी भी क्षण को पूर्वक्षण का कार्य तथा उत्तरक्षण का कारण मानते ही हैं। यदि वह पूर्वक्षण का कार्य न हो तो सत् होकर भी किसी के उत्पन्न न होने के कारण वह नित्य हो जायेगा। यदि उत्तरक्षण को उत्पन्न न करे तो अर्थक्रियाकारी न होने से अवस्तु हो जायेगा। तात्पर्य यह कि एक मध्यक्षण में पूर्व की अपेक्षा कार्यता तथा उत्तर की अपेक्षा कारणता रूप विरुद्ध धर्म मानना अनेकान्त का ही स्वीकार करना है।

'जो ज्ञान जिस पदार्थ के आकार का होता है, वह उसी पदार्थ को जानता है। निराकार ज्ञान पदार्थ को नहीं जान सकता।' इस तदाकारता के नियम को बौद्धों ने प्रमाणता का नियामक माना है। इस नियम के

अनुसार नाना रंग वाले चित्रपट को जानने वाला ज्ञान भी चित्राकार ही होगा। अतः एक ही चित्रपट ज्ञान को अनेक आकार वाला मानना, एक को ही चित्र-विचित्र रूप मानना अनेकान्त नहीं तो और क्या है? इसी नियम के अनुसार संसार के समस्त पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ सुगत का ज्ञान सर्वाकार याने चित्र-विचित्राकार होना ही चाहिए। इस तरह सुगत के एक ही ज्ञान को सर्वाकार मानना भी अनेकान्त का समर्थन करना है। बौद्ध हेतु के तीन रूप मानते हैं। वे हेतु को पक्ष में रहने में कारण और सपक्ष दृष्टान्त में उनकी सत्ता होने के कारण अन्वयात्मक तथा विपक्ष में उसकी सत्ता न होने के कारण व्यतिरेकात्मक मानते हैं। अन्वय और व्यतिरेक स्पष्ट ही एक दूसरे के विरोधी हैं। इस तरह एक ही हेतु को वस्तुतः अन्वयरूप और व्यतिरेक रूप मानना और दूसरी ओर अनेकान्त को कोसना कहां की बुद्धिमानी है। बौद्धदर्शन का वस्तु को सर्वथा क्षणिक रूप में स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उसमें अनेक दोष प्राप्त होते हैं।

12.6 सारांश–इस प्रकार अनेकान्त के संदर्भ में कुछ जैनेतर दर्शनों के साथ एक तुलनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।

12.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. वेदान्त एवं जैनदर्शन के वस्तु विषयक चिन्तन को अनेकान्त के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर कम-से-कम 150 शब्दों में लिखें—

1. भारतीय दर्शनों में विश्व के स्वरूप विषयक चिन्तन को लिखें।
2. मीमांसा दर्शन एवं अनेकान्त का तुलनात्मक पक्ष प्रस्तुत करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. जैनदर्शन ने वस्तु का स्वरूप ...... माना है।
2. मीमांसा दर्शन के प्रमुख आचार्य ..... हैं।
3. वेदान्त मत में ...... प्रकार की सत्तायें स्वीकृत हैं।
4. जैनदर्शन में.....प्रकार की सत्तायें स्वीकृत हैं।
5. जैनदर्शन में प्रमाण मीमांसा में अनुमानादि के लिए .... शब्द व्यवहृत हुआ है।
6. बौद्ध ...... को प्रमाण रूप मानते हैं।
7. बौद्ध परम्परा की क्षणिकवादी दृष्टि जैनदर्शन के .... नय में घटित हो सकती है।
8. जैनाचार्यों ने विश्व एवं सृष्टि-प्रक्रिया जानने के लिए ..... की स्थापना की।
9. वेदान्त में ..... बन्ध का कारण है।
10. जैनदर्शन में .... मोक्ष का कारण है।

इकाई–13 : प्रमाण—जैन, बौद्ध, न्याय एवं मीमांसा

संरचना

13.0 प्रस्तावना

ज्ञान के यथार्थ एवं अयथार्थ—ये दो प्रकार उपलब्ध हैं। यथार्थज्ञान वह है जिसमें संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय आदि दोष न हों। इन दोषों से युक्त ज्ञान अयथार्थ ज्ञान कहलाता है। यथार्थज्ञान को प्रमा कहा जाता है। जो प्रमा का साधन है उसे प्रमाण कहते हैं। **'प्रमाकरणं प्रमाणम्'** प्रमाण की यह परिभाषा सभी भारतीय दर्शन-परम्पराओं को स्वीकार है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी **'प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्'** सर्वमान्य है। फिर भी भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने प्रमाण के अनेक लक्षण कहे हैं। जिज्ञासा यह होती है कि प्रमाण-सामान्य की सर्वमान्य परिभाषा उपलब्ध है फिर प्रमाण के भिन्न-भिन्न लक्षणों की रचना क्यों की गई? समाधान यह है कि प्रमाण प्रमा का करण है और प्रमा के स्वरूप के विषय में दार्शनिक जगत् में मतभेद है। सभी दार्शनिकों ने अपनी परम्परा के अनुरूप यथार्थज्ञान की व्याख्या की है। इस आधार पर प्रमाण-लक्षण में भी भिन्नता आ जाती है। दूसरी बात यह है कि प्रमेय भी भिन्न-भिन्न हैं। विशिष्ट प्रमेयों को सिद्ध करने के लिए प्रमाण-लक्षण भी उनके अनुरूप ही व्यक्त किए गए हैं।

13.1 उद्देश्य–यहां भिन्न-भिन्न दर्शनों के प्रमाण-लक्षणों की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है जिसके अध्ययन से प्रमाण का सांगोपांग ज्ञज्ञन हो सकेगा।

13.2 बौद्ध मत

बौद्ध मत में प्रमेय को दो प्रकार का माना गया है—सामान्य और विशेष। इस आधार पर दिङ्.नाग ने प्रमाण के भी दो प्रकार स्वीकार किये हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। तत्पश्चात् उन्होंने प्रमाण-सामान्य का लक्षण देते हुए कहा—**'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्'** अर्थात् अज्ञात का प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है। तात्पर्य यह हुआ कि अनधिगत विषय वाला ज्ञान प्रमाण है। धर्मकीर्ति ने अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहा है। अविसंवाद को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—प्रमाण द्वारा जिस अर्थ का ज्ञान होता है उसमें अर्थक्रिया करने का सामर्थ्य होना चाहिए। यदि उसमें प्रवृत्तिरूप सामर्थ्य नहीं है किन्तु योग्यता है तब भी वह अविसंवादी ज्ञान अर्थात् प्रमाण का विषय बन सकता है। अन्यत्र धर्मकीर्ति ने दिङ्.नाग के प्रमाणलक्षण का ही अक्षरश: समर्थन किया है। मनोरथनंदी ने इस प्रमाणलक्षण की व्याख्या करते हुए लिखा है—'अर्थ' पद द्वारा द्विचन्द्र आदि ज्ञानों की

प्रमाणता का निरास किया गया है। अज्ञात पद के द्वारा कल्पनाजन्य ज्ञानों की प्रमाणता को अस्वीकार किया गया है। मनोरथनन्दी ने यह भी सूचित किया है कि—दिङ्.नाग और धर्मकीर्ति द्वारा प्रदत्त दोनों प्रमाणलक्षण परस्पर सापेक्ष एक ही प्रमाणलक्षण है, भिन्न-भिन्न नहीं।

13.3 न्याय मत

न्याय-सूत्रकार गौतम ने प्रमाण-लक्षण का स्पष्ट कथन नहीं किया है किन्तु भाष्यकार ने प्रमाण का लक्षण स्पष्ट रूप से कहा है। उनके अनुसार **"उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि"** अर्थात् उपलब्धि का साधन प्रमाण है। उद्योतकर ने भाष्यकार वात्स्यायन का समर्थन किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी 'उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्' कहकर इसी प्रमाण लक्षण को स्वीकार किया है। जिस साधन के द्वारा अर्थ की उपलब्धि होती है उसे प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण लक्षण के संदर्भ में वात्स्यायन, उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र का यही अभिप्राय प्रतीत होता है। जयन्तभट्ट ने अपने प्रमाणलक्षण में अव्यभिचारिणी पद के साथ-साथ असंदिग्धा पद का भी प्रयोग किया है क्योंकि 'अर्थोपलब्धि' से स्मृति एवं भ्रम का निराकरण तो हो जाता है किन्तु संशय की संभावना बनी रहती है। संशय का निरास करने के लिए ही भट्ट ने उक्त पदों का प्रयोग किया है। उदयन ने उपलब्धि के स्थान पर 'यथार्थ अनुभव' को प्रमा के रूप में स्थापित कर उसके साधन को प्रमाण कहा है। भावसर्वज्ञ ने **'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्'** कहा है अर्थात् सम्यक् अनुभव के साधन को प्रमाण कहते हैं। उन्होंने सम्यक् पद से संशय एवं विपर्यय का, अनुभव पद से स्मरणात्मक ज्ञान का निरास किया है। 'साधन' पद से प्रमाण और प्रमिति रूप फल की भिन्नता को दर्शाने के साथ-साथ प्रमाता और प्रमेय से भी प्रमाणलक्षण की भिन्नता को सूचित किया है।

13.4 मीमांसा मत

श्लोकवार्तिक में कुमारिलभट्ट ने प्रसंगवश प्रमाण-लक्षण कहा है। उनके अनुसार "जो ज्ञान, ज्ञानान्तर विषयक न हो तथा अन्य किसी ज्ञान से बाधित एवं संदिग्ध अर्थ का द्योतक न हो उसे प्रमाण कहते हैं।" पार्थसारथि ने कुमारिल के लक्षण को स्पष्ट करने वाला लक्षण देते हुए लिखा है—कारणदोष एवं बाधक ज्ञान से रहित अज्ञात विषयक ज्ञान ही प्रमाण शब्द का बोधक है। कारणदोष रहित पद से संशयात्मक ज्ञान की व्यावृत्ति की गई है। बाधकज्ञानरहित कहकर विपर्यय ज्ञान की प्रमाणता का निरास किया गया है। अज्ञातविषयक ज्ञान कहने का तात्पर्य यह है कि स्मृति और धारावाही ज्ञान प्रमाण की कोटि में नहीं आते।

प्रभाकर मत की मीमांसा करते हुए शालिकानाथ ने कहा है—**"अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।"** अर्थात् अनुभूति ही प्रमाण है। प्रश्न होता है कि भ्रम आदि भी अनुभूति है अतः इस परिभाषा के अनुसार वे भी प्रमाण के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसका समाधान देते हुए वे कहते हैं—रजतम् इदम्—यह एक ज्ञान नहीं बल्कि दो ज्ञानों का योग है। 'इदम्' अंश अनुभवात्मक है 'रजतम्' अंश स्मरणात्मक है। अतः अनुभवात्मक न होने के कारण प्रमाण नहीं है। इदम् अंश का ज्ञान प्रमाण रूप से इष्ट है। पुनः प्रश्न होता है कि उक्त प्रकरण में दो ज्ञान है किन्तु 'शंखः पीतः' इसमें तो एक ही ज्ञान है। पाण्डुरोगग्रस्त व्यक्ति को श्वेत शंख भी पीला ही लगता है। इसको समाहित करते हुए वे कहते हैं कि यह ज्ञान व्यवहार-दशा में अविसंवादक होने के कारण भ्रान्त है। इस प्रकार पीत शंखादि ज्ञान प्रमाण होते हुए भी व्यवहार-विसंवादी होने के कारण भ्रान्त है।

13.5 जैन मत एवं जैनेतर दर्शन : एक तुलना

जैनमत के अनुसार प्रमाण स्वरूप पर विस्तृत चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। प्रस्तुत पाठ में प्रसंगानुसार संक्षिप्त विमर्श किया जा रहा है।

आगमकाल ज्ञान मीमांसा का युग था। उस समय प्रमाण की चर्चा कहीं-कहीं गौणरूप में की गई है। उमास्वाति ने आगमिक चर्चा का संकलन अपने तत्त्वार्थसूत्र में किया। उन्होंने ज्ञान को ही प्रमाण बतलाया। प्रमाण का स्पष्ट विवेचन आचार्य सिद्धसेन और आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उन्होंने 'स्व' और 'पर' के अवभासक ज्ञान को प्रमाण कहा है। अर्थात् जो ज्ञान स्व को जानते हुए पदार्थ को भी जाने वह प्रमाण है। सिद्धसेन ने प्रमाणलक्षण में 'बाधविवर्जितम्' पद भी जोड़ा जो अपने आप में नया प्रयोग था। अकलंकदेव ने भी इसी परम्परा को स्वीकार किया किन्तु उन्होंने अनधिगत पद का भी समावेश इसमें कर दिया। जैनदर्शन में यह नया प्रयोग था। विद्यानन्द ने कहा ज्ञान चाहे गृहीतग्राही हो अथवा अगृहीतग्राही यदि वह स्व और पर का निश्चित ज्ञान करता है तो वह प्रमाण है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्व, बाधवर्जित, अनधिगत, निश्चित, व्यवसायात्मक आदि विशेषणों से रहित प्रमाणलक्षण का निरूपण किया। उन्होंने कहा—**सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।**

इस प्रकार प्रमाणलक्षण के संदर्भ में विविध अवधारणाएं विकसित हुई। इन अवधारणाओं का अध्ययन करने पर निम्न बिन्दुओं में वैविध्य दृष्टिगोचर होता है।

1. प्रमा का करण क्या है?
   ज्ञान या कुछ और .....?
2. प्रमाण अर्थप्रकाशक होने के साथ-साथ स्व-प्रकाशक है या नहीं?
3. गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण है या नहीं?
4. प्रमाण और उसका फल भिन्न है या अभिन्न?

अब प्रत्येक-दर्शन में उपरोक्त विषयों पर मत-वैविध्य की चर्चा की जा रही है।

13.6 प्रमा का कारण क्या है? ज्ञान या कुछ और ....?

जैन प्रमा (यथार्थ ज्ञान) का साधकतम साधन ज्ञान को ही मानता है। ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य कारण (साधन) के उपस्थित होने पर भी वस्तु का सम्यग् ग्रहण अनिश्चित होता है। अर्थात् सम्यग् ग्रहण हो भी सकता है और नहीं भी। अतः जैन उन दार्शनिकों से सहमत नहीं जो ज्ञान को प्रमा का करण (प्रमाण) नहीं मानते। उदाहरणतः जयन्त भट्ट आदि वृद्ध नैयायिकों ने ज्ञानात्मक-अज्ञानात्मक कारण सामग्री के यथार्थ ज्ञान को साधकतम करण रूप में स्वीकार किया है।

नैयायिक इन्द्रिय के साथ अर्थ के सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। जैन इसे प्रमाण नहीं मानते क्योंकि सन्निकर्ष होने पर ज्ञान का होना निश्चित नहीं है। प्रमेय कमल मार्तण्ड और स्याद्वाद् रत्नाकर में विस्तार से इस बात की चर्चा की गई है कि सन्निकर्ष ज्ञान की अनिवार्य शर्त नहीं है। योगी के पदार्थ का सन्निकर्ष नहीं होने पर भी ज्ञान होता है जबकि मृगमरीचिका में पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होता है किन्तु ज्ञान नहीं होता।

जयन्त भट्ट आदि वृद्ध-नैयायिकों का मानना है कि कर्त्ता, कर्म, सन्निकर्ष आदि मिलकर ज्ञान करवाते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान कारण सामग्री से उत्पन्न होता है। इस सामग्री में इन्द्रिय, मन, प्रकाश, पदार्थ आदि अज्ञानात्मक वस्तुएं भी ज्ञान के साथ कार्य करती हैं। जैन सामग्री की कारणता को स्वीकार करते हैं फिर भी साधकतम करण नहीं मानते। वह यथार्थ ज्ञान का अनिवार्य कारण नहीं है अतः प्रमाण भी नहीं हो सकता।

13.7 प्रमाण अर्थप्रकाशक होने के साथ-साथ स्वप्रकाशक है या नहीं?

दर्शनशास्त्र की एक प्रमुख समस्या है कि ज्ञान स्वप्रकाशक है या पर प्रकाशक? तात्पर्य यह है कि ज्ञान के द्वारा पदार्थ का ज्ञान हो जाता है किन्तु ज्ञान का ज्ञान किससे होता है? अर्थात् पदार्थ का ज्ञान हो गया—यह ज्ञान कैसे हो?

मीमांसक ज्ञान को परप्रकाशक मानते हैं। इनके अनुसार ज्ञान घटपट आदि को तो जान लेता है पर स्वयं को नहीं जान पाता। ज्ञान को जानने के लिए 'पर' की आवश्यकता है। यह पर कौन है? इस संदर्भ में नैयायिकों का अभिमत है कि ज्ञान को जानने वाला दूसरा ज्ञान है। इस दूसरे ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं। जैन इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि—अनुव्यवसाय से पूर्व ज्ञान को जान लेते हैं। किन्तु इस अनुव्यवसाय नामक दूसरे ज्ञान को किससे जानते हैं? यदि किसी तीसरे से और तीसरे को चौथे से तो अनवस्था दोष का प्रसंग आ जाता है और यदि वह दूसरा ज्ञान (अनुव्यवसाय) स्वप्रकाशक है तो प्रथम ज्ञान को स्वप्रकाशक मानने में क्या आपत्ति है? यह भी नहीं कहा जा सकता कि पदार्थ का ज्ञान हो जाने से अनुव्यवसाय का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि पदार्थ के ज्ञान से अनुव्यवसाय का ज्ञान और अनुव्यवसाय से पदार्थ का ज्ञान मानने पर अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित हो जाता है।

मीमांसक भी प्रमाण को परप्रकाशक मानते हैं। उनका मानना है कि जब किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो उसमें ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न हो जाता है। तब हम अर्थापत्ति के द्वारा यह जानते हैं कि यदि इस पदार्थ का मुझे ज्ञान न हुआ होता तो इसमें ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न नहीं होता। जैन को इस पर भी आपत्ति है। उनका कहना है कि अर्थापत्ति स्वयं एक ज्ञान है। अतः यदि अर्थापत्ति से ज्ञान का ज्ञान माने तो प्रश्न होगा कि अर्थापत्ति का ज्ञान किससे होता है? यदि अर्थापत्ति को जानने के लिए दूसरी अर्थापत्ति का सहारा लेंगे तो अनवस्था दोषा आ जाएगा। और यदि प्रथम ज्ञान से अर्थापत्ति और अर्थापत्ति से प्रथम-ज्ञान का ज्ञान मानेंगे तो इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग आ जाएगा। यदि अर्थापत्ति स्वयं को जान लेती है तो प्रथम ज्ञान भी स्वयं को जान लेता है ऐसा मान लेना चाहिए।

जैन का अभिमत है कि ज्ञान स्वप्रकाशी है। जैसे दीपक पदार्थ को भी प्रकाशित करता है और स्वयं को भी। वैसे ही ज्ञान पदार्थ को भी प्रकाशित करता है और स्वयं को भी उसे प्रकाशित करने के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं है। जैन वस्तुवादी दर्शन है। उसके अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव के लिए दूसरे की आवश्यकता नहीं होती। आपत्ति यह उठाई जाती है कि पदार्थ अपनी क्रिया करने में सक्षम नहीं होता। कोई नट अपने कन्धे पर चढकर नहीं नाच सकता, कोई तलवार अपने आपको नहीं काटती वैसे ही कोई ज्ञान अपने को नहीं जान सकता। जैनाचार्यों ने इसके उत्तर में कहा कि—हमारा अनुभव ही प्रमाण है। जिस प्रकार नट और तलवार के संदर्भ में स्वात्मक्रियाविरोध अनुभवसिद्ध है उसी प्रकार यह भी अनुभवसिद्ध है कि दीपक स्व और पर-प्रकाशी दोनों है अतः ज्ञान को भी अनुभव के आधार पर स्व—पर प्रकाशक माना जाता है। कतिपय जैनाचार्यों ने स्वप्रकाशकत्त्व पर बल देने के लिए प्रमाण लक्षण में 'स्व' पद का भी समावेश किया है। यथा—स्वपरावभासकं ज्ञानं प्रमाणम्। स्वपराभवासकं यथाप्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।

13.8 गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण है या नहीं?

किसी पदार्थ का ज्ञान होने के पश्चात् पुनः उस पदार्थ को जानना प्रमाण है या नहीं? यह चर्चा भी भारतीय दर्शनों में प्रसिद्ध है। कुछ दार्शनिक अधिगत अर्थ के ज्ञान का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, कुछ नहीं करते। इसी संदर्भ में धारावाही ज्ञान की चर्चा आती है।

मीमांसा मत में धारावाही ज्ञान को प्रमाण माना गया है जबकि बौद्ध विद्वानों का झुकाव धारावाही ज्ञान को प्रमाण न मानने की ओर है। वाचस्पति, श्रीधर, जयन्तभट्ट, उदयन आदि समस्त न्याय-वैशेषिक विद्वानों ने धारावाही ज्ञान को प्रमाण माना है। इसलिए अपने प्रमाण-लक्षण में उन्होंने अनधिगत, अपूर्व आदि पदों का प्रयोग नहीं किया। मीमांसक विद्वानों ने धारावाही ज्ञान को प्रमाण स्वीकार किया है। कुमारिल-परम्परा ने धारावाही ज्ञानों को प्रमाण मानते हुए भी अपने प्रमाण लक्षण में अपूर्व, अनधिगत आदि पदों का प्रयोग किया है। अपूर्व पद को व्याख्यायित करने के लिए उन्होंने धारावाही ज्ञानों के मध्य सूक्ष्म कालकला की प्रतीति माना

है। पण्डित सुखलालजी का मन्तव्य है कि इस पर बौद्ध एवं जैन कल्पना की छाप जान पड़ती है। प्रभाकर के अनुगामी शालिकानाथ ने कालकला का ज्ञान माने बिना अनुभूति होने मात्र से उसे प्रमाण माना है। प्रतीत होता है कि वे न्याय-वैशेषिक परम्परा से प्रभावित हुए हैं।

दर्शन के क्षेत्र में इस चर्चा का समावेश करने वाली बौद्ध परम्परा में भी प्रमाता के भेद से धारावाही ज्ञान का प्रामाण्य-अप्रामाण्य स्वीकृत है। हेतुबिन्दु की टीका में अर्चट ने योगीगत धारावाही ज्ञान को प्रमाण तथा साधारण प्रमाताओं के ज्ञान को प्रमाण कहा है। उनके अनुसार योगीगत ज्ञान में सूक्ष्मकालकला का भान होता है जबकि साधारण प्रमाता के ज्ञान में वह नहीं होता।

धारावाही ज्ञान को लेकर जैन परम्परा में दो विचारधाराएं हैं। दिगम्बर आचार्य धारावाही ज्ञान को अप्रमाण मानते हैं जबकि श्वेताम्बर आचार्य उसे प्रमाण मानते हैं। आचार्य अकलंक ने प्रमाणलक्षण में अनधिगतार्थग्राही शब्द का प्रयोग किया है। अन्य दिगम्बर आचार्यों ने इसका समर्थन करते हुए अपूर्व शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध एवं मीमांसा दर्शनों में इन शब्दों के प्रयोग का प्रयोजन स्पष्ट है क्योंकि बौद्ध विकल्प एवं स्मृति तथा मीमांसक स्मृति के प्रामाण्य का निषेध करते हैं किन्तु जैन दार्शनिक स्मृति के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। इसलिए पश्चाद्वर्ती दिगम्बर आचार्यों ने अनधिगत और अपूर्व पदों को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार धारावाहिक ज्ञान जिस अंश में विशिष्ट प्रमाजनक नहीं है उस अंश में अप्रमाण तथा विशेषांश में विशिष्ट प्रमाजनक होने के कारण प्रमाण हैं। श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने प्रमाणलक्षण में अपूर्व, अनधिगत आदि पदों को स्थान नहीं दिया। उनके अनुसार गृहीतगाहित्व प्रमाण्य का विघातक नहीं है। अत: प्रमाण है।

13.9 प्रमाण और उसका फल परस्पर भिन्न है या अभिन्न?

प्रमाण और उसके फल की चर्चा भी दार्शनिक जगत् में अपना महत्त्व रखती है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसक इन्द्रिय व्यापार को प्रमाण, हानोपादानोपेक्षाबुद्धि को फल तथा उनके मध्यवर्ती सन्निकर्ष, निर्विकल्प और सविकल्प आदि को पूर्व प्रमाण की अपेक्षा फल और उत्तरफल की अपेक्षा प्रमाण मानते हैं।

बौद्ध परम्परा में दिङ्.नाग ने विषयाकार को प्रमाण एवं विषयाकार-अर्थनिश्चय को प्रमाण का फल माना है। धर्मकीर्ति ने इसी धारा में कहा—ज्ञान प्रमाण का फल है एवं अर्थसारूप्य (अर्थाकारता) प्रमाण है। तत्त्वसंग्रह में शान्तरक्षित ने दोनों के विचारों को समन्वित प्रस्तुति दी है—"सारूप्य और योग्यता प्रमाण एवं विषय की प्राप्ति और स्वसंवित्ति प्रमाण के फल हैं।"

जैन तार्किकों में आचार्य सिद्धसेन और समन्तभद्र ने ज्ञान को प्रमाण तथा अज्ञान-निरास को प्रमाण फल कहा है। जिसे बाद के जैन-दार्शनिकों ने शब्दान्तर के साथ स्वीकार किया है। उन्होंने अज्ञाननिवृत्ति के स्थान पर स्वपरव्यवसिति कहा। जैनाचार्य भी मध्यवर्ती फलों को सापेक्ष भाव से प्रमाण मानते हैं।

प्रमाणफल के स्वरूप के साथ प्रमाण और प्रमाण के फल के भेदा-भेद की चर्चा भी जुड़ी हुई है। न्यायवैशेषिक और मीमांसक प्रमाण को फल से भिन्न मानते हैं। उनका मानना है कि प्रमाण कारक है। जो कारक होता है वह अपने से भिन्न पदार्थ में क्रिया करता है। प्रमाण प्रमा का कारण है। करणरूपता और फलरूपता परस्पर विरोधी धर्म हैं।

बौद्ध परम्परा में प्रमाण एवं उसके फल को परस्पर अभिन्न माना गया है। बौद्धमतानुसार प्रमाण और फल दोनों ज्ञानगत धर्म हैं और उनमें भेद न माने जाने के कारण वे अभिन्न कहे जाते हैं। अपनी अनेकान्तमूलक प्रकृति के अनुसार जैन विद्वानों ने प्रमाण और फल को कथंचित् भिन्न और कथंचित अभिन्न माना है। प्रमाण और फल में कारण कार्यभाव है अत: वे भिन्न हैं ऐसा जैन मन्तव्य है। एक ही ज्ञान के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती क्षण के रूप में प्रमाण और उसके फल में एकात्मकता मानी गई है।

13.10 सारांश–निष्कर्ष यह है कि प्रमा के साधनरूप में प्रमाणलक्षण निर्विवाद है किन्तु प्रमा की विशेष विवेचना के कारण लक्षणों में वैविध्य आविर्भूत हुआ है।

13.11 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

विभिन्न दर्शनों में प्रमाण के स्वरूप का विमर्श करते हुए उनकी परस्पर तुलना करें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

क. गृहीतग्राही ज्ञान के प्रामाण्य के संदर्भ में जैन, न्याय, बौद्ध और मीमांसा-मत का उल्लेख करें।

ख. न्याय मत के आधार पर प्रमाण के स्वरूप पर प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ज्ञान के ...... प्रकार उपलब्ध हैं।
2. सिद्धसेन ने प्रमाणलक्षण में .... पद जोड़ा।
3. .... इन्द्रिय के साथ अर्थ के सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं।
4. मीमांसकों का मानना है जब किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो उसमें .... नामक धर्म उत्पन्न होता है।
5. दर्शन के क्षेत्र में धारावाही ज्ञान की चर्चा का समावेश .... परम्परा ने किया।
6. .... ने विषयाकार को प्रमाण माना है।
7. बौद्ध परम्परा में प्रमाण एवं उसके फल को .... माना गया है।
8. प्रमा का .... करण प्रमाण है।
9. नैयायिकों के अनुसार ज्ञान को .... से जाना जा सकता है।
10. मीमांसा मत के अनुसार धारावाही ज्ञान .... है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1.	दो	2.	बाधविवर्जितम्
3.	नैयायिक	4.	ज्ञातता
5.	बौद्ध	6.	दिङ्नाग
7.	अभिन्न	8.	साधकतम
9.	अर्थापत्ति	10.	प्रमाण।

☆☆☆

इकाई–14 : अनुमान–जैन, बौद्ध एवं न्याय

संरचना

14.0 प्रस्तावना

प्रमाण की चर्चा के अन्तर्गत यह ज्ञात हुआ कि सभी दार्शनिकों ने प्रमाण को स्वीकारा है। किन्तु, प्रमाण की संख्या को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है। चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष के साथ-साथ बौद्ध और वैशेषिक अनुमान, सांख्य अनुमान एवं आगम, नैयायिक अनुमान, शब्द और उपमान, मीमांसा में कुमारिल भट्ट इन चारों के साथ अर्थापत्ति को तथा प्रभाकर इन सबके साथ अभाव को भी प्रमाण स्वीकार करता है। जैनों ने दो प्रमाण स्वीकार किये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जिसमें किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती और जो इदन्तया प्रतिभास होता है वह प्रत्यक्ष है और जिसमें दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा रहती है वह परोक्ष है। परोक्ष के अन्तर्गत उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम को स्वीकार किया है। इनमें से हम प्रस्तुत पाठ में अनुमान प्रमाण की चर्चा करेंगे जिसे प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकारा है।

14.1 उद्देश्य– अनुमान प्रमाण का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव का। प्राचीन शास्त्रों में अनुमान की प्रक्रिया का विश्लेषण प्राप्त नहीं होता किन्तु वेद आदि ग्रन्थों में इसके व्यावहारिक उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं।

14.2 अनुमान का स्वरूप

'अनुमिति करणं अनुमानम्' अनुमान की यह परिभाषा सभी भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को स्वीकार्य है। **'अनुमीयतेऽनेन इति अनुमानम्'** यह परिभाषा भी सर्वमान्य है। 'अनुमान' शब्द दो पदों से निष्पन्न हुआ है 'अनु' और 'मान।' 'अनु' उपसर्ग पश्चात् अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'मान' अर्थात् 'ज्ञान।' इसका तात्पर्य है हेतुदर्शन के पश्चात् साध्य का जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अनुमान है। हर किसी ज्ञान के पश्चात् होने वाला ज्ञान नहीं अपितु विशिष्टज्ञान से तात्पर्य है। विशिष्टज्ञान अर्थात् व्याप्तिज्ञान। व्याप्ति को न्याय-ग्रन्थों में प्रयुक्त प्रसिद्ध उदाहरण से समझा जा सकता है। रसोईघर आदि में बार-बार धूएं और अग्नि का सहचार देखकर व्यक्ति यह निश्चय कर लेता है कि जहां-जहां धूंआ होता है वहां-वहां अग्नि होती है। जब कहीं जंगल में पर्वत विशेष पर धूंए को देखता है तो अपने पूर्व निश्चित ज्ञान के आधार पर वह यह अनुमान कर लेता है

कि पर्वत पर अग्नि है। उपर्युक्त उदाहरण में अनुमान के द्वारा जिस वस्तु का ज्ञान हुआ वह साध्य कहलाया जैसे 'अग्नि।' जिसके माध्यम से हमने साध्य 'अग्नि' को जाना वह साधन बना अर्थात् 'धूम।' साधन और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं, जैसे जहां-जहां धूआं है वहां-वहां अग्नि है। साध्य 'अग्नि' जिस पर आश्रित होता है वह पक्ष कहलाता है—'पर्वत।' अनुमान काल में पक्ष ही साध्य बन जाता है—'पर्वतो वह्निमान्' और व्याप्ति काल में 'अग्नि (धर्म) साध्य होती है। व्यक्ति जब स्वयं पर्वत पर अग्नि का अनुमान कर लेता है तो वह स्वार्थानुमान कहलाता है और जब दूसरों को ज्ञान कराता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है। दूसरों को ज्ञान कराने के लिए अभिव्यक्ति के रूप में उसे वाक्यों का सहारा लेना पड़ता है। जिन वाक्यों के माध्यम से वह अनुमान की पूरी प्रक्रिया को करता है वे अवयव कहलाते हैं। अवयवों की संख्या को लेकर भी मतभेद है उसकी चर्चा पृथक्-पृथक् दर्शनों के अन्तर्गत करेंगे। सामान्यतः पांच अवयवों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

14.2.1 प्रतिज्ञा

सर्वप्रथम इस शब्द का निर्देश गौतम ने किया ऐसा विद्वानों का मत है। न्यायसूत्र में इसको परिभाषित करते हुए कहा गया—**'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।'** जिस वाक्य द्वारा साध्य का उल्लेख किया जाए वह प्रतिज्ञा है। 'पक्ष', धर्मी, इसके पर्यायवाची नाम है। **'पक्ष वचनं प्रतिज्ञा'** हमें जिसे सिद्ध करना है उस धर्म से विशिष्ट धर्मी का कथन प्रतिज्ञा है। जैसे **'पर्वतो वह्निमान्।'**

14.2.2 हेतु

पक्ष में साध्य को सिद्ध करने के लिए जिस वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वह हेतु कहलाता है। **'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्।'** इसमें धूम हेतु है। साधन को हेतु का पर्यायवाची मानते हैं साधन तो वस्तुरूप होता है उसे ही जब परार्थानुमान में वचनरूप में कह दिया जाता है तब वही हेतु बन जाता है—

14.2.3 उदाहरण

न्यायसूत्र में गौतम ने इसका स्वरूप निर्देश करते हुए बताया कि जिस अर्थ (पदार्थ) में लौकिक और परीक्षक दोनों सहमत हों वह दृष्टान्त है। इस दृष्टान्त का कथन उदाहरण कहलाता है। जैसे—जहां-जहां धूंआ होता है वहां-वहां अग्नि होती है जैसे रसोईघर।

14.2.4 उपनय

गौतम ने उपनय का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि उदाहरण की अपेक्षा रखते हुए 'वैसा ही यह है' या 'वैसा यह नहीं है' इस प्रकार से साध्य का उपसंहार उपनय कहलाता है। जैन आचार्यों के मतानुसार साधन का उपसंहार उपनय कहलाता है।

14.2.5 निगमन

यह परार्थानुमान का अंतिम अवयव है। न्यायसूत्र में बताया गया है कि हेतु के कथनपूर्वक प्रतिज्ञा का पुनः दुहराना निगमन है। जैन दार्शनिकों के अनुसार साध्य का उपसंहार निगमन कहलाता है जैसे पर्वत अग्नियुक्त है।

अनुमान की सामान्य जानकारी के बाद दर्शनों में अनुमान की अवधारणा का एक संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

14.3 जैनमत

जैन न्याय-ग्रन्थों में अनुमान का स्पष्ट लक्षण 'न्यायावतार' में ही प्राप्त होता है। 'अविनाभावी (साध्य के अभाव में न होने वाले) लिंग द्वारा साध्य का जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है उसे अनुमान कहा जाता है। अकलंक ने इस परिभाषा के साथ-साथ अन्यत्र एक और परिभाषा दी **'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।'**

उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने इस लक्षण को प्रमुखता दी और स्वीकार किया। अनुमान प्रक्रिया के मुख्य अंग बनते हैं साध्य और साधन।

जैन न्याय में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सर्वप्रथम पक्ष पर विचार किया। उनके अनुसार प्रत्यक्षादि से जिसका निराकरण नहीं होता उस साध्य को स्वीकारना ही पक्ष है। माणिक्यनंदी ने कहा—व्याप्तिकाल में धर्म साध्य होता है और अनुमिति काल में धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है। जैसे हम व्याप्ति इस रूप में बनाते हैं जहां-जहां धूंआ है वहां-वहां अग्नि है। इसमें अग्नि साध्य हो जाती है। जब अनुमान बनाते हैं—पर्वतो **वह्निमान् धूमवत्त्वात्'** इसमें साध्य साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी ही साध्य बन जाता है। प्रमाणमीमांसा में हेमचन्द्राचार्य ने सिसाधयिषित, असिद्ध, अबाध्य आदि को साध्य कहा है। उन्होंने भी आगे जाकर अपने पूर्वाचार्यों का ही अनुकरण किया है।

अनुमान का दूसरा प्रधान अंग है साधन या हेतु। इसके बिना अनुमान की कल्पना नहीं की जा सकती। जैन दार्शनिकों ने हेतु का एकमात्र लक्षण स्वीकार किया वह है अविनाभाव। इसको दो रूपों में प्रस्तुत करते हैं—'अन्यथा' अर्थात् साध्य के अभाव में 'अनुपपत्ति' अर्थात् साधन का अभाव। यही अन्यथानुपपत्ति है। जो साध्य के अभाव में न रहे वही हेतु सम्यक् है। 'तथा' साधन के होने पर 'उपपत्ति' साध्य रहे वह तथोपपत्ति है। इस प्रकार साध्य के साथ सुनिश्चित अविनाभाव ही साधन का लक्षण है। अनुयोगद्वारसूत्र में अनुमान के तीन प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। **पुव्ववं सेसवं और दिट्ठ-साहम्मव।**

1. पूर्ववत्—पूर्व ज्ञात हेतु दर्शन से अनुमान करना।
2. शेषवत—इसके ही पांच विभाग कर दिए। कार्य, कारण, गुण, अवयव और आश्रव से अनुमान करना।
3. दृष्ट साधर्म्य—इसके दो भेद किये हैं 1. सामान्य 2. विशेष

1. सामान्यदृष्ट—किसी एक वस्तु को देखकर उसके समान जाति वाली अन्य वस्तु का अथवा बहुत सी वस्तुओं को देखकर, किसी विशेष में तत्साधर्म्य का ज्ञान करना।

2. विशेषदृष्ट—अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक् करके, उसके वैशिष्ट्य का प्रत्यभिज्ञान करना ही विशेषतो दृष्ट अनुमान कहलाता है। स्वार्थ और परार्थ इन भेदों का उल्लेख जैन परम्परा में सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने किया।

जैन न्याय ग्रन्थों में संक्षेप में हेतु के दो भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है—उपलब्धि और अनुपलब्धि। इनके ही छह-छह भेद किये गये हैं। 1. कार्य 2. कारण 3. व्याप्य 4. पूर्वचर 5. उत्तरचर और सहचर।

1. कार्य—वहां आग है क्योंकि धूम है। यहां धूम हेतु अग्नि का कार्य है।
2. कारण—वहां छाया है क्योंकि छाता तना हुआ है। 'छाता' यह हेतु छाया का कारण है।
3. व्याप्य—सब अनेकान्तात्मक है क्योंकि सत् है। 'सत्' हेतु अनेकान्तात्मक रूप साध्य का प्याप्य है।
4. पूर्वचर—रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा क्योंकि कृत्तिका का उदय हो चुका।
5. उत्तरचर-भरणी का उदय हो चुका क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है।
6. सहचर—आम में रूप है क्योंकि रस है। 'रस' हेतु 'रूप' साध्य का सहचारी है।

अनुमान में जिन वाक्यों का सहारा लिया जाता है, उन्हें अवयव कहते हैं। जैन दार्शनिकों ने श्रोता के आधार पर अवयव को स्वीकार किया है। यदि श्रोता व्युत्पन्नमति वाला है तो एक या दो अवयव से ही काम हो जाता है और यदि श्रोता अव्युत्पन्न मति वाला है तो पांच और कहीं-कहीं दस अवयवों के प्रयोग को भी स्वीकारा है।

14.4 न्याय मत

गौतम ने न्याय-सूत्र में **'तत्पूर्वकं' त्रिविधमनुमानम्'** यह अनुमानलक्षण दिया है किन्तु सूत्र के बाद भी यह जिज्ञासा बनी रहती है कि 'तत्' पद का अभिधेयार्थ क्या है? वात्स्यायन ने 'तत्' पद की व्याख्या इस प्रकार की है—'तत्' शब्द से 'लिंग-लिंगी दर्शन' और लिंग दर्शन दोनों अभिप्रेत हैं। लिंगी के साथ लिंग का ग्रहण हो जाने के उपरान्त लिंगदर्शन से व्याप्ति का स्मरण होता है। व्याप्ति स्मरण के बाद लिंगज्ञान होता है और लिंगज्ञान से परोक्ष वस्तु की जो जानकारी होती है, उसी को अनुमान कहते हैं। न्यायसार में **भासर्वज्ञ** ने अनुमान की परिभाषा इस प्रकार दी है—**'सम्यक् अविनाभाव'** सम्बन्ध द्वारा परोक्ष अनुभव के साधन को अनुमान कहते हैं।

अनुमान का आवश्यक पद है साध्य। लिंगी, साध्य, व्यापक, आपाद्य, गम्य, अप्रतिबद्ध आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। भाष्यकार वात्स्यायन ने साध्य के दो स्वरूप बतलाये—1. धर्म-विशिष्ट धर्मी और 2. धर्मीविशिष्ट धर्म यहां धर्म से साध्य और धर्मी से पक्ष अभिप्रेत है। प्रथम पक्ष में धर्मी विशेष्य है और धर्म विशेषण। द्वितीय पक्ष में धर्म विशेष्य है और धर्मी विशेषण। भाष्यकार को प्रथम पक्ष **'पर्वतो वह्निमान्'** यह स्वरूप ही इष्ट जान पड़ता है।

पक्ष में साध्य के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जिस पद का प्रयोग किया जाता है वह हेतु कहलाता है। अनुमान वाक्य का मुख्य आधार हेतु है अतः उसकी महत्ता स्वतः सिद्ध है। गौतम ने उदाहरण के सादृश्य के आधार पर साध्य के प्रतिपादन वाक्य को साधर्म्य हेतु और उदाहरण के वैसादृश्य से साध्य के प्रतिपादक वाक्य को वैधर्म्य हेतु कहा है। इस प्रकार एक ही हेतु दृष्टान्त के साधर्म्य द्वारा साध्य का साधक होने से साधर्म्य हेतु और दृष्टान्त के वैधर्म्य द्वारा साध्य का अनुमापक होने के कारण वैधर्म्य हेतु कहलाता है।

नैयायिकों ने हेतु के पांच लक्षण स्वीकार किये हैं। उन पांच लक्षणों से युक्त हेतु को ही सद्हेतु माना है। वे पांच लक्षण हैं—1. पक्षसत्त्व 2. सपक्षसत्त्व 3. विपक्षाद्प्यावृत्ति 4. अबाधितविषयत्व 5. असत्प्रतिपक्षत्व।

जिस धर्म की सिद्धि की जानी है, उसके आश्रय को पक्ष कहते हैं। पक्ष में रहने वाला पक्षसत्त्व है। साध्यधर्म से युक्त अन्य धर्मी को सपक्ष कहते हैं। उसमें रहना ही सपक्षसत्त्व है। साध्य के धर्म से रहित धर्म को विपक्ष कहा जाता है। विपक्ष में उसका अभाव होना ही विपक्षव्यावृत्ति है। प्रत्यक्ष या आगम प्रमाण से बाधित साध्य के अनन्तर हेतु का प्रयोग नहीं करना अबाधिताविषयत्व है। जो हेतु अपने विरोधी दूसरे हेतु से बाधित न हो वह असत्प्रतिपक्षत्व है। इन लक्षणों से युक्त हेतु ही सद्हेतु है। इसके अभाव में निम्नलिखित हेत्वाभास हो जाते हैं—

1. पक्षधर्मता के अभाव में	असिद्ध
2. सपक्षसत्त्व के अभाव में	विरुद्ध
3. विपक्षव्यावृत्ति के अभाव में	अनैकान्तिक
4. अबाधितविषयत्व के अभाव में	कालात्ययापदिष्ट
5. असत्प्रतिपक्षत्व के अभाव में	प्रकरणसम

हेतु भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। गौतम ने साधर्म्य और वैधर्म्य इन दो हेतुओं का उल्लेख किया है। उद्योतकर ने अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी नाम से तीन प्रकार के हेतुओं का उल्लेख किया है।

1. अन्वयव्यतिरेकी—अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों प्रकार के उदाहरण जिस हेतु में प्राप्त होते हैं उसको अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहते हैं।
2. केवलान्वयी—जिसमें केवल अन्वयव्याप्ति हो, व्यतिरेक व्याप्ति न हो वह केवलान्वयी है। अर्थात् जो पक्ष और सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष से रहित है वह केवलान्वयी है।

3. केवलव्यतिरेकी—इसमें केवल व्यतिरेक व्याप्ति होती है, अन्वय व्याप्ति नहीं। अर्थात् पक्ष में जिसकी वृत्ति हो, विपक्ष से व्यावृत्ति और सपक्ष से रहित हो वह हेतु केवलव्यतिरेकी कहलाता है।

महर्षि गौतम ने अनुमान के तीन भेदों का उल्लेख मात्र किया है। पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट। न्याय-भाष्यकार ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है

1. पूर्ववत्—जहां कारण द्वारा कार्य का अनुमान होता है वह पूर्ववत् है। जैसे मेघाच्छन्न आकाश को देखकर वर्षा का अनुमान करना पूर्ववत् कहलाता है। मेघों का उमड़ना कारण है उसको देखकर कार्य 'भावीवृष्टि' का अनुमान किया जाता है।
2. शेषवत्—जहां कार्य द्वारा कारण का अनुमान किया जाता है वह शेषवत् है। जैसे नदी के वेगपूर्ण प्रवाह को देखकर यह अनुमान करना कि वर्षा हो चुकी है। इसमें कार्य 'नदी की बाढ़' को देखकर कारण 'पूर्ववृष्टि' का अनुमान किया गया है।
3. सामान्यतोदृष्ट—कार्यकारण भाव से निरपेक्ष जिन दो वस्तुओं का नियत सम्बन्ध पाया जाता है, उनमें एक से दूसरे का अनुमान करना ही सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। जैसे, बिना गमन के व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता। यह देख लेने के पश्चात् सूर्य को एक स्थान से दूसरे स्थान में देखकर यह अनुमान किया जाता है कि सूर्य में भी गति है।

इन तीनों भेदों के साथ ही न्यायदर्शन के ग्रन्थों में स्वार्थ-परार्थ इन दो भेदों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। परार्थानुमान में प्रयुक्त अवयवों में से न्याय-परम्परा पंचावयव परम्परा को स्वीकार करती है।

14.5 बौद्धमत

बौद्धदर्शन में दो प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान। दिङ्नाग ने अनुमान का लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया है—'ज्ञात अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा नान्तरीयक अर्थ का दर्शन ही अनुमान है।' धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में अनुमान का लक्षण इस प्रकार किया—किसी सम्बन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो ज्ञान परोक्ष रूप से उत्पन्न होता है उसे अनुमान कहा जाता है। जैसे जो अग्न्यादि के सम्बन्धी (पक्ष) के धर्मभूत धूमादि के द्वारा वह्नि का ज्ञान होता है। दिङ्नाग ने धर्मविशिष्ट धर्मी को ही साध्य के रूप में स्थिर किया है। प्रमाणवार्तिक आदि में पक्ष का निरास किया गया है।

हेतु के विषय में धर्मकीर्ति ने कहा—'जो पक्ष का धर्म हो और उसके एक देश में व्याप्त हो, उसे हेतु कहते हैं।' बौद्ध न्याय ग्रन्थों में हेतु को त्रैरूप्य द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। उनके अनुसार हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व ये तीन रूप होना आवश्यक है। इनमें से एक भी रूप नहीं रहता है तो हेतु, सद्हेतु न होकर हेत्वाभास बन जाता है। धर्मकीर्ति ने हेतु के तीन भेद निर्दिष्ट किये हैं—स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि।

स्वभाव—जिस वस्तु की विद्यमानता अपने ही हेतु से भिन्न किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं रखती। जैसे यह अग्नि है, क्योंकि उष्ण है। यह स्वभाव हेतु कहलाता है।

कार्यहेतु—जो साध्य से उत्पन्न हो उसे कार्य हेतु कहते हैं। जैसे यहां अग्नि है—धूम होने से। यहां 'धूम' कार्य हेतु है क्योंकि वह साध्य अग्नि से उत्पन्न होता है।

अनुपलब्धि हेतु—यह हेतु वह है जिसके द्वारा किसी पदार्थ के अभाव का निश्चय करने के लिए उस पदार्थ की अनुपलब्धि या अभाव का बोध किया जाए। तादात्म्य और तदुत्पत्ति के आधार पर स्वभाव और कार्य को ही हेतु के रूप में स्वीकारते हैं।

अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेद के साथ न्यायसूत्र में विवेचित तीन प्रकार के अनुमान पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त होता है। बौद्धाचार्य असंग ने पांच प्रकार के अनुमानों का

उल्लेख किया है। कार्य, लिंग, स्वभाव, धर्म और हेतुफल। परार्थानुमान में अवयव प्रयोग के प्रसंग में आचार्य धर्मकीर्ति ने हेतु और उदाहरण का प्रयोग अव्युत्पन्न व्यक्ति के लिए स्वीकारा है। जो व्युत्पन्न शिष्य हैं उसके लिए एक हेतु ही साध्य को निश्चय करने में समर्थ है। इस प्रकार बौद्धमत में अनुमान यह सामान्य अवधारणा है।

तीनों दर्शनों के अन्तर्गत अनुमान और उससे सम्बन्धित विविध अवधारणाओं की संक्षिप्त जानकारी हुई। हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि अनुमान के संदर्भ में विशेषतः हेतु के विषय में ही मतभेद है। प्रस्तुत प्रसंग में पक्ष हेतु के विभिन्न पहलुओं और अवयव से सम्बन्धित विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

पक्ष के सम्बन्ध में तीनों दर्शनों की अवधारणा पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि नैयायिकों और बौद्धों के अनुसार केवल धर्म से युक्त धर्मी पक्ष है। जैन दार्शनिकों के अनुसार ऐसा पक्ष केवल अनुमान काल में होता है। व्याप्ति काल में नहीं। जैसे घट अनित्य है क्योंकि प्रमेय है। यह अनुमान वाक्य है इसमें 'अनित्य' धर्म से युक्त 'घट' धर्मी पक्ष बनता है। व्याप्ति इस प्रकार बनती है जो जो प्रमेय है वह वह अनित्य है। व्याप्ति में केवल अनित्यता को ही लिया जाता है।

हेतु लक्षण—बौद्ध हेतु के त्रैरुप्य को स्वीकार करता है। उसके अनुसार हेतु को पक्ष का धर्म होना चाहिए, सपक्ष में रहना चाहिए और विपक्ष में नहीं रहना चाहिए। जिसमें ये तीनों लक्षण है वही सम्यक् हेतु है। जैसे—इस पर्वत में आग है क्योंकि यह धमूवाला है। जहां-जहां धूंआ होता है वहां-वहां अग्नि होती जैसे रसोईघर और जहां आग नहीं वहां धूम भी नहीं होता जैसे तालाब। इस अनुमान में 'पर्वत' पक्ष है, 'अग्नि' साध्य है 'धूमवाला' हेतु है, 'रसोई' सपक्ष है और तालाब विपक्ष है। उपर्युक्त अनुमान में हेतु 'धूमत्व' 'पर्वत' पक्ष में रहता है, सपक्ष 'रसोईघर' में भी रहता है किन्तु विपक्ष 'तालाब' में नहीं रहता। अतः वह निर्दोष हेतु है। इसलिए त्रैरुप्य ही हेतु का लक्षण है।

जैनों का अभिमत है कि यदि हम पक्षधर्मता को हेतु का लक्षण मानें तो जिस किसी को हेतु बनाकर अनुमान बनाया जा सकता है। जैसे 'जगत्' को पक्ष बनाकर मकान को सफेद सिद्ध करने के लिए कौवे के कालेपन को भी हेतु बनाकर उसमें पक्षधर्मता की कल्पना की जा सकती है। जैसे इस जगत् में सफेद मकान है क्योंकि इसमें काले कौवे पाये जाते हैं। लेकिन ऐसा अनुमान सम्यक् नहीं है। अतः हेतु पक्ष में रहकर ही साध्य को सिद्ध करता है ऐसा नहीं है। इसलिए पक्षधर्मता हेतु का लक्षण नहीं है। इसी प्रकार सपक्षसत्त्व भी हेतु का अनिवार्य लक्षण नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसे बहुत से हेतु हैं जो सपक्ष में नहीं रहते हुए भी साध्य को सिद्ध कर देते हैं। जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि सुनाई देता है इसमें कोई सपक्ष नहीं है, शब्द मात्र को पक्ष बना लिया है। शब्द के सिवाय अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो सुनाई देती हो। अतः सुनाई देना हेतु सपक्ष में नहीं रहता। फिर भी यह हेतु गमक है अपने साध्य को सिद्ध करता है। यदि यह कहा जाए कि यह विपक्ष में नहीं रहता अतः साध्य के साथ अविनाभाव नियम से बद्ध होने के कारण ही गमक है। तब तो अविनाभाव को ही हेतु का प्रधान लक्षण मानना चाहिए।

जिस हेतु में तीनों रूप हो और अविनाभाव न हो तो भी हेतु सम्यक् नहीं होता। जैसे—'मैत्र की पत्नी के गर्भ में जो बालक है, वह काला है क्योंकि वह मैत्र का पुत्र है, जैसे मैत्र के अन्य पुत्र।' इस अनुमान में 'चूंकि मैत्र का पुत्र है' यह हेतु है। मैत्र का गर्भस्थ बालक पक्ष है। पक्ष में 'मैत्र का पुत्रत्व' हेतु रहता ही है। सपक्ष है उसके अन्य भाई, चूंकि वे भी मैत्र के पुत्र हैं अतः मैत्रतनयत्व हेतु उनमें रहता ही है। विपक्ष है मेत्र के सिवाय किसी दूसरे व्यक्ति का गौरांग बालक। इसमें मैत्रतनयत्व हेतु नहीं रहता। इस प्रकार उपर्युक्त अनुमान में हेतु की त्रिरूपता होने पर भी यह हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि जो-जो मैत्रपुत्र हो वह काला ही हो ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है वह गौरवर्ण भी हो सकता है। अतः अविनाभाव ही हेतु का लक्षण है।

त्रैरुप्यता रहित हेतु भी साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होता ही है। जैसे रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो चुका है। इस अनुमान में पक्षधर्मता नहीं है क्योंकि यहां रोहिणी नक्षत्र पक्ष है और उसका भविष्य में उदय होना साध्य है तथा कृत्तिका का उदय हेतु है। 'कृत्तिका का उदय' यह हेतु 'रोहिणी' इस पक्ष में नहीं रहता है। कृत्तिका का उदय कृत्तिका का धर्म है न कि रोहिणी का। इस प्रकार पक्षधर्मता आदि न होने पर भी हेतु साध्य का गमक है। अतः पक्षधर्मत्व आदि त्रैरुप्य हेतु का लक्षण नहीं है क्योंकि यह त्रैरुप्य हेत्वाभास में रह जाता है। अतः अविनाभाव ही हेतु का लक्षण है।

नैयायिकों ने हेतु को पंचरूप्य प्रतिपादित किया। उनमें से तीन का निरसन उपर्युक्त प्रसंग में हो चुका है। उसके अतिरिक्त दो रूप हैं—अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। अबाधित विषय का अर्थ है—हेतु का साध्य किसी प्रमाण से बाधित नहीं होना चाहिए। जैसे अग्नि ठण्डी होती है क्योंकि द्रव्य है, जैसे जल। इस अनुमान में अग्नि का ठण्डापन साध्य है किन्तु यह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। अतः यह बाधित विषय है। असत्प्रतिपक्ष का अर्थ है—जिसका कोई प्रतिपक्ष न हो। कोई हेतु अपने विरोधी हेतु से बाधित नहीं होना चाहिए। जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें नित्यता की उपलब्धि नहीं होती। दूसरे ने कहा—शब्द नित्य है क्योंकि उसकी अनित्यता की उपलब्धि नहीं होती। इस हेतु से प्रथम हेतु बाधित हो जाने के कारण सत्प्रतिपक्ष है। जिस हेतु में यह दोष न हो वह असत्प्रतिपक्ष है।

जैन दार्शनिकों का यह अभिमत है कि जो हेतु बाधितविषय या सत्प्रतिपक्ष वाला होता है, उसमें अविनाभाव भी नहीं हो सकता। अतएव अविनाभाव को हेतु का लक्षण स्वीकार करने से ही इन दोनों लक्षणों का ग्रहण हो जाता है। कहा भी है—**'बाधाविनाभावयोर्विरोधात्'**—बाधा और अविनाभाव का विरोध है अर्थात् जहां किसी प्रकार का हेतु दोष है, वहां अविनाभाव नहीं हो सकता और जहां अविनाभाव है वहां कोई भी हेतु दोष नहीं रहता। इस प्रकार जैनों का कहना है कि हेतु तीन या पांच रूपों वाला होने पर अथवा न होने पर भी अविनाभाव से युक्त होने पर साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। यह तीन या पांच रूप तो अविनाभाव का ही विस्तार है। अतः हेतु का एक ही रूप मानना चाहिए वह है—'अविनाभाव।'

हेतु साध्य का गमक होता है। वह हेतु कैसा होना चाहिए जैसे कहीं कार्य हेतु बन जाता है कहीं कारण हेतु बन जाता है। कौनसा हेतु साध्य का गमक होता है और वे कितने प्रकार के हैं इस विषय में भी दार्शनिकों का मतभेद पाया जाता है।

बौद्धों ने तादात्म्य और तदुत्पत्ति के सम्बन्ध के आधार पर दो ही हेतु स्वीकार किया है। स्वभाव और कार्य। तादात्म्य से स्वभाव हेतु का अविनाभाव होता है, तदुत्पत्ति से कार्य हेतु का अविनाभाव है। कार्य और स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नहीं है।

जैनों का कहना है कि तादात्म्य का अर्थ है—साध्य के साथ साधन की एकता। जहां एकता है वहां भेद नहीं हो सकता। इस प्रकार जिस समय हेतु का ग्रहण होता है उसी समय हेतु से अभिन्न होने के कारण साध्य की भी प्रतीति हो जाएगी। तब अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इसके अलावा जिनमें तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध हो उनमें ही यदि अविनाभाव नियम मानते हैं तो कृत्तिका नक्षत्र और समुद्र की वृद्धि में साध्यसाधन भाव कैसे बनेगा? क्योंकि इसमें न तो तादात्म्य सम्बन्ध है और न ही तदुत्पत्ति। जल में चन्द्रमा के होने का अनुमान किया जाता है किन्तु आकाश में स्थित चन्द्रमा न तो जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा का स्वभाव है और न ही कार्य है। फिर भी जलचन्द्र से चन्द्रमा का निर्दोष ज्ञान होता है। अतः स्वभाव और कार्य के सिवाय एक कारण हेतु को भी मानना चाहिए। कृत्तिका का उदय रूप हेतु रोहिणी के उदयरूप साध्य का न तो कार्य है और न ही स्वभाव, परन्तु दोनों के उदय में अविनाभाव नियम है। इसी के आधार पर नक्षत्र के उदय का भी अनुमान किया जाता है। यह पूर्वचर हेतु का उदाहरण है। अतः बौद्धों का यह कहना

कि 'अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही नियत है। यह कथन संगत नहीं है। इसके आधार पर हेतु के जो दो ही भेद स्वीकार किये है स्वभाव और कार्य इसके अलावा कारण हेतु, पूर्वचर हेतु आदि भी पाये जाते हैं और अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ हैं।

नैयायिकों ने हेतु के तीन प्रकार स्वीकार किये हैं-1. केवलान्वयी 2. केवलव्यतिरेकी 3. अन्वयव्यतिरेकी।

उपर्युक्त तीनों भेदों की समीक्षा करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अन्वयव्यतिरेकी' इस एक भेद में ही हेतु का पंचरुप्य लक्षण घटित होता है। अन्य दोनों में नहीं जबकि नैयायिक पंचरुप्य को हेतु की अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः पंचरुप्य हेतु अव्याप्त है। अन्यथानुपपत्ति यह तीनों ही भेदों में व्याप्त है। अतः हेतु का एक ही लक्षण मानना सम्यक् होगा।

वक्ता अपने वचनों से, साधन से साध्य का ज्ञान कराता है वह परार्थानुमान है। जिन वचनों, वाक्यों का प्रयोग किया जाता है वे अवयव कहलाते हैं। वे अवयव कितने होने चाहिए इस विषय में भी दार्शनिकों का मतभेद है।

बौद्ध दार्शनिकों ने केवल हेतु का ही प्रयोग आवश्यक माना है। उनके अनुसार पक्ष (प्रतिज्ञा) का प्रयोग व्यर्थ है। केवल हेतु के प्रयोग से साध्य का ज्ञान हो जाता है।

जैनों को यह कथन कि "पक्ष का प्रयोग प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता" अभिप्रेत नहीं है। जो मन्दबुद्धि होता है, उसे प्रतिज्ञा के बिना प्रसंग का पता नहीं चलेगा। जैसे कोई शब्द की अनित्यता को समझना चाहता है उसके सामने 'शब्द अनित्य है' ऐसा कहे बिना ही दूसरे अन्य वाक्यों का प्रयोग करने लगता है। जैसे 'कृतक होने से', 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है' 'ऐसा होने पर ही कृतकता हो सकती है,' 'अन्यथा कृतकता नहीं हो सकती।' यह सब वाक्य उसके लिए अनपेक्षित हैं क्योंकि ये सब उसे असंगत लगेंगे और वह यह नहीं समझ पायेगा कि किसके बारे में कहा जा रहा है? अतः विशेष अर्थ का बोध कराने के लिए प्रतिज्ञा का प्रयोग आवश्यक है। यदि पक्ष की अनिवार्यता को नहीं स्वीकारेंगे तो सपक्ष औ विपक्ष की व्यवस्था ही नहीं बनेगी क्योंकि सपक्ष और विपक्ष की व्यवस्था पक्षपूर्वक ही होती है। यदि सपक्ष और विपक्ष नहीं रहेंगे तो बौद्धों ने हेतु का जो त्रैरूप्य स्वीकार किया है वह भी नहीं बन सकता। अतः हेतु की तरह पक्ष का प्रयोग भी आवश्यक है।

नैयायिकों के अनुसार श्रोता मन्दबुद्धि वाला हो अथवा तीव्र बुद्धिवाला, पांच अवयवों का प्रयोग आवश्यक है। यदि इन पांच अवयवों में से एक का भी प्रयोग नहीं किया गया तो निग्रहस्थान नामक दोष की आपत्ति स्वीकारते हैं।

जैन दार्शनिकों ने इस विषय में अपने अनेकान्त दृष्टिकोण को अपनाया। उनके अनुसार शिष्य का अनुरोध और उसकी प्रतिभा को ध्यान में रखकर एक, दो, तीन, चार, पांच अवयवों का प्रयोग किया जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि श्रोता जितने अवयवों से आसानी से साध्य का ज्ञान कर सके उतने अवयवों का प्रयोग करना चाहिए।

14.6 सारांश-इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन में यह स्पष्ट हुआ कि जैन, बौद्ध, न्याय में अनुमान की क्या अवधारणा है और उनमें कितनी साम्यता और विषमता है।

14.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. हेतु सम्बन्धित विचारों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पांच अवयवों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. अनुयोगद्वार से उद्धृत अनुमान के भेदों को स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जैन दार्शनिकों के अनुसार हेतु का लक्षण क्या है?
2. अवयव किसे कहते हैं?
3. गौतम के अनुसार अनुमान का क्या लक्षण है?
4. नैयायिक हेतु किसे कहते हैं?
5. नैयायिकों द्वारा मान्य हेतुलक्षणों का नामोल्लेख करें।
6. विपक्षव्यावृत्ति के अभाव में कौन सा हेत्वाभास होता है?
7. बौद्ध दर्शन में कौन से प्रमाण स्वीकृत हैं?
8. धर्मकीर्ति द्वारा स्वीकृत हेतुभेदों का उल्लेख करें।
9. नैयायिक पक्ष किसे कहते हैं?
10. जैन दार्शनिकों में सर्वप्रथम पक्ष पर विचार किसने किया?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. अविनाभाव 2. अनुमान में जिन वाक्यों का सहारा लिया जाता है उसे अवयव कहते हैं।
3. 'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्।'
4. पक्ष में साध्य के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जिस पद का प्रयोग किया जाता है वह हेतु कहलाता है।
5. पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति, अबाधितविषय असत्प्रतिपक्षत्व।
6. अनैकान्तिक 7. प्रत्यक्ष और अनुमान
8. स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि 9. धर्मविशिष्टधर्मी
10. आचार्य सिद्धसेन दिवाकर।

☆☆☆

संवर्ग–5 : जैन योग

इकाई–15 : ध्यान का स्वरूप—जैन, बौद्ध एवं योग

संरचना

15.0 प्रतावना

ध्यान की साधना ज्योति की साधना है, प्रकाश का साधना है। मनुष्य प्रकाश चाहता है। वह कभी अन्धकार नहीं चाहता। इसलिए वह प्रकाश की साधना करता है। वह चाहता है कि भीतर रहा हुआ तमस् भाग जाये। अन्धकार मिट जाये। जीवन में प्रकाश जैसे-जैसे उतरता है, वैसे-वैसे अन्धकार भाग जाता है।

15.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से ध्यान के स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश डाला जायेगा।

15.2 जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप

साधना पद्धति में ध्यान का सर्वोपरि महत्त्व रहा है। ध्यान शब्द **'ध्यैं चिन्तायाम्'** धातु से निष्पन्न होता है। शब्द की उत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन होता है, किन्तु प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ उससे भिन्न है। ध्यान का अर्थ चिन्तन नहीं किन्तु चिन्तन का एकाग्रीकरण अर्थात् चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना या उसका निरोध करना है। (आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1463: **अंतो मुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गगया हवइ झाणं)** ध्यानशतक में चित्त की स्थिर अवस्था को ध्यान कहा गया है। **(थिरमज्झवसाणं झाणं)**

तत्त्वार्थसूत्र में एकाग्रचिन्ता तथा शरीर, वाणी और मन के निरोध को ध्यान कहा गया है। (तत्त्वार्थसूत्र 9/27: **उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात्)**

इससे यह ज्ञात होता है कि जैन परम्परा में ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही नहीं माना गया था। वह मन, वाणी और शरीर—इन तीनों से सम्बन्धित था। इस अभिमत के आधार पर उसकी निरंजन दशा—निष्प्रकम्प दशा ध्यान है। (आवश्यक निर्युक्ति 1467-1478) केवलज्ञानी के केवल निरोधात्मक ध्यान ही होता है, किन्तु जो केवलज्ञानी नहीं है उनके एकाग्रतात्मक और निरोधात्मक दोनों ध्यान होते हैं। ध्यान का सम्बन्ध शरीर, वाणी और मन—तीनों से माना जाता रहा, फिर भी उसकी परिभाषा—चित्त की एकाग्रता ध्यान है—इस प्रकार की जाती रही है। भद्रबाहु के सामने यह प्रश्न उपस्थित था—यदि ध्यान का अर्थ मानसिक एकाग्रता है तो इसकी संगति जैन परम्परा सम्मत उस प्राचीन अर्थ—शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति या निरेजन दशा ध्यान है—के साथ कैसे होगी? (आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1467)

आचार्य भद्रबाहु ने इसका समाधान इस प्रकार किया—शरीर में वात, पित्त और कफ—ये तीन धातु होते हैं। उनमें से जो प्रचुर होता है, उसी का व्यपदेश किया जाता है—जैसे वायु कुपित है। वहां वायु कुपित

है—ऐसा निर्देश किया जाता है, उसका अर्थ यह नहीं है कि वहां पित्त और श्लेष्म नहीं है। इसी प्रकार मन की एकाग्रता ध्यान है—यह परिभाषा भी प्रधानता की दृष्टि से है। (आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1468,1469)

जैसे मन की एकाग्रता व निरोध मानसिक ध्यान कहलाता है, वैसे ही 'मेरा शरीर अकम्पित हो' यह संकल्प कर जो स्थिरकाय बनता है, वह कायिक ध्यान है। (वही गा. 1474) इसी प्रकार संकल्पपूर्वक अकथनीय भाषा का वर्जन किया जाता है, वह वाचिक ध्यान है। (वही गा. 1476, 1477) जहां मन एकाग्र व अपने लक्ष्य के प्रति व्यापृत होता है तथा शरीर और वाणी भी उसी लक्ष्य के प्रति व्यापृत होते हैं, वहां मानसिक, कायिक और वाचिक—ये तीनों ध्यान एक साथ हो जाते हैं। (वही गा. 1478) जहां कायिक या वाचिक ध्यान होता है, वहां मानसिक ध्यान भी होता है, किन्तु वहां उसकी प्रधानता नहीं होती, इसलिए वह मानसिक ही कहलाता है। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि मन सहित वाणी और काया का व्यापार होता है, उसका नाम भावक्रिया है और जो भावक्रिया है, वह ध्यान है। (वही गा. 1486)

ध्यान में शरीर, वाणी और मन का निरोध ही नहीं होता, प्रवृत्ति भी होती है। सहज ही प्रश्न होता है कि स्वाध्याय में मन की एकाग्रता होती है और ध्यान में भी। उसी स्थिति में स्वाध्याय और ध्यान ये दो क्यों? स्वाध्याय में मन की एकाग्रता होती है किन्तु वह घनीभूत नहीं होती, इसलिए उसे ध्यान की कोटि में नहीं रखा जा सकता। ध्यान चित्त की घनीभूत अवस्था है।

स्वप्न, निद्रा और प्रगाढ़ निद्रा में शुभ या अशुभ ध्यान नहीं होता, इसी प्रकार नवोत्पन्न शिशु तथा जिनका चित्त मूर्च्छित, अव्यक्त, मदिरापान से उन्मत्त, विष आदि से प्रभावित है, उनके भी ध्यान नहीं होता। ध्यान का अर्थ शून्यता या अभाव नहीं है। अपने आलम्बन में गाढ़रूप से संलग्न होने के कारण जो निष्प्रकम्प हो जाता है, वही चित्त ध्यान कहलाता है। मृदु, अव्यक्त और अनवास्थित चित्त को ध्यान नहीं कहा जा सकता। (आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 1481-1483)

ध्यान चेतना की वह अवस्था है जो अपने आलम्बन के प्रति एकाग्र होती है अथवा बाह्य शून्यता होने पर भी आत्मा के प्रति जागरूकता अबाधित रहती है। इसलिए कहा गया है "जो व्यवहार के प्रति सुषुप्त है, वह आत्मा के प्रति जागरूक है।"

उक्त विवरण से फलित होता है कि चिन्तन शून्यता ध्यान नहीं और वह चिन्तन भी ध्यान नहीं है, जो अनेकाग्र है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है, भावक्रिया ध्यान है और चेतना के व्यापक प्रकाश में चित्त विलीन हो जाता है वह भी ध्यान है।

इन परिभाषाओं के आधार पर जाना जा सकता है कि जैन आचार्य जड़तामय शून्यता व चेतना की मूर्च्छा को ध्यान कहना इष्ट नहीं मानते थे।

15.3 बौद्ध परम्परा में ध्यान का स्वरूप

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान पर 'ध्यान और समाधि' शब्द का प्रयोग मिलता है। ध्यान बौद्ध धर्म का हृदय है। बौद्ध साधना पद्धति में ध्यान का अर्थ किसी विषय पर चिन्तन करना है। (समन्तपादिका पृ. 145-146) परन्तु अभ्यास के बिना कुछ भी संभव नहीं है, चित्त का अभ्यास ही ध्यान है। (ध्यान सम्प्रदाय पृ. 81) बाह्य विषयों की आसक्ति से मुक्त होना ही ध्यान है। (दि सूत्र ऑव-वे-लेग, पृ. 47)

बोधि प्राप्त होने से पूर्व तथागत बुद्ध ने श्वासोच्छ्वास का निरोध करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने शिष्य से कहा कि मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था, इसलिए मैं मुख, नाक एवं कर्ण में से निकलते हुए सांस को रोकने का, उसे निरोध करने का प्रयत्न करता रहा। (अंगुत्तर निकाय 63) लेकिन इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। इसलिए उन्होंने अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया। (संयुक्त निकाय 5, 10/विभंग 317-28)

बौद्ध योग में समाधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको प्राप्त करने के लिए ध्यान का प्रतिपादन किया गया। (दीघनिकाय 1/2, पृ. 28-29)

15.3.1 बौद्ध ध्यान योग

बुद्ध भिक्षुकों ने निर्वाण प्राप्ति के लिए दो साधनों से सम्पन्न होने का विशेष उल्लेख किया है। पहिला साधन है शील विशुद्धि (सत्कर्मों के अनुष्ठान से नैतिक शुद्धि) तथा दूसरा साधन है चित्त-विशुद्धि (चित्त की शुद्धता)। शील विशुद्धि का प्रतिपादन अनेक बौद्ध ग्रन्थों में पाया जाता है, परन्तु आचार्य के द्वारा अन्तेवासिक (विद्यार्थी) को मौखिक रूप से दिये जाने के कारण चित्त-विशुद्धि का विवेचन बहुत ही कम ग्रन्थों में पाया जाता है। 'सुत्त पिटक' के अनेक सुत्तों में बुद्ध ने समाधि की शिक्षा दी है परन्तु यह शिक्षा इतनी सुव्यवस्थित नहीं है। आचार्य बुद्धघोष का 'विशुद्धिमग्ग' इस विषय का सबसे सुन्दर प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ है जिसमें हीनयान की दृष्टि से ध्यानयोग का विस्तृत तथा विशद विवेचन है। महायान में भी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। योग और आचार पर समधिक महत्त्व प्रदान करने के कारण ही विज्ञानवादी 'योगाचार' के नाम से अभिहित किये जाते हैं। इनके ग्रन्थों में विशेषतः असंग के 'महायान-सूत्रालंकार' तथ 'योगाचारभूमिशास्त्र' में विज्ञानवादी सम्मत ध्यानयोग का वर्णन पाया जाता है।

15.3.2 हीनयान में ध्यान

लक्ष्य की सिद्धि के लिए ध्यान का उपयोग किया जाता है। हीनयान तथा महायान के लक्ष्य में ही मौलिक भेद है। हीनयान में निर्वाण प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है जो चित्त के रागादि क्लेशों के दूरीकरण पर इसी लोक में आविर्भूत होता है। इस कार्य में साधक को ध्यान योग से पर्याप्त सहायता मिलती है। बिना समाधि के कामधातु (वासनामय जगत्) का अतिक्रमण कर रूपधातु में जा नहीं सकता। समाधि साधक को रूपधातु में ले जाने के लिए प्रधान सहायक है।

15.3.3 महायान में समाधि

महायान का लक्ष्य ही दूसरा है। महायान में चरम उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। यह एक जन्म का व्यापार नहीं है। अनेक जन्मों में पुण्यसंभार का संचय करता हुआ साधक ज्ञान संभार की प्राप्ति करता है। प्रज्ञापारमिता अन्य पारमिताओं का परिणाम है। जब तक इस प्रज्ञापारमिता का उदय नहीं होता तब तक बुद्धत्व की प्राप्ति हो नहीं सकती। इस पारमिता के उदय के लिए समाधि की महती उपयोगिता है। निर्वाण को प्राप्त करने के लिए चित्त को समाहित करना नितान्त आवश्यक है।

बुद्धघोष ने समाधि का अर्थ एकाग्रता किया है। एक आलम्बन पर मन को तथा मानसिक व्यापारों को समान रूप से तथा सम्यग् रूप से लगाना समाधि है।

किसी वस्तु पर चित्त को लगाने से ठीक पूर्व क्षण में विद्यमान मानसिक दशा का नाम उपचार समाधि और वस्तु पर चित्त को स्थिर कर देना अप्पणा (अर्पणा) समाधि है।

भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश में कहीं विपश्यना द्वारा, कहीं ध्यान और प्रज्ञा द्वारा, कहीं शुभ तर्कों द्वारा, कहीं कर्म, विद्या, धर्म, शील और उत्तम आजीविका द्वारा और कहीं शील, प्रज्ञा और समाधि द्वारा निर्वाण की प्राप्ति बतलाई है।

धम्मपद में उन्होंने बताया है—

सव्वे संखारा अनिच्चाति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया॥

अर्थात् जब मनुष्य प्रज्ञा द्वारा देखता है तो सब संस्कार अनित्य प्रतीत होते हैं। तब वह क्लेशों से विरक्त होता है और संसार में उसकी आसक्ति नहीं रहती। यह विशुद्धि का मार्ग है।

नत्थि झाणं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झाणं च पञ्ञा च स वै निब्बानसन्तिके॥

अर्थात् प्रज्ञाहीन के ध्यान नहीं होता और ध्यानहीन के प्रज्ञा नहीं होती। जिसमें प्रज्ञा और ध्यान दोनों होते हैं निर्वाण उनके निकट है।

शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा सर्व मल का निरसन तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है। बुद्ध शासन की यही तीन शिक्षा है। शील से शासन की आदिकल्याणता प्रकाशित होती है, समाधि शासन के मध्य में और प्रज्ञा पर्यवसान में। शील से अपाय (दुर्गति, विनिपात) का अतिक्रमण, समाधि से कामधातु का और प्रज्ञा से सर्वभव का अतिक्रमण होता है। जो व्यक्ति निर्वाण के लिए यत्नशील होता है, उसे पहले शील में प्रतिष्ठित होना चाहिए। जब शील अल्पेच्छता, सन्तुष्टि, प्रविवेक (एकान्त सेवन) आदि गुणों द्वारा सुविशुद्ध हो जाता है, तब समाधि की भावना का प्रारम्भ होता है।

समाधि उस धर्म को कहते हैं जिसके प्रभाव से चित्त और चैतसिक धर्मों की एक आलम्बन में बिना किसी विक्षेप के सम्यक् स्थिति हो। समाधि में विक्षेप का विध्वंस होता है और चित्त-चैतसिक विप्रकीर्ण न होकर एक आलम्बन में पिण्ड रूप से अवस्थित होते हैं।

काम, रूप और अरूप भूमियों की कुशलचित्तैकाग्रता को लौकिक समाधि तथा इस लौकिक समाधि के मार्ग को शमथयान कहते हैं।

शमन अर्थात् विघ्नों का उपशम। विघ्नों के शमन से चित्त की एकाग्रता होती हैं इसलिए शमथ का अर्थ चित्त की एकाग्रता भी है।

दूसरा मार्ग विपश्यना का मार्ग है। इसे लोकोत्तर समाधि भी कहते हैं।

बौद्ध आगम में पुद्‌गल (जीव) संस्कार समूह है। यह एक सन्तान है। आत्मा नाम का नित्य, ध्रुव और स्वरूप से अविपरिणाम धर्म वाला कोई पदार्थ नहीं है, पञ्च स्कन्ध मात्र है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान यह स्कन्ध पञ्चक क्षण-क्षण में उत्पद्यमान और विनश्यमान है। यह साश्रव धर्म 'दुःख' है क्योंकि क्लेश हेतु वश इनकी उत्पत्ति होती है। क्लेश सन्तान को दूषित करते हैं। दुःख का अन्त करने में प्रज्ञा की प्रधानता है। पहले इसका ज्ञान होना चाहिए कि न आत्मा है न आत्मीय है, सब संस्कृत धर्म अनित्य हैं। जो सब धर्मों को अनित्यता, दुःखता और अनात्मता के रूप में देखता है वह यथभूतदर्शी है। उसको विपश्यना ज्ञान प्राप्त है। इसीलिए धर्मपद की अर्थकथा में आत्मभाव के क्षय व्यय की प्रतिष्ठा कर सतत अभ्यास से अर्हत्पद के ग्रहण को विपश्यना कहा है। इस मार्ग का अनुगामी 'विपश्यनायानिक' कहलाता है। सप्त विशुद्धियों द्वारा विपश्यना मार्ग के फल की प्राप्ति होती है। यह सात विशुद्धियां इस प्रकार हैं—

1. शील विशुद्धि
2. चित्त विशुद्धि
3. दृष्टि विशुद्धि
4. कांक्षा वितरण विशुद्धि
5. मार्गामार्गज्ञान दर्शन विशुद्धि
6. प्रतिपत्तिज्ञान दर्शन विशुद्धि
7. ज्ञान दर्शन विशुद्धि।

15.4 जैन साधना पद्धति और बौद्ध साधना पद्धति में समानता

श्वास प्रेक्षा, वहां बौद्ध साधना पद्धति में आनापानसती विहित है। जैन साधना पद्धति त्रिगुप्ति/संवर की साधना को महत्त्व दिया गया है। बौद्ध ध्यान पद्धति में पूर्ण मौन को महत्त्व दिया गया है। जैन साधना पद्धति में भी ध्यान का लक्ष्य शुक्लध्यान की स्थिति प्राप्तकर वीतराग, अर्हत् पद को प्राप्त करना और सिद्धि प्राप्त करना है। बौद्ध साधना पद्धति में भी यही लक्ष्य है—अर्हत्पद और निर्वाण को प्राप्त करना।

जैन साधना पद्धति में ध्यान, धारणा, समाधि और बौद्ध साधना पद्धति में शील, समाधि और प्रज्ञा इस त्रिक को साधना का मुख्य अंग माना है।

15.5 जैन साधना पद्धति और बौद्ध साधना पद्धति में असमानता

जैन दर्शन का दार्शनिक पक्ष और साधना पक्ष आत्मा के आधार पर चलता है। सारा आचारशास्त्र आत्मा पर आधारित है। एक साधक ने श्वासप्रेक्षा की, श्वास के प्रकम्पनों का पता चला। शरीर प्रेक्षा की, शरीर के प्रकम्पनों का पता चला किन्तु उसे कम्पनों में ही नहीं अटकना है, अकम्प की ओर जाना है। इन प्रकम्पनों के बीच एक अप्रकम्प है, जो कम्पित नहीं होता, उसका साक्षात्कार करना है। यह बात बौद्ध दर्शन सम्मत नहीं है क्योंकि उसमें आत्मवाद की स्पष्ट अवधारणा नहीं है।

बुद्ध ने कहा—दु:ख को मिटाओ, दु:ख के हेतु को मिटाओ, आत्मा के झगड़े में मत पड़ो। बुद्ध ने दु:ख को मिटाने का सीधा मार्ग बताया। महावीर ने कहा—वर्तमान में जो सामने है, केवल उसी पर मत अटको, मूल तक जाओ। बुद्ध का दर्शन—अग्र पर ध्यान केन्द्रित करो। महावीर का दर्शन—केवल अग्र को मत पकड़ो, मूल तक जाओ, आत्मा तक जाओ। जैनदर्शन और बौद्धदर्शन में यह मूलभूत अन्तर है।

बौद्ध साधना पद्धति में आनापानसती, कायविपश्यना, धर्मानुपश्यना वेदनानुपश्यना आदि का अभ्यास करवाया जाता है। कुम्भक का प्रयोग मान्य नहीं है। आसन निषिद्ध है क्योंकि सम्मत नहीं है। विपश्यना में प्राणायाम का कोई स्थान नहीं है। विपश्यना में 10 दिन पूर्ण मौन का प्रयोग होता है। जैन साधना पद्धति में आसन, प्राणायाम, कायोत्सर्ग, चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान, अनुप्रेक्षा आदि पद्धतियां सम्मत हैं।

बौद्ध धारा में भी ध्यान मानसिक ही माना गया है। (विशुद्धिमार्ग पृ. 141-151) ध्यान केवल मानसिक ही नहीं, किन्तु वाचिक और कायिक भी है। यह अभिमत जैन आचार्यों का अपना मौलिक है।

15.6 पातञ्जल योगदर्शन में ध्यान

पातञ्जल योगदर्शन महर्षि पतञ्जलि का एक महत्त्वपूर्ण योग ग्रन्थ है। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टांग योग में ध्यान को सातवें क्रम में रखा है। ध्यान को परिभाषित करते हुए लिखा है—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (3/2) हृदय आदि देश रूप विषय में जो ध्येयाकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता है वह ध्यान कहलाता है। नाभि, हृदय, सिर, नासिका आदि किसी में भी अपनी सुविधानुसार चित्त को बांधा जा सकता है। धारणा की परिपक्व अवस्था ध्यान कहलाती है। ध्यान में ध्येय को देखा जाता है। धारणाकाल में जिस नाभिचक्रादि देश में चित्तवृत्ति को लगाया हो उसी देश में चित्तवृत्ति का एकाग्रता को प्राप्त हो जाना ध्यान कहा जाता है। सदृश प्रवाह अर्थात् विजातीय वृत्ति से रहित सजातीय वृत्ति का निरन्तर प्रवाह वह ध्यान कहलाता है। अर्थात् अन्य विषयक वृत्ति के व्यवधान से रहित जो केवल ध्येय विषयक वृत्ति की स्थिति वह ध्यान कहा जाता है।

यद्यपि सूत्रकार तथा भाष्यकार ने नाभिचक्रादि देश विषयक धारणा को ध्यान कहा है, फिर भी उक्त देश रूप अधिकरण में परमेश्वर आदि ध्येय विषयक धारणा ध्यान में दोनों महर्षियों का तात्पर्य समझना चाहिए। अर्थात् उस देश का ध्यान नहीं करना चाहिए किन्तु उस देश में स्थित परमेश्वर आदि ध्येय का ध्यान करना चाहिए। अतएव गरुड़ पुराण के उक्त श्लोक में ब्रह्मरूप परमेश्वर विषयक धारणा को ध्यान कहा है—

प्राणायामैर्दशभिर्यावत्कालकृतो भवेत्।
स तावत्कालपर्यंतं मनो ब्रह्मणि धारयेत्॥

एवं शंकराचार्य ने— **समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिर:।**
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

इस श्लोक के गीताभाष्य में **'आत्मसंस्थं मन: कृत्वा'** इस भगवद् वाक्य का प्रमाण देते हुए नासिकाग्र देश रूप अधिकरण में आत्मविषयक ध्यान कहा है। अत: उक्त देश का नहीं किन्तु उक्त देश में चित्तवृत्ति को स्थिर करके शास्त्र उक्त स्वाभिमत ध्येय का ध्यान करना चाहिए; यह सिद्ध हुआ।

ध्यान काल में चित्त, चित्तवृत्ति तथा चित्तवृत्ति का विषय; इन तीनों के समुदाय रूप त्रिपुटी, जिसको क्रमशः ध्याता, ध्यान तथा ध्येय कहते हैं, उसका भान होता है, परन्तु जब वही ध्यान अभ्यासवश अपनी ध्यानाकारता को त्यागकर केवल ध्येयरूप से स्थित होता हुआ प्रतिभासिक होता है तब समाधि बन जाता है। जैसे जल डाला हुआ लवण (नमक) विद्यमान रहता हुआ भी चल रूप हो जाने से लवण रूप से न भासकर केवल जलरूप से भासता है। वैसे ही समाधिकाल में ध्यान विद्यमान रहता हुआ भी ध्येय रूप हो जाने से ध्यान रूप से न भास कर केवल ध्येयरूप से भासता है। यदि समाधिकाल में ध्यान की विद्यमानता न स्वीकार की जाए तो ध्येय का प्रकाश कौन करेगा? क्योंकि ध्येय का प्रकाश ध्यान ही करता है। इस बात को सूत्रकार ने 'इव' पद से व्यक्त किया है। अर्थात् समाधि काल में ध्यान विद्यमान होता हुआ भी उसकी प्रतीति न होने से स्वरूपशून्य के जैसा है।

"अर्थमात्रनिर्भासम्" इस पद में मात्रपद का उपादान न करते तो समाधि का लक्षण ध्यान में अतिव्याप्त हो जाता। क्योंकि ध्यानकाल में त्रिपुटी का भान होने से उसके अन्तर्गत ध्येय का भी भान होता ही है और जब मात्र पद का उपादान करते हैं तो यह अर्थ होता है कि केवल ध्येयरूप अर्थ का ही जिसमें भान होता हो, उससे अधिक ध्यान आदि का भान नहीं होता हो, उसका नाम समाधि है। ध्यानकाल में ध्येय से अधिक ध्यान का भी भान होने से अतिव्याप्ति नहीं।

धारणा, ध्यान और समाधि में परस्पर इतना ही भेद समझना चाहिए कि दो घण्टा पर्यन्त ध्येयरूप विषय में चित्तवृत्ति को लगा रखना धारणा, चौबीस घण्टा पर्यन्त एकतान चित्त से ध्येय का चिन्तन करना ध्यान तथा द्वादश दिन पर्यन्त निरन्तर ध्यान को ध्येयाकार कर देना समाधि कही जाती है। यही बात स्कन्दपुराण में भी कही गई है—

धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिकम्।
दिनद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥

अर्थात् 5 नाडिका (घटिका) काल पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति धारणा, 60 नाडिका काल पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति ध्यान तथा द्वादश दिन पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति समाधि कही जाती है। वह बारह दिन पर्यन्त जो चित्तवृत्ति की एकाग्रता रूप समाधि है वह पूर्ण समाधि है।

पतञ्जलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन के साथ माना है। उनके अनुसार जिसमें धारणा की गई हो, उस देश में ध्येय विषयक ज्ञान की एकतानता (अर्थात् सदृश प्रवाह) जो अन्य ज्ञानों से अपरामृष्ट हो, को ध्यान कहा जाता है। सदृश प्रवाह का अभिप्राय यह है कि जिस ध्येय विषयक पहली वृत्ति हो, उसी विषय की दूसरी और उसी विषय की तीसरी हो, ध्येय से अन्य ज्ञान बीच में न हो। पतञ्जलि ने एकाग्रता और निरोध—ये दोनों केवल चित्त के ही माने हैं। गरुड़ पुराण में भी ब्रह्म और आत्मा की चिन्ता को ध्यान कहा गया है।

15.7 जैन और योग में समानता

योगसूत्र में योग के आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है। जैन साधना पद्धति में भी आसन, प्राणायाम, प्रतिसंलीनता, कायोत्सर्ग, भावना, जप, अनुप्रेक्षा, ध्यान, समाधि आदि अनेक अंगों का समावेश संतुलित रूप से किया गया है।

पतञ्जलि ने ध्यान और समाधि—ये दो अंग पृथक् मान्य किए, इसलिए योगदर्शन में ध्यान का रूप बहुत विकसित नहीं हुआ। जैन आचार्यों ने ध्यान को इतने व्यापक अर्थ में स्वीकार किया कि उन्हें उससे पृथक् समाधि को मानने की आवश्यकता ही नहीं हुई। पतञ्जलि की भाषा में जो सम्प्रज्ञात-समाधि है, वही जैन योग की भाषा में शुक्लध्यान का पूर्व चरण है। पतञ्जलि जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं, वह जैन योग में शुक्लध्यान का उत्तर चरण है।

ध्यान से समाधि को पृथक् मानने की परम्परा जैन साधना पद्धति के उत्तरकाल में स्थिर हुई, ऐसा प्रतीत होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि जैनों की ध्यान विषयक मान्यता पतञ्जलि से प्रभावित नहीं है।

15.8 सारांश—निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जैन, बौद्ध और योग अलग-अलग परम्परा है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न मत होते हुए भी ध्यान की महत्ता को समवेत स्वर में स्वीकार करते हैं।

15.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन एवं योग के स्वरूप को बताते हुए दोनों का तुलनात्मक विवेचन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. बौद्ध परम्परा में ध्यान के स्वरूप का विश्लेषण करें।
2. हीनयान में ध्यान का क्या स्वरूप है? स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. महायान में चरम उद्देश्य क्या है?
2. समाधि का अर्थ एकाग्रता किसने किया है?
3. शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा किसका निरसन होता है?
4. लौकिक समाधि के मार्ग को क्या कहते हैं?
5. पातञ्जल योगदर्शन के रचनाकार कौन हैं?
6. धारणा की परिपक्व अवस्था .... कहलाती है।
7. दु:ख का अन्त करने में .... की प्रधानता है।
8. बारह दिन पर्यन्त जो चित्तवृत्ति की एकाग्रता रूप समाधि है वह .... है।
9. ध्यान शतक में चित्त की .... अवस्था को ध्यान कहा गया है।
10. समाधि साधक को .... में ले जाने के लिए प्रधान सहायक है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. बुद्धत्व की प्राप्ति 2. बुद्धघोष ने 3. सर्वमल का 4. शमथयान 5. महर्षि पतञ्जलि
6. ध्यान 7. प्रज्ञा 8. पूर्ण समाधि 9. स्थिर 10. रूपधातु।

लेखिका—समणी मुदितप्रज्ञा

☆☆☆

इकाई–16 : ध्यान के भेद—जैन, बौद्ध एवं योग

संरचना

16.0 प्रस्तावना

भारतीय अध्यात्मवादी परम्पराओं में ध्यान का अस्तित्व प्राचीनकाल से मान्य रहा है। कोई भी आध्यात्मिक विचारधारा ध्यान के बिना अपने साध्य तक पहुंच नहीं सकती। यही कारण है भारत की सभी धार्मिक परम्पराओं ने किसी–न–किसी रूप में ध्यान को महत्त्व दिया है। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में ध्यान को योग का सातवां अंग स्वीकार किया है। तथागत बुद्ध ने भी चैतसिक निर्मलता के लिए ध्यान को अनिवार्य माना है।

16.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से विभिन्न दर्शनों में ध्यान के भेद की जानकारी हो सकेगी।

16.2 जैन परम्परा में ध्यान के भेद

जैनधर्म में ध्यान की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम आचारांग में महावीर ध्यान साधना सम्बन्धी अनेक संदर्भ उपलब्ध होते हैं। आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों में ध्यान के विकीर्ण तत्त्व मिलते हैं। परवर्ती आचार्यों ने तो यहां तक कहा—शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है साधना में वही स्थान ध्यान का है।

ध्यान चित्त की उच्छृंखलता पर एक अंकुश, सत्य के साक्षात्कार की प्रक्रिया तथा आत्मानुशासन को उजागर करने का एकमात्र साधन है। ध्यान एक ऐसा प्रयोग है जो मानव मन को संत्रास, भय, घुटन व तनाव से मुक्ति दे सकता है। शांति के दूसरे साधन क्षणिक शांति दे सकते हैं किन्तु ध्यान से स्थायी शांति प्राप्त की जा सकती है क्योंकि ध्यान आत्मदर्शन की प्रक्रिया है। ध्यान का महत्त्व सभी दर्शनों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। जैनदर्शन जिन्हें ध्यान, बौद्धदर्शन और योगदर्शन में उसके लिए समाधि शब्द बहुप्रचलित है।

16.2.1 ध्यान की परिभाषा

"तत्त्वार्थसूत्र" के अनुसार एकाग्रचित्त तथा शरीर, वाणी और मन का निरोध ध्यान है।

ध्यानशतक में, स्थिर अध्यवसाय को ध्यान कहा गया है।

आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया, शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति ध्यान है।

"जैन सिद्धान्त दीपिका" में आचार्य तुलसी ने लिखा—**"एकाग्रे मनः सन्निवेशनं योग निरोधो वा ध्यानम्"** अर्थात् किसी एक आलम्बन पर मन को स्थापित करने तथा मन, वचन, काय का निरोध करने को ध्यान कहा है। ध्यान के संदर्भ में जैन साहित्य में विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है। जैनागम ध्यान सम्बन्धी तथ्यों के मुख्य स्रोत हैं। इसलिए सर्वप्रथम ध्यान के स्वरूप व प्रकारों के विश्लेषण के लिए हम एक दृष्टि जैन आगमों पर डालेंगे।

16.2.2 ध्यान के प्रकार जैन आगमों की दृष्टि में

उत्तरवर्ती ध्यान सम्बन्धी ग्रन्थों में जैसी स्पष्ट परिभाषाएं देखने को मिलती हैं वैसी आगमों में देखने को नहीं मिलती। उसका कारण यह रहा है कि उस समय अलग से लक्षण अथवा परिभाषा करने की परम्परा नहीं थी। सम्बद्ध वस्तु अथवा अवधारणा के प्रकारों के निर्देश के माध्यम से ही उसका लक्षण निर्देश किया जाता था। अतः जैन आगमों में ध्यान के जिन चार प्रकारों का उल्लेख मिलता है उनके आधार पर कहा जा सकता है कि आगम युग में भी किसी विषय पर चित्त का एकाग्र हो जाना इसी को ध्यान कहा जाता था। जैन आगमों में ध्यान के प्रकारों का बहुत स्पष्टता के साथ में उल्लेख प्राप्त होता है। आगमकालीन ध्यान विभाजन की यह प्राचीन परम्परा उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनाई और वर्तमान में भी ध्यान सम्बन्धी निम्नोक्त विभाजन अपने स्वरूप में यथावत् उपलब्ध होता है।

एकाग्र चिन्तन को ध्यान कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर ध्यान चार प्रकार के होते हैं—
1. आर्त्तध्यान 2. रौद्रध्यान 3. धर्म्यध्यान 4. शुक्लध्यान। इन चार ध्यानों का विस्तृत विवेचन इकाई चार पाठ बारह में आप पढ़ सकते हैं अतः यहां पर मात्र हमने नामोल्लेख ही किया है। क्योंकि प्रस्तुत पाठ का मुख्य ध्येय जैन, बौद्ध, योग इन तीनों की परस्पर तुलना करना है।

16.3 बौद्धदर्शन में ध्यान के भेद

बौद्ध परम्परा में भी ध्यान का उतना ही महत्त्व है जितना की जैन परम्परा में। क्योंकि कोई भी साधना हो, चाहे वह जैन परम्परा की, हो या बौद्ध परम्परा की, ध्यान से पृथक् होकर नहीं की जा सकती। अतः ध्यान बौद्ध साधना का हृदय है। बौद्ध परम्परा के अनुसार चित्त के कारण ही साधक को संसार भ्रमण करना पड़ता है, इसलिए चित्त कुशलों को स्थिर करने के लिए ही ध्यान की महत्ता को स्वीकार किया गया है। जैसा कि कहा गया है—चित्त का अभ्यास ही ध्यान है। अर्थात् किसी एक विषय पर चित्त को स्थिर करना, चिन्तन करना ही ध्यान है। ध्यान का उपयोग लक्ष्य की सिद्धि के लिए किया जाता है। यद्यपि बौद्ध परम्परा में हीनयान तथा महायान के लक्ष्य प्राप्ति में अन्तर है, क्योंकि हीनयान में निर्वाण प्राप्ति कर अर्हत् पद को प्राप्त करना प्रधान उद्देश्य माना जाता है तो महायान का लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। बौद्ध परम्परा में ध्यान और समाधि शब्दों के प्रयोग ही देखने को मिले हैं। ध्यान और समाधि में अन्तर स्पष्ट करते हुए डॉ. भागचन्द्र जैन ने कहा है कि समाधि जहां मात्र कुशल धर्मों से सम्बद्ध है वहीं ध्यान कुशल एवं अकुशल दोनों प्रकार के भावों को ग्रहण करता है अतः समाधि की अपेक्षा ध्यान का क्षेत्र बड़ा है। गहराई से अनुचिन्तन करने पर समाधि और ध्यान दोनों ही शब्द एकार्थक प्रतीत होते हैं।

16.3.1 समाधि की परिभाषा

समाधि का अर्थ है—एकाग्रता। एक आलम्बन पर मन को तथा मानसिक व्यापारों को समानरूप से तथा सम्यक् रूप से लगाना समाधि है। समाधि में विक्षेप समाप्त होते हैं, चित्त एक आलम्बन पर अवस्थित होता है।

16.3.2 ध्यान के प्रकार

अभिधम्म पिटक में ध्यान के पांच प्रकार बताये गए हैं। परन्तु मुख्यतः ध्यान के दो ही प्रकार हैं—रूपावचरध्यान तथा अरूपावचरध्यान।

1. रूपावचर ध्यान—इस ध्यान में रूप आलम्बन के आकार होते हैं।
2. अरूपावचर ध्यान—इसमें रूप का अतिक्रमण कर अरूप को अपने ध्यान का विषय बनाता है।

16.3.3 समाधि के प्रकार

यद्यपि समाधि के अनेक प्रकार हैं किन्तु सब प्रकार की समाधियों का वर्णन किया जाय तो अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती।

मुख्य रूप से समाधि के दो प्रकार हैं—1. लौकिक 2. लोकोत्तर।

1. लौकिक समाधि–काम, रूप और अरूप भूमियों की कुशल चित्त एकाग्रता को लौकिक समाधि कहते हैं। इस लौकिक समाधि के मार्ग को शमथयान कहते हैं।

2. लोकोत्तर समाधि–जो एकाग्रता आर्य मार्ग से संप्रयुक्त होती है उसे लोकोत्तर समाधि कहते हैं। लोकोत्तर समाधि का मार्ग विपश्यनायान कहलाता ह।।

लौकिक समाधि के द्वारा ऋद्धि बल की प्राप्ति होती है पर निर्वाण की प्राप्ति के लिए विपश्यना के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है। इसके बिना अर्हत् पद में प्रतिष्ठा नहीं होती।

विपश्यना एक प्रकार का विशेष ज्ञान है। जिस समय इस ज्ञान का उदय होता है कि सब धर्म अनित्य हैं, दुःखमय हैं तथा अनात्म हैं—उस समय विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है। यहां पर हम विपश्यना का स्वरूप तथा उपचार समाधि, अर्पणा समाधि, शमथयान, कर्मस्थान आदि की चर्चा नहीं कर रहे हैं क्योंकि इनका वर्णन विस्तार से इकाई एक पाठ तीन प्रथम वर्ष के तृतीय पत्र में किया गया है।

16.4 जैन और बौद्ध तुलनात्मक विश्लेषण

ध्यान सम्बन्धी अवधारणा के अध्ययन के पश्चात् जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में जो समानताएं एवं विभिन्नताएं देखने को मिलती हैं, उसे निम्न रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. दोनों ही परम्पराओं में चित्त की एकाग्रता को ही ध्यान माना है।
2. जैन एवं बौद्ध दोनों ने ही ध्यान को मोक्ष प्राप्ति का एक साधन माना है।
3. जहां तक ध्यान के भेद-भेदांगों की बात है तो दोनों ही परम्पराओं में, आचार्यों में मतभेद रहा है जैन परम्परा में किसी ग्रन्थ में ध्यान के चार भेद तो किसी ग्रन्थ में दो भेद मिलते हैं वैसे ही बौद्ध परम्परा के किसी ग्रन्थ में ध्यान के चार भेद हैं तो किसी में पांच। इन विभिन्नताओं का कारण आचार्यों का अपना दृष्टिकोण रहा हो लेकिन सही अर्थों में देखा जाय तो दोनों ही परम्पराओं में ध्यान के मुख्यतः दो भेद हैं—जैन परम्परा के अनुसार प्रशस्त और अप्रशस्त तो बौद्ध परम्परा के अनुसार रूपावचर तथा अरूपावचर।
4. जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में ध्यान की व्याख्या सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की गई है लेकिन जैन परम्परा में जो ध्यान के भेदांग बताये गए हैं उनमें से एक भी बौद्ध परम्परा में देखने को नहीं मिलते। यथा जैन परम्परा में ध्यान के प्रकारों में आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान की चर्चा की गई है, इसी प्रकार ध्येय की अपेक्षा से ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ आदि चार प्रकारों को बताया गया है। बौद्ध परम्परा में इन सब ध्यानों का अभाव-सा प्रतीत होता है परन्तु जैन परम्परा में धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के भेद-प्रभेदों तथा बौद्ध परम्परा के रूपावचर के भेद-प्रभेदों में समानता देखने को मिलती है। जिस प्रकार धर्मध्यान आत्मविकास की प्रथम अवस्था है। जहां तक बौद्ध परम्परा के

अरूपावचर ध्यान का प्रश्न है तो उसकी तुलना जैन परम्परा के रूपातीत ध्यान से की जा सकती है, क्योंकि दोनों पद्धतियों में ही रूप से अतीत होकर निराकार ध्यान किया जाता है।

प्राचीन समय से ही जैन और बौद्ध परम्परा में ध्यान का महत्त्व रहा है। जैन परम्परा में वर्तमान में प्राचीन ध्यानसूत्रों के आधार पर आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रेक्षापद्धति का आविष्कार किया। यह पद्धति मूल में आगमिक होते हुए भी स्वरूप में वैज्ञानिक होने से जनोपयोगी सिद्ध हो रही है।

बौद्ध परम्परा में वर्तमान में जो ध्यान पद्धति चल रही है वह विपश्यना नाम से प्रसिद्ध है। प्रस्तुत प्रसंग में विपश्यना व प्रेक्षाध्यान में मूलभूत क्या साम्यता है तथा क्या अन्तर है इसे हम कुछ अंशों में प्रस्तुत कर रहे हैं।

16.5 दार्शनिक आधार की भिन्नता

प्रेक्षाध्यान का आधार है जैनदर्शन और विपश्यना का आधार है बौद्धदर्शन। बौद्धदर्शन के अनुसार जब अनित्यता, दुःख और अनात्म की चेतना प्रकट होती है तब विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है। जैनदर्शन के अनुसार जब नित्य-अनित्य दोनों का ज्ञान होता है तब प्रेक्षा का अवतरण होता है। जैनदर्शन में कोरा अनित्यवाद मान्य नहीं है। कोरा दुःखवाद मान्य नहीं है। इन आधारों से प्रेक्षाध्यान और विपश्यना के मूल दार्शनिक आधार की भिन्नता प्रकट होती है।

16.5.1 श्वासप्रेक्षा

प्रेक्षा और विपश्यना के कुछ प्रयोग समान हैं। समानता का एक बिन्दु है श्वासप्रेक्षा। श्वास का प्रयोग विपश्यना में भी है, प्रेक्षाध्यान में भी है किन्तु उसकी प्रयोग पद्धति में अन्तर है। विपश्यना में बल दिया जाता है सहज श्वास को देखने पर और प्रेक्षाध्यान में बल दिया जाता है दीर्घश्वास पर।

दूसरा अन्तर है—श्वास संयम का। प्रेक्षाध्यान में श्वास संयम का प्रयोग करवाया जाता है विपश्यना में श्वास संयम का प्रयोग मान्य नहीं है।

16.5.2 आसन

विपश्यना में आसन का निषेध है क्योंकि बौद्ध साधना पद्धति में आसन सम्मत नहीं है। भगवान् महावीर की साधना में आसनों का महत्त्व रहा है। यही कारण है प्रेक्षाध्यान में भी आसन पर बल दिया गया है।

16.5.3 प्राणायाम

विपश्यना में प्राणायाम का कोई स्थान नहीं है जबकि प्रेक्षाध्यान में प्राणायाम का बड़ा महत्त्व है। प्राणायाम प्राण नियंत्रण की प्रक्रिया है। जब तक प्राण पर नियंत्रण नहीं होता तब तक चंचलता पर नियंत्रण नहीं हो सकता।

16.5.4 मौन

विपश्यना में मौन का प्रयोग काफी कड़ाई से करवाया जाता है। प्रेक्षाध्यान में मौन पर का बहुत महत्त्व बताया गया है, पर इतना बल नहीं दिया जाता।

16.5.5 विपश्यना के प्रकार

विपश्यना के कई प्रकार हैं—आनापान सती, काय विपश्यना, धर्मानुपश्यना, वेदनानुपश्यना आदि। किन्तु वर्तमान में विपश्यना का जो क्रम चल रहा है उसमें मुख्य रूप से दो प्रयोग करवाए जाते हैं—आनापान सती अर्थात् श्वास-प्रश्वास को देखना और काय-विपश्यना अर्थात् शरीर को देखना।

16.5.6 प्रेक्षाध्यान के अंग

प्रेक्षाध्यान के अनेक अंग हैं उन सभी अंगों को 12 भागों में बांटा गया है—

कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, श्वासप्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान, अनुप्रेक्षा, विचारप्रेक्षा, ज्योतिकेन्द्र प्रेक्षा आदि। इन सभी अंगों का अभ्यास करवाया जाता है।

16.5.7 चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान और विपश्यना में मूलभूत अन्तर करने वाला एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। यह प्रयोग विपश्यना में नहीं है। शायद इसलिए नहीं है क्योंकि बौद्धदर्शन में आत्मा नाम का कोई तत्त्व नहीं है। उसमें आत्मा को देखने की बात नहीं है। विपश्यना से आत्मदर्शन हो नहीं सकता। आत्मदर्शन के लिए चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा जरूरी है।

16.5.8 कायोत्सर्ग

प्रेक्षाध्यान पद्धति कायोत्सर्ग पर आधारित है। प्रेक्षाध्यान का पहला चरण है—कायोत्सर्ग अर्थात् शरीर को त्यागना और उसका अंतिम बिन्दु है कायोत्सर्ग—काया का निरोध, काया का उत्सर्ग। इसका तात्पर्य है भेद विज्ञान। कायोत्सर्ग से आत्मा भिन्न, शरीर भिन्न इस भेद विज्ञान की अनुभूति की जा सकती है।

विपश्यना की ध्यान पद्धति में कायोत्सर्ग शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। वहां इससे साम्यता रखने वाला 'शवासन' शब्द प्रचलित है। कायोत्सर्ग और शवासन में मूलभूत अंतर यह है कि कायोत्सर्ग मात्र शरीर का शिथिलीकरण नहीं है अपितु शरीर में स्थित चैतन्य के प्रति जागना इसका प्रमुख ध्येय होता है। जबकि शवासन में शरीर का शिथिलीकरण ही प्रमुख लक्ष्य होता है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि प्रेक्षाध्यान एक सर्वांगीण और वैज्ञानिक पद्धति है। यह किसी पद्धति का अनुकरण नहीं है। इसके सारे प्रयोग स्वतंत्र हैं।

16.6 योग दर्शन में ध्यान के भेद

भारतीय साधनाओं में योग साधना और योग साधना के अन्तर्गत ध्यान साधना का महत्त्व विशेष रहा है। योग से चित्त का निरोध होता है और योग से चित्त एकाग्र होता है। चित्त एकाग्र का प्रबलतम एवं उत्कृष्ट साधन है—ध्यान। ध्यान के साधन से मन की चंचलता, अस्थिरता तथा अशांति समाप्त होती है।

जैनदर्शन में जितना ध्यान का महत्त्व है उतना ही योगदर्शन में ध्यान का महत्त्व है।

महर्षि पतंजलि ने ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा—**"तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्"** अर्थात् एक ही ध्येय में एकतानता, चित्तवृत्ति का एकरूप तथा एक रस बने रहना वस्तुत: ध्यान है। चित्त की एकाग्रता के लिए समस्त वृत्तियों का निरोध अपेक्षित है। महर्षि पतंजलि ने कहा—**"योगश्चित्तवृत्ति निरोध:"** अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है।

इन वृत्तियों का निरोध कैसे हो? यह जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि इन वृत्तियों का उद्‌गम कहां से है? वृत्तियों के विषय में योगसूत्र में कहा गया—वृत्तियां संसार में प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न होती हैं। वृत्तियां मुख्य रूप से पांच प्रकार की होती हैं। यथा—1. प्रमाण 2. विपर्यय 3. विकल्प 4. निद्रा 5. स्मृति। इन वृत्तियों के अतिरिक्त पातंजल योगदर्शन में क्लेश के निरोध का वर्णन उल्लिखित हैं। क्लेश के भी पांच भेद किए गए हैं—1. अविद्या 2. अस्मिता 3. राग 4. द्वेष 5. अभिनिवेश।

उपर्युक्त समस्त वृत्तियों और क्लेशों के निरोध के लिए महर्षि पतंजलि ने कहा—**अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध:।** अभ्यास, वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है। वैराग्य से मन बहिर्मुखी होने से रुकता है तथा अभ्यास के माध्यम से वह अन्तर्मुख की ओर अग्रसर होता है। अभ्यास और वैराग्य से ही मन का सारा व्यापार रुक जाता है। ध्यान से ही हम अभ्यास और वैराग्य को साध सकते हैं। वास्तव में मन को

सविषय से निर्विषय बनाना ध्यान की उच्चतम स्थिति है। पतंजलि के अष्टांगयोग में ध्यान को सातवें क्रम में रखा गया है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

अष्टांगयोग में ध्यान से पूर्व धारणा का क्रम बताया गया है, यह भी ठीक है क्योंकि धारणा के बाद ही ध्यान की स्थिति आती है, अतः धारणा को जानना आवश्यक है।

16.6.1 धारणा

चित्त की एकाग्रता के लिए उसे किसी स्थान विशेष पर केन्द्रित करना धारणा है। धारणा का विषय प्रथम स्थूल होता है किन्तु वही क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। जैन आगमों में धारणा का वर्णन स्वतंत्ररूप में नहीं मिलता। यद्यपि उसका उल्लेख ध्यान के एक अंग के रूप में अवश्य हुआ है। धारणा की परिपक्व अवस्था वस्तुतः ध्यान कहलाती है।

16.6.2 ध्यान

ध्यान में ध्येय को देखा जाता है। ध्यान साधना में जिसका भी आलम्बन लिया जाता है वह जब तक मानसिक चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक धारणा की स्थिति चलती है जब आलम्बित का विषय साक्षात् हो जाता है तब धारणा ध्यान की स्थिति में पहुंच जाती है। ध्यान की यह अभ्यास-प्रक्रिया धीरे-धीरे समाधि का रूप धारण करती जाती है जिसमें मन पूर्णरूप से निष्क्रिय हो जाता है, केवल चैतन्य का अनुभव रहता है। समाधियोग साधना की अंतिम अवस्था है। जिसमें आलम्बन के आभास से रहित ध्यान और ध्येय पृथक्-पृथक् भाषित होते हैं।

योगदर्शन के अनुसार समाधि के दो प्रकार—1. संप्रज्ञात समाधि और 2. असंप्रज्ञात समाधि।

16.6.3 सम्प्रज्ञात समाधि

जिस अवस्था में बाह्य विषयक चित्त वृत्तियों का निरोध होता है उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में आत्मविषयक सूक्ष्म चित्तवृत्ति बनी रहती है।

"सम्यक् ज्ञायते प्रकृतेः भेदेन ध्येय स्वरूपं यस्मिन्"

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अवस्था में ध्येय (आत्मा) का ज्ञान सम्यक् प्रकार से होता है उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

16.6.4 संप्रज्ञात समाधि के प्रकार

आलम्बनों की स्थूलता, सूक्ष्मता के आधार पर संप्रज्ञात समाधि को चार भागों में बांटा गया। महर्षि पतंजलिन ने पातंजल योगदर्शन में कहा—"वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।" 1. वितर्कानुगत 2. विचारानुगत 3. आनंदानुगत 4. अस्मितानुगत।

16.6.4.1 वितर्कानुगत

जिस भावना द्वारा ग्राह्यरूप स्थूल विषय जैसे महाभूत चन्द्र, सूर्य, शरीर आदि किसी स्थूल वस्तु पर चित्त को ठहराकर संशय, विपर्यय रहित उसके यथार्थ स्वरूप को सारे विषयों सहित जो पहले कभी न देखे, न सुने, और न अनुमान किये ऐसे विषयों का साक्षात् किया जाय वह वितर्कानुगत समाधि है।

16.6.4.2 विचारानुगत

जब स्थूल विषयों का यथार्थ अनुभव हो जाता है, तब उनमें अनित्य आदि दोष देखने वाली स्थूल आकार वाली दृष्टि को छोड़कर, उन स्थूल पदार्थों के कारण जो अहंकार, महत् तत्त्व, प्रकृतिरूप सूक्ष्म तत्त्व उन स्थूल भूतेन्द्रियों में अनुगत रहते हैं, इसकी भावना करने से और उनमें रहने वाले अश्रुतपूर्व विशेष धर्म की देश, काल, धर्म के अनुसार भवना करने से जो साक्षात्कार होता है, उसी को विचार कहते हैं। जिस समाधि में सूक्ष्म वस्तु तक चित्त का संचार हो उसी को सविचार कहा गया है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो हम

कह सकते हैं कि जिसमें स्थूल पांच भूतों का, पांच तंमात्राओं का यथा शक्तिमात्र इन्द्रियों का यथार्थ रूप, संशय-विपर्यय-रहित सभी विषयों का साक्षात् किया जाय, वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है।

16.6.4.3 आनन्दानुगत

इसमें अहंकार का साक्षात्कार होता है। यह अहंकार का साक्षात्कार अन्य सूक्ष्म विषयों जैसा नहीं होता है, क्योंकि अहंकार तन्मात्राओं तक सारे सूक्ष्म विषयों और उनकों विषय करने वाली ज्ञानेन्द्रियों का स्वयं उपादान कारण है, अहंकार दूसरा विषम परिणाम है, जिसमें सत्त्वगुण की प्रधानता है और सत्त्वगुण में ही आनन्द है। इसलिए इस भूमि में सूक्ष्म शरीर और स्थूल विषयों से परे अहम् अस्मि वृत्ति द्वारा केवल अहंकार के आनन्द का ही अनुभव होता है। यह आनन्द का अनुभव ही आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है।

16.6.4.4 अस्मितानुगत समाधि

चेतन से प्रतिबिम्बित चित्त जिसमें बीजरूप से अहंकार रहता है। अर्थात् जहां पुरुष और चित्त में अभिन्नता आरोपित होती है उसका नाम अस्मिता है। अस्मिता अहंकार का कारण है, इसलिए उससे सूक्ष्मतर है। जब चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ती है कि अस्मिता में धारणा करने से उसका यथार्थ रूप साक्षात् होने लगता है तब उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

ये चारों प्रकार की समाधियां सालम्बन और सबीज भी कहलाती हैं। सालम्बन इसलिए कि ये किसी ध्येय को आलम्बन बनाकर की जाती है। यह आलम्बन ही बीज है इसलिए इसका नाम सबीज समाधि है।

16.6.5 असम्प्रज्ञात समाधि

जिस अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध होता है उसको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

असंप्रज्ञात समाधि को परिभाषित करते हुए पातंजल योगदर्शन में कहा गया—"विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" सभी वृत्तियों के निरोध का कारण जो पर वैराग्य है, उसके पुनःपुनः अनुष्ठान रूप अभ्यास से जो संस्कार शेष रह जाते हैं, वह असंप्रज्ञात समाधि है।

संप्रज्ञात से इसमें यही विशेषता है कि संप्रज्ञात में प्रकृति पुरुष की भिन्नता ख्याति की वृत्ति बनी रहती है इस वृत्ति का भी निरोध नहीं होता किन्तु असंप्रज्ञात समाधि में इस कृति का भी निरोध हो जाता है। इस अवस्था में जो संस्कार शेष रहता है उसका भी निरोध हो जाता है।

इस असंप्रज्ञात समाधि को निर्बीज समाधि भी कहते हैं। क्योंकि इसमें अविद्या आदि क्लेशरूप संस्कार का बीज नहीं रहता।

16.7 जैन व योगदर्शन में ध्यान की साम्यता

साधना पद्धति में ध्यान का सर्वोपरि महत्त्व रहा है। वह हमारी चेतना की ही अवस्था है। ध्यान के बिना कोई भी आध्यात्मिक धारा अपने साध्य तक नहीं पहुंच सकती। यही कारण है जैन, बौद्ध, योग सभी दर्शनों ने ध्यान को महत्त्व दिया है। जैन परम्परा में ध्यान के चार प्रकार माने गए हैं। वहां योगदर्शन में दो प्रकार की समाधि की मान्यता है। प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त है तथा धर्मध्यान के समानान्तर ध्यान विषयक अवधारणा अन्यत्र नहीं देखी जाती है अतः यहां केवल शुक्ल ध्यान से तुलना की जा रही है। पतंजलि ने ध्यान और समाधि—ये दो अंग पृथक् मान्य किए लेकिन जैनदर्शन में ध्यान से पृथक् समाधि को नहीं माना है। जैनदर्शन के अनुसार ध्यान और समाधि एक ही है।

चित्त वृत्ति का स्थिर हो जाना अथवा उसका क्षय हो जाना समाधि है। जैन परम्परा में समाधि शब्द का प्रयोग तो काफी हुआ है, लेकिन समाधि को ध्यान से पृथक् नहीं माना है। जैन परम्परा में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ध्यान में ही समाविष्ट हैं। शुक्ल ध्यान की अवस्थाएं समाधि के तुल्य हैं। समाधि के दो विभाग किये गए हैं—संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात। उपाध्याय यशोविजयजी ने हरिभद्रसूरिकृत योग बिन्दु के आधार पर

शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों की अर्थात् पृथक्त्व वितर्क सविचारी, एकत्व वितर्क अविचारी की तुलना संप्रज्ञात समाधि से की है। संप्रज्ञात समाधि के चार प्रकार हैं—1. वितर्कानुगत 2. विचारानुगत 3. आनन्दानुगत 4. अस्मितानुगत। शुक्लध्यान के सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति, समुच्छिन्न क्रिय-अप्रतिपाति—इन दो चरणों की तुलना असंप्रज्ञात समाधि से की है।

पतंजलि की भाषा में जो संप्रज्ञात समाधि है वही जैनयोग की भाषा में शुक्लध्यान का पूर्व चरण है पतंजलि जिसे असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं, वह जैन योग में शुक्लध्यान का उत्तर चरण है।

इस प्रकार जैन एवं योग दोनों परम्परा में ध्यान के स्वरूप में कुछ अंशों में साम्यता प्रतीत होती है।

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं ध्यान के महत्त्व को सभी विचारधाराओं में स्वीकार किया गया है।

जैनदर्शन में जिसे ध्यान कहा गया उसी को बौद्धदर्शन व योगदर्शन में समाधि कहा गया।

शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों में आए हुए वितर्क और विचार शब्द योगदर्शन और बौद्ध की ध्यान पद्धतियों में भी समान रूप से मिलते हैं। जैन साहित्य के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतज्ञान और विचार का अर्थ संक्रमण है। योगदर्शन के अनुसार वितर्क का अर्थ स्थूलभूतों का साक्षात्कार और विचार का अर्थ सूक्ष्मभूतों और तन्मात्राओं का साक्षात्कार है। बौद्ध दर्शन के अनुसार वितर्क का अर्थ है—आलम्बन में स्थिर होना और विकल्प का अर्थ है उस आलम्बन में एक रस हो जाना।

16.8 सारांश– प्रस्तुत पत्र में हमने जैन, बौद्ध, योग तीनों दर्शनों में ध्यान के भेदों का अति संक्षेप में विश्लेषण किया है।

16.9 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन व बौद्धदर्शन में ध्यान सम्बन्धी क्या साम्यता है तथा क्या विषमता है, तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत करें?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

क. योगदर्शन में ध्यान का स्वरूप क्या है?

ख. जैन व योगदर्शन में ध्यान के विषय में क्या साम्यता है?

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें।

1. ध्यान के .... प्रकार हैं।
2. बौद्धदर्शन के अनुसार समाधि के मुख्य .... प्रकार हैं।
3. योगदर्शन के अनुसार समाधि के .... प्रकार हैं।
4. संप्रज्ञात समाधि योगदर्शन में .... समाधि है।
5. संप्रज्ञात समाधि के .... प्रकार हैं।
6. जिस अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध होता है उसको .... कहते हैं।
7. महायान का लक्ष्य है ....।
8. अभिधम्म पिटक में ध्यान के .... प्रकार हैं।
9. एकाग्र चिन्तन को क्या कहा जाता है? 10. समाधि का क्या अर्थ है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. चार	2. दो (लौकिक, लोकोत्तर)	3. दो (संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात)	4. सबीज समाधि
5. चार	6. असंप्रज्ञात समाधि	7. बुद्धत्व की प्राप्ति	8. पांच
9. ध्यान		10. एकाग्रता।	

इकाई–17 : कर्म, ज्ञान तथा भक्ति—जैनदृष्टि एवं गीता

संरचना

17.0 प्रस्तावना

श्रीमद्भगवतगीता वेदव्यास विरचित है। इसमें मोक्ष प्राप्ति के तीन साधन बताए गये हैं—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। सारे कर्मों को प्रभु चरण में अर्पित करना, अपने कर्त्तापन के अहंकार से रहित होना, केवल भगवदर्थ कर्म करना, कर्मफल का परित्याग करना कर्मयोग है। भगवदर्थ कर्म करते-करते प्रभु शरणागति की प्राप्ति होती है। चित्त की पवित्रता सिद्ध होती है। मन परम शान्त एवं निर्मल हो जाता है। उस अवस्था में शास्त्र का श्रवण, मनन आदि करते-करते ज्ञानी प्रभु का अपरोक्ष (साक्षात्) ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

17.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से कर्म, ज्ञान, भक्ति का सम्यक ज्ञान हो सकेगा।

17.2 कर्म

कर्म शब्द का अर्थ

कृञ् करणे धातु से मनिन् प्रत्यय करने पर कर्म (कर्मन्) शब्द बनता है। कृत्य, कार्य, करणीय, कार्यान्वियन कर्त्तव्य, व्यवसाय आदि कर्म शब्द के अर्थ हैं। गीता में जीव की समस्त क्रियाओं को कर्म कहा गया है। बालगंगाधर तिलक ने गीतारहस्य में लिखा है "जीव द्वारा प्रतिक्षण होने वाले क्रियाकलाप तो कर्म हैं ही, साथ ही जिन व्यापारों को न करने के मानसिक संकल्प जीव में प्रादुर्भूत होते हैं। जीव के वे मानसिक संकल्प भी कर्म हैं।"

गीता के अनुसार अव्यक्त प्रकृति एवं उससे उत्पन्न गुणों से ही कर्म संभव होते हैं, अज्ञान और मिथ्याभिमान से मनुष्य अपने आपको कर्त्ता मानता है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥ **(गीता 3.27)**

अर्थात् सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी मैं कर्त्ता हूं, ऐसा मानता है। अठारहवें अध्याय में कर्मों की सिद्धि में पांच कारण बताए गए हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥ (18.14)

अर्थात् अधिष्ठान, कर्त्ता, विभिन्न प्रकार के कारण, नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएं और दैव आदि पांच सभी कर्मों के हेतु हैं। अधिष्ठान का अर्थ इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख और ज्ञानादि की अभिव्यक्ति का आश्रय शरीर है। उपाधि स्वरूप भोक्ता जीव को कर्त्ता कहा जाता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण शब्दादि विषयों को ग्रहण करने वाले क्षेत्रादि अलग-अलग करण हैं। नाना प्रकार के श्वास-प्रश्वास आदि अलग-अलग वायु सम्बन्धी क्रियाएं ही चेष्टाएं हैं और पांचवां दैव है।

17.2.1 कर्म की द्विविधता

गीताकार ने शुभकर्म और अशुभकर्म के रूप से कर्मों को द्वैविध्यता का निर्देश किया है। कर्मफल वासना युक्त अथवा रागादि आसक्ति से युक्त कर्म अशुभकर्म है जो संसार परिभ्रमण का कारण बनता है। जीव जन्म, जरा, मरणरूप दुःखों को बार-बार प्राप्त करता है। कर्म का दूसरा रूप है अनासक्तिपूर्वक सभी करणीय का निष्पादन। इसी को गीता की भाषा में कर्मयोग कहते हैं।

17.2.2 कर्म की त्रिविधता

गीताकार ने एक स्थल (4.18) पर तीन प्रकार के कर्मों का निर्देश किया है—कर्म, विकर्म और अकर्म। देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि का श्रुति, स्मृतिरूप शास्त्र विहित व्यापार का नाम कर्म है। शास्त्रनिषिद्ध व्यापार का नाम विकर्म है। यह कर्म-विकर्म रूप कर्म वस्तुतः देह और इन्द्रियादि में ही रहता है। असंग आत्मा में कोई कर्म नहीं रहता तो भी वह व्यापार रूप कर्म 'मैं करता हूं'—ऐसा सबको अनुभव होता है। अर्थात् सब अपने को कर्त्ता मानते हैं। आत्मा में कर्म आरोपित है, वस्तुतः आत्मा अकर्त्ता है—इस प्रकार विचार कर आत्मा में कर्म का अभाव देखना ही कर्म में अकर्म देखना है।

17.2.3 कर्मयोग

गीताकार ने कर्म की आवश्यकता पर बल दिया है। कर्म के बिना एक क्षण भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता है—

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गी. 3/5)

अर्थात् निसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता है। क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य होता है।

फल और आसक्ति को त्यागकर केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम 'निष्काम कर्मयोग' है इसी को समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म, मत्कर्म इत्यादि नामों से कहा जाता है। सबसे पहले फल की कामना को छोड़कर केवल कर्त्तव्यबुद्धि से निष्काम कर्म किया जाता है, जिससे सिद्धि-असिद्धि दोनों में कर्त्ता समान रहता है, परन्तु कर्म का त्याग कदापि नहीं करता है। (गी. 247-48, 6.1) निष्काम कर्म करने से किंचित् चित्त शुद्ध होने पर साधक यह समझने लगता है कि प्राणिगण स्वतंत्र न होकर एक ही विराट् विश्व के भिन्न-भिन्न अंग हैं। इसलिए उन सभी को परस्पर सहायता की अपेक्षा है। (गी. 3.10) श्री भगवान् स्वयं भी विश्वहितार्थ निष्कामभाव से कर्म कर रहे हैं। (गी. 3.23-24) इस समय से साधक स्वार्थ परायणता को ईश्वरीय भावना के विरुद्ध समझकर लोकहितार्थ कर्म करना प्रारम्भ कर देता है। (गी. 3.20, 25) उचित पात्र को दान, रोगी-चिकित्सा प्रबन्ध, दीन-दरिद्र पोषण आदि सब इनके अन्तर्गत हैं। इस अवस्था में साधक के मन में मान-बड़ाई आदि से युक्त वासना जागृत होने लगती है। सूक्ष्म वासनाओं के आने से कर्म बन्धन हो जाता है।

इसलिए कर्म को यज्ञ की भांति किया जाता है भक्तिभाव से ईश्वरीय-कृत्य समझकर साधक कृत्य में संलग्न हो जाता है। भक्तिभाव से किये जाने पर उस यज्ञरूप कर्म के फल को भगवान् सृष्टिहित में संयोजित कर देते हैं।

17.2.4 कर्म प्रभु को समर्पित

कर्म भगवान् के निमित्त किया जाता है। आगे की अवस्था साधक फल की जगह पर स्वयं कर्म को ही समर्पित करता है। आशा और ममता से उपरत होकर केवल कर्त्तव्य करता है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ (गी. 3.30)

अर्थात् हे अर्जुन! मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममता रहित और संतापरहित होकर युद्ध करो। इस अवस्था में भगवान् ही परम लक्ष्य बन जाते हैं, जिनको प्रेमपूरित हृदय से परिपूर्ण सेवा द्वारा प्राप्त करना ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य बन जाता है। (गी.

11.55) इस स्थिति में साधक अपने गृह, परिवार, वैभव, शरीर, मन, बुद्धि और क्रियाशक्ति आदि के साथ दृश्य मात्र को भी भगवान् की वस्तु मानता है और केवल उन्हीं के निमित्त उन सबका व्यवहार करता है। स्वार्थ के लिए उसको कुछ नहीं होता है। प्रत्येक कर्म करते समय वह इस भाव को ध्यान में रखकर ईश्वर का स्मरण करता रहता है। वह प्रत्येक कर्म—यहां तक परिवारादि की भोजन व्यवस्था भी भगवत्कर्म समझकर ही करता है। इसी तरह लोकहित के लिए यज्ञ, दान, तप आदि भगवत्कृत्य समझकर ही करता है (गी. 9. 27) क्योंकि वह जानता है कि धर्म की रक्षा करना भगवान् का सर्वप्रिय एवं सर्वप्रमुख कार्य है। इसी के लिए वे बार-बार अवतार लेते हैं। इस कर्मार्पण भाव से कर्म करने पर नित्य-व्यवहार के सभी स्वाभाविक कर्म भगवान् की पूजा स्वरूप हो जाते हैं। (गी. 18-45-46, 56)

17.2.5 निष्काम कर्म योगी का स्वरूप

निष्कर्म का कर्त्ता भगवत्परायण एवं समबुद्धि होता है। (गी. 18.57) इस अवस्था में ऊंच-नीच का कोई भेदभाव उसके मन में नहीं रहता है। सबको भगवान् का अंश समझता है। इसलिए वह लोकहित को सर्वश्रेष्ठ समझकर इसमें अधिक प्रवृत्त होता है। इस भाव से कर्म करने पर वह विपरीत परिस्थितियों में बंधता नहीं है, कर्मार्पण भाव के कारण वह पाप का भागी नहीं बनता है। वह समझता है कि उसमें जो क्रिया आदि शक्तियां हैं वे भी भगवान् की ही हैं।(7.12)वह कर्म करने में केवल निमित्त मात्र होता है।(गी. 11.33)

17.2.6 कर्मफल त्याग

गीता का कर्मफल त्याग से सम्बन्धित है। कर्मफलत्याग या अनासक्तकर्म ही कर्मयोग है। यह कर्मफल त्याग केवल सामान्य कर्मों का ही परित्याग नहीं है अपितु मोक्ष तक का त्याग काम्य है। इसीलिए गीता के अंतिम अध्याय का नाम 'मोक्षसंन्यास योग' है। मोक्ष प्राप्ति के समय भक्त प्राप्त मोक्ष का परित्याग कर भगवत्सेवा में ही रमण करता है। इसी अवस्था में भक्त को परमभक्ति की प्राप्ति होती है।

17.3 जैन कर्म सिद्धान्त

सामान्य रूप से जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। जैनदर्शन के अनुसार कर्म एक वस्तुभूत (पौद्गलिक) पदार्थ है, जो राग-द्वेष युक्त जीव की क्रिया वशात् जीव में मिल जाता है। यह कर्म यद्यपि भौतिक है फिर भी जीव की क्रिया (कर्म) के द्वारा आकृष्ट होकर वह जीव से बंधता है इसलिए उसे कर्म कहते हैं। राग-द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया के साथ एक द्रव्य जीव में आता है, जो उसके राग-द्वेष रूप भावों को निमित्त पाकर जीव से बंध जाता है और आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है। आत्मा की सत् असत् प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट कर्म प्रायोग्य पुद्गल कर्म है। वे चतुस्पर्शी और अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध हैं। (जै.सि.दी. 4.1)

उपर्युक्त तथ्यों से जैनकर्म सिद्धान्त विषयक निम्नलिखित पांच धारणाएं उभरकर सामने आती हैं—

1. कर्म आत्मिक नहीं है, पौद्गलिक है।
2. कर्म के लिए सभी प्रकार के पुद्गल काम में नहीं आते। कर्म परमाणुओं की अलग वर्गणा श्रेणी है।
3. कर्म परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म एवं चतुःस्पर्शी होते हैं।
4. कर्म-प्रायोग्य पुद्गल ही कर्म रूप में परिणत होते हैं।
5. कर्म अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है।
6. कर्म जीवात्मा के आवरण, परतंत्रता और दुःखों का कारण है।

17.3.1 कर्म बन्ध

जीव अपनी शुभ-अशुभ प्रवृत्तिवशात् कर्म पुद्गलों को आकर्षित करता है। अपने साथ सम्बन्ध बना लेता है। आत्मा के प्रदेश पर अनन्त-अनन्त परमाणु स्कन्ध बैठ जाते हैं, परस्पर मिल जाते हैं। कर्म परमाणुओं

एवं आत्मा के साथ सम्मिलन को ही कर्मबन्ध कहते हैं। अमूर्त आत्मा को मूर्त्त पुद्गल प्रभावित करते हैं। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा विशेष सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इसलिए उनका जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कर्मबन्ध के चार प्रकार हैं—प्रदेशबन्ध, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबंध और अनुभागबन्ध। आत्मप्रदेशों के साथ कर्मपुद्गलों का जुड़ना और एकीभाव को प्राप्त होना प्रदेशबन्ध है। स्वभाव का निर्माण प्रकृति बन्ध है। कोई कर्म कितने समय आत्मा के साथ रहेगा और कब अपना विपाक (फल) देगा, इस स्थिति का निर्धारण स्थितिबन्ध है। कर्म किस प्रकार का फल देगा, आत्मा को तीव्र या मन्दरूप से प्रभावित करेगा इसका निर्धारण अनुभाग बन्ध है।

17.3.2 कर्म के भेद

स्वभाव के अनुसार कर्म के आठ प्रकार माने जाते हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय।

उपर्युक्त कर्मों में से चार—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय ये घात्य कर्म कहलाते हैं। ज्ञान और दर्शन आत्मा का स्वरूप है। आत्मा के स्वरूप को आच्छादित करने वाले कर्म पुद्गलों को क्रमशः ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। आत्मा को विकृत करने वाले कर्मपुद्गल मोहनीय एवं आत्मशक्ति को बाधित करने वाले, घात करने वाले कर्म पुद्गलों को अन्तराय कर्म कहते हैं। ये चारों घात्य कर्म एकान्त रूप से अशुभ हैं। इनके क्षय के लिए आत्मा को जीवन पर्यन्त कठोर संघर्ष करना पड़ता है। जैसे-जैसे ये आवरक कम होते जाते हैं वैसे-वैसे आत्मिक शक्ति का विकास होता रहता है। इनके पूर्णतया समाप्त हो जाने पर आत्मा में उसका मूल स्वरूप—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्तवीर्य आदि प्रकट हो जाते हैं।

शेष चार कर्म वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य अघात्य कर्म के नाम से जाने जाते हैं। ये शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। अशुभ कर्म अनिष्ट एवं शुभ कर्म इष्ट के साधक होते हैं। जो कर्म पुद्गल सुख और दुःख के निमित्त बनते हैं, वे वेदनीय कर्म हैं। वेदनीय कर्म दो प्रकार के हैं—सात वेदनीय और असातवेदनीय। इनके उदय से क्रमशः सुख और दुःख की अनुभूति होती है। इनके सम्पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाने पर आत्मा में अनन्त-अनन्त आनन्द प्रकट हो जाता है। जो कर्म-पुद्गल जीव के शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष-अपकर्ष के कारण बनते हैं वे नाम कर्म हैं। जो कर्म पुद्गल जीव के लिए कुल-जाति की दृष्टि से उत्कर्ष-अपकर्ष साधते हैं वे गोत्र कर्म हैं। जो कर्म पुद्गल अमुक समय तक अमुक प्रकार के जीवन के निमित्त बनते हैं, वे आयुष्यकर्म कहलाते हैं। आयुष्य कर्म के क्षय होने से आत्मा अजर-अमर बन जाती है।

17.3.3 कर्म की अवस्थाएं

मुख्य रूप से कर्म की तीन अवस्थाएं हैं—बध्यमान, सत्ता और उदीयमान। जीवात्मा के साथ कर्म पुद्गलों का जब संश्लेष होता है वह बध्यमान अवस्था है। कर्मबन्ध होते ही उसका परिणाम चालू नहीं होता है, कुछ समय के लिए उसका परिपाक होता है। यह परिपाक काल सत्ता है। परिपाक के पश्चात् सुख-दुःख रूप फल मिलता है। यह अवस्था उदीयमान अवस्था है।

17.3.4 कर्मफल मुक्ति

जैनदर्शन के अनुसार स्वकृत कर्म का फल स्वयं को भोगना पड़ता है। अपनी सतत् जागृति और पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति कर्म के फल को बदल भी देता है। पुरुषार्थ रूप दीपक के प्रज्ज्वलित होते ही कर्मरूप अन्धकार सहसा विलीन हो जाते हैं। गुप्ति, समिति, तप, परीषह जय, चारित्र आदि कर्ममुक्ति के साधन बताये गये हैं। जैनदर्शन में इनकी विस्तार से चर्चा की गई है।

17.4 गीता और जैन कर्म-सिद्धान्त की तुलना

1. गीता और जैनदर्शन में कर्म शब्द प्रायः समानार्थक रूप में प्रयुक्त हैं। दोनों स्थलों पर क्रिया को कर्म कहा गया है।
2. गीताकार ने कर्म के दो रूप बताएं हैं—प्रथम संसारबुद्धि अर्थात् राग-द्वेष से भावित होकर कर्म करना तथा द्वितीय ईश्वर के निमित्त कर्म करना। सारे कर्म ईश्वर को अर्पण करना। सांसारिक कर्म बन्धन करते हैं लेकिन ईश्वरार्पित कर्म मुक्ति के साधन बन जाते हैं। जैनदर्शन में ईश्वरार्पण नहीं है। वहां पर सभी कर्मों को बन्ध का कारण माना गया है।
3. गीता ईश्वरवाद पर आधारित है। ईश्वर पूर्ण स्वतंत्र, सर्वसमर्थ, सृष्टि का उत्पादक, पालन और संहारकर्त्ता है। जीव केवल कर्म करने का अधिकारी है, उसमें ईश्वर की प्रेरणा ही कारण बनती है। फल देने वाला ईश्वर है। जैन कर्म सिद्धान्त में प्रेरणा या फल का अधिकार ईश्वर को नहीं है। जीव स्वयं के राग-द्वेष वशात् कर्म करता है तथा दुःख सुख रूप फल को भोगता है।
4. जैनदर्शन के अनुसार सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने के बाद ही मुक्ति संभव है लेकिन गीताकार की दृष्टि में निष्काम कर्मयोग या मदर्थकर्म के द्वारा ही साधक (भक्त) प्रभु को प्राप्त कर लेता है।
5. जैनदर्शन में मोक्ष को श्रेष्ठ माना गया है लेकिन गीता की दृष्टि में भक्त मोक्ष का भी परित्याग कर ईश्वर भक्ति अथवा ईश्वर सेवा करते रहना चाहता है।
6. जैनदर्शन में कर्म-सिद्धान्त का विस्तार से वर्णन है वैसा गीता में नहीं है।
7. दोनों में प्रमुख भेद यह है कि गीता का कर्म ईश्वरार्पित है, जैनदृष्टि में आत्मार्पित है।
8. निष्काम कर्मयोगी भगवत्पारायण होकर कर्म करता है। इस दृष्टि से जैनदर्शन में भगवान् और ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है।

17.5 ज्ञान

गीता में मोक्ष प्राप्ति के दो मार्ग प्ररूपित हैं—ज्ञान मार्ग और कर्ममार्ग। यहां पर निष्ठा शब्द मार्ग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञानी लोग ज्ञानयोग (ज्ञाननिष्ठा) और योगीजन निष्काम कर्मयोग से मोक्ष अथवा दुःख मुक्ति को प्राप्त करते हैं। भगवान् कृष्ण ने कहा है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गी. 3.3)

अर्थात् हे निष्पाप! इस संसार में दो प्रकार की निष्ठा (साधन) मेरे द्वारा पहले ही कही गयी हैं। उनमें से सांख्ययोगियों की निष्ठा ज्ञान योग से और योगियों की निष्ठा कर्मयोग से होती है।

17.5.1 ज्ञान का स्वरूप

मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा सम्पन्न होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्त्तापन के अभिमान से रहित होकर सच्चिदानन्द घन परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहने का नाम है ज्ञानयोग। ज्ञानयोग को ही संन्यास, सांख्ययोग एवं ज्ञाननिष्ठा कहते हैं। गीताकार ने ज्ञान की परिभाषा देते हुए लिखा है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ (गी. 13/2)

अर्थात् हे अर्जुन! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अर्थात् विकार सहित प्रकृति और पुरुष को तत्त्व से जानना है, वह ज्ञान है ऐसा मेरा मत है।

17.5.2 ज्ञेय विमर्श

गीता के अनुसार सांख्य योग अथवा ज्ञानयोग की दृष्टि में (ज्ञाननिष्ठा में) विज्ञानानन्द घन संकल्प के आधार पर एक अंश में संसार की प्रतीति होती है, जैसे निर्मल आकाश के किसी एक अंश में बादल की। भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नसिदुच्यते॥ (गी. 13.12)

अर्थात् जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर परमानन्द को प्राप्त होता है, उसको भलीभांति कहूंगा। वह अनादिमान ब्रह्म न सत् ही कहा जा सकता न असत् ही कहा जा सकता है। वह अनिर्वचनीय है। वह संसार रूप में सबको व्याप्त कर स्थित है। (सममावृत्य तिष्ठति 13.13) वह सभी इन्द्रियों के विषय को जानने वाला होकर भी इन्द्रिय-विषयों से रहित है। आसक्ति रहित होने पर भी सबको धारण पोषण करने वाला है। निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है। (13.14) वह सभी चराचर जीवों के बाहर और भीतर व्याप्त है। वह चर-अचर रूप है। सूक्ष्म होने से साधारण मनुष्यों के ज्ञान का विषय नहीं बनता है। (13.15) वह अविभक्त (एकरूप) होते हुए भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में विभक्त सा प्रतीत होता है। वह परमात्मा विष्णु रुप से संसार को धारण करने वाला, ब्रह्मरूप से सृजन करने वाला तथा रुद्ररूप से संहार करने वाला है। (13. 16) वह परमब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति है और माया से अत्यन्त परे है। वह ज्ञान (बोध स्वरूप), ज्ञेय (जानने योग्य) और ज्ञानगम्य (तत्त्वज्ञान से प्राप्त करने योग्य) है। सबके हृदय में विशेष रूप से स्थित है। (13-17) उसका कभी अभाव नहीं होता है। इसलिए उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं। वह सीमा रहित, अपार और अनन्त है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो कुछ भी है, सब ब्रह्मस्वरूप ही है।

17.5.3 लक्ष्य

वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा पूर्णानिन्दं, अपार आनन्द, शान्तानन्द, घनानन्द, बोधस्वरूपानन्द, ज्ञानस्वरूपानन्द, परमानन्द, नित्यानन्द, चेतनानन्द एवं केवलानन्द स्वरूप है। एक आनन्द के सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मनन करते-करते जब मन के समस्त संकल्प परमात्मा में लीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप आनन्द परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के भी अस्तित्व विषयक संकल्प का सर्वथा अभाव हो जाता है। उस समय ज्ञानी की बुद्धि परमात्मा में एकनिष्ठरूप हो जाती है। इस प्रकार के ध्यान का नित्य नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होने पर जब साधक के ज्ञान में उसकी अपनी तथा इस संसार की सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं रहती, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता है। साधक ज्ञान द्वारा पापरहित होकर परमगति को प्राप्त कर लेता है—

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञान निर्धूतकल्मषाः। (गी. 5-17)

ज्ञानी साधक, इस काल में सम्पूर्ण संसार में प्रभु को ही देखता है। स्वयं प्रभु को प्राप्त कर कृत्कृत्य हो जाता है—

मदभक्त एतद्विज्ञाय मद्‌भावायोपपद्यते। (13/18)

अर्थात् ज्ञानी भक्त तत्त्व को जानकर मेरे स्वरूप (परमात्म स्वरूप) को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान से परमशान्ति की प्राप्ति होती है—**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ (गी. 4.39)**

17.5.4 ज्ञान के साधन

गीताकार ने ज्ञान के अनेक साधनों का निर्देश दिया है। तेरहवें अध्याय में ज्ञान के साधनों की विस्तृत चर्चा की गई है। गीताकार कहते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मनिग्रहः॥ (13/7)

अर्थात् अमानित्व (श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव), अदम्भित्व (दम्भाचरण का अभाव), अहिंसा क्षांति, (क्षमाभाव), आर्जव (मन-वाणी की सरलता), आचार्योपासन (श्रद्धाभक्तिपूर्वक गुरु की सेवा), शौच (बाहर-भीतर की शुद्धि), स्थैर्य (अन्तःकरण की स्थिरता) और आत्म निग्रह (मन एवं इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह) आदि ज्ञान के साधन हैं। साधक में इन गुणों का होना अनिवार्य है। गीताकार आगे कहते हैं—इस लोक और परलोक में सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोगादि दुःख और दोषों का बार-बार विचार करना, पुत्र, स्त्री आदि में आसक्ति का अभाव, ममत्व का अभाव, प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त को समभाव में रखना, परमेश्वर में अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त में शुद्ध रहने वाला स्वभाव, विषयासक्त पुरुषों में अरति, अध्यात्म ज्ञान में नित्यस्थिति तथा तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना ज्ञान के साधन हैं। (गी. 13/8-11)

17.5.5 ज्ञानयोग और कर्मयोग

गीताकार ने ज्ञानयोग और कर्मयोग को अलग-अलग नहीं माना है। साधक के स्वरूप के आधार पर गन्तव्य की ओर जाने के ये दो मार्ग प्ररूपित हैं। अर्जुन शंका करता है कि कभी आप कर्मसंन्यास (ज्ञानयोग) तो कभी कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। जो उत्कृष्ट हो उसी का उपदेश मेरे लिए कीजिए। इस पर भगवान् कहते हैं—सांख्ययोग (ज्ञानयोग) और कर्मयोग मूर्ख लोग पृथक्-पृथक् मानते हैं। पण्डित लोग दोनों में से किसी एक का आश्रयण कर परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। (गी. 5-4) ज्ञानीजन ज्ञान के द्वारा जिस परमधाम को प्राप्त करते हैं, कर्मयोगी निष्काम कर्म के द्वारा ही उसे उपलब्ध कर लेते हैं। इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है वही यथार्थ देखता है। तात्पर्य है कि ज्ञान एवं कर्म दोनों एक ही गन्तव्य तक जाने के लिए दो मार्ग हैं। मार्ग की भिन्नता होते हुए भी प्राप्तव्य दोनों का एक ही है। इसलिए ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों श्रेष्ठ साधन हैं।

17.5.6 साधक का स्वरूप

ज्ञानयोग का उपासक कैसा होना चाहिए, उसकी प्रकृति कैसी होती है—आदि का गीता में विस्तार से वर्णन मिलता है। ज्ञानयोगी अन्तःकरण को वशीभूत रखने वाला, न कर्म करता हुआ, न करवाता हुआ, नवद्वार वाले शरीर रूप घर में सभी कर्मों का मन से त्याग कर सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में स्थिर रहता है। (गी. 5.13) ज्ञानी साधक विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समदर्शी रहते हैं। उनका मन समभाव में स्थित रहता है। वे प्रिय-अप्रिय दोनों अवस्थाओं में स्थित रहते हैं। (5.20) आसक्ति रहित होकर सात्त्विक का अनुभव करते हुए परब्रह्म परमात्मा के ध्यानरूप योग में स्थित ज्ञानी पुरुष शीघ्र ही अक्षय सुख को प्राप्त कर लेते हैं। (गी. 5.21)

17.5.7 जैनदर्शन में ज्ञान का स्वरूप

जिससे जाना जाए या केवल जानना मात्र ज्ञान है। जिससे यथार्थ रूप से वस्तु का ज्ञान हो जाए वह ज्ञान है। ज्ञान पदार्थ के विशेष धर्मों का ज्ञाता होता है। अतः उसे साकार उपयोग कहते हैं। जो भेदात्मक होता है वह साकार उपयोग है। जैनदर्शन की भाषा में भेदात्मक प्रतीति ज्ञान है। ज्ञान के पांच भेद माने गए हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान। (तत्त्वा.1/9)

मनन एवं मस्तिष्क का ज्ञान मतिज्ञान है। जो वर्तमान विषयक होता है वह मतिज्ञान है। मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि पर्यायार्थक हैं। (तत्त्वा. सू. 1.13) मति इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) पूर्वक होता है। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि मतिज्ञान के चार भेद होते हैं।

श्रुत के सहयोग से मन और इन्द्रियां जो ज्ञान प्राप्त करती हैं, वह श्रुतज्ञान है। यह मतिपूर्वक होता है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप से श्रुतज्ञान के दो भेद हैं। इनमें अंगबाह्य श्रुत उत्कालिक-कालिक भेद से अनेक प्रकार का है। अंगप्रविष्ट श्रुत के आचारांगादि बारह भेद हैं। (तत्त्वा. सू. 1.12) मतिज्ञान स्वयं के लिए होता है, श्रुतज्ञान स्वयं और पर दोनों के लिए होता है। अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुतादि के भेद से श्रुतज्ञान के अन्य चौदह भेद भी हैं। (प्रवचन पाथेय, आ. तुलसी, पृष्ठ 182)

अवधानपूर्वक किए जाने वाले ज्ञान को अवधि ज्ञान माना जाता है। एकाग्रचित्त होने से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अवधि ज्ञान है। (प्र.पा.पृ.186) यह दो प्रकार का होता है—भव प्रत्यय नारक और देवों को होता है। गुण प्रत्यय (क्षयोपशमजन्य) अवधि तिर्यञ्च और मनुष्यों को होता है। (तत्त्वार्थसूत्र) गुण प्रत्यय अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाति, अप्रतिपाति आदि छः भेद हैं। (प्र.पा.पृष्ठ 189)

मनोवर्गणा के अनुसार मानसिक अवस्थाओं का जो ज्ञान होता है उसे मनःपर्यव (पर्याय) ज्ञान कहते हैं। ऋजुमति और विपुलमति भेद से मनःपर्याय ज्ञान दो प्रकार का होता है। त.सू. (1.24) जिस ज्ञान से समस्त रूपी अरूपी दृश्यों और उनकी पर्यायों का साक्षात् बोध होता है उसे केवलज्ञान कहा जाता है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान है।

उपर्युक्त को प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदों में रखा जाता है। मति और श्रुत परोक्ष में तथा अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखे जाते है। तीन प्रकार के अज्ञान का भी निरूपण किया गया है—मति-अज्ञान (कुमति), श्रुत-अज्ञान (कुश्रुत) तथा विभंग अज्ञान।

17.5.8 ज्ञेय

जैनदर्शन की के अनुसार ज्ञेय व्यवहार की दृष्टि में ज्ञेय समस्त पदार्थ हैं लेकिन निश्चयनय के अनुसार केवल शुद्ध आत्मा है। साधक निज स्वरूप को जानने के लिए ही सम्पूर्ण यात्रा करता है या यह भी कह सकते हैं कि उसकी सारी क्रियाएं आत्मज्ञान परक ही होती है। शुद्ध आत्मा की प्राप्ति ही सबका लक्ष्य होता है। वह आत्मा ज्ञान स्वरूप, निरंजन, शुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला होता है। वह वाणी के द्वारा प्राप्य नहीं है। तर्क से उसका अवबोध नहीं हो सकता है। वह शुक्ल, नीलादि रंग से रहित, स्पर्श, रूपादि से रहित है। वह विज्ञाता है, क्षेत्रज्ञ है, अनुपमेय है। स्त्री, पुरुष और नपुंसकादि लिंगों से रहित है।

17.5.9 तुलना

1. दोनों परम्पराओं—गीता और जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान के स्वरूप में भिन्नता भी है और अभिन्नता भी। आत्मा शुद्ध है, विकार या शरीर अलग है इस प्रकार का भेद ज्ञान दोनों परम्पराओं में काम्य है। विभिन्नता यह है कि गीता के अनुसार ज्ञान कर्म संन्यास का वाचक है जो केवल परमात्मा से सम्बद्ध है जबकि जैन परम्परा के अनुसार सभी पदार्थों को जानना ज्ञान है।
2. गीता के अनुसार सब पदार्थों में परम प्रभु की व्यापकता का अनुभव करना ज्ञान है। इसे ही संन्यास या सांख्ययोग कहते हैं। वह परमात्मा जीवात्मा से भिन्न परम स्वरूप होता है, एक होता है। सर्वव्यापक एवं सर्वसमर्थ होता है। वह अनादि निधन है। जैनदर्शन यहां सर्वथा भिन्न मत का पोषक है। उसके अनुसार निजशुद्धस्वरूप आत्मा का अनुभव करना ही नैश्चयिक ज्ञान है। वह आत्मा अनेक एवं परिमेय होता है। गीता के समान वह सर्वव्यापक, नित्य एवं विभु नहीं होता है। जैनदर्शन में ईश्वर की कल्पना नहीं है।
3. गीता का ज्ञेय—परमात्मा सृष्टि का पालक एवं संहार कर्त्ता होता है। सृष्टि का निर्माता एकमात्र वही है। जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि है, इसका कोई निर्माता नहीं है।इसका ज्ञेय—शुद्धात्मा सृष्टिकर्त्ता नहीं है।

4. प्रभु के सर्वत्र अनुभव करते-करते स्वयं प्रभु में विलीन हो जाना गीता के ज्ञान का स्वारस्य है। आत्मा का अनुभव करते-करते ही स्वरूप को प्राप्त करना जैन-ज्ञान का अभिलक्ष्य है। गीता पर अर्थात् परमात्मा में परिणति की कथा कहती है जबकि जैनाचार्य निजात्मा में रमण करने की बात करते हैं।
5. ज्ञानी के स्वरूप में एकता है। दोनों परम्परा के ज्ञानी समदर्शी, स्थितप्रज्ञ एवं वीतराग होते हैं। निस्पृह एवं मुनि होते हैं।
6. अक्षय सुख, बन्धन मुक्ति की प्राप्ति दोनों में काम्य है।

17.6 गीता और जैन परम्परा में भक्ति

भगवद्‌गीता भक्ति का आकर ग्रन्थ है। इसमें भक्ति के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वह भक्ति भगवान् श्रीकृष्ण में अनन्य निष्ठारूप है। सम्पूर्ण वृत्तियों को, कृत्यों को प्रभु में पूर्णतया समर्पित कर देना भक्ति है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्यमत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ गीता 18/57

अर्थात् सब कर्मों को सर्वात्मना मुझमें अर्पण करके समबुद्धिरूप योग को अवलम्बन करके मेरे पारायण और मेरे में स्थिर चित्त वाला हो। सभी धर्मों को परित्याग कर सम्पूर्ण रूप से प्रभु को प्राप्त करना भक्ति है। उससे सारे पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥ गीता 18/66

एक स्थल पर भक्त के लिए मय्यासक्तमनाः (7.1) विशेषण का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य है कि प्रभु में आसक्ति भक्ति है और आसक्त मन वाला भक्त होता है। भगवान् नारद ने भक्तिसूत्र में अपने सम्पूर्ण का प्रभु चरणों में अर्पण को भक्ति कहा है—

तदार्पिताऽखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।। नारद भक्ति सूत्र-19

मन और बुद्धि सब कुछ का अर्पण भक्ति है। भक्त लक्षण में गीता का वचन है—

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्‌भक्तः स मे प्रियः॥ गीता 12/14

स्वयं महादेव शंकर ने नारद पाञ्चरात्र में कहा है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषिकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥ (नारद पाञ्चरात्र)

भागवत पुराण (3.29.11-14) में भक्ति की चर्चा विस्तार से मिलती है। जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर प्रवाहित होता रहता है उसी प्रकार प्रभु के गुणों के श्रवण मात्र से मन की गति तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से उस अन्तर्यामी के प्रति हो जाने को श्रेष्ठ भक्ति कहते हैं। ऐसे भक्त भगवद् भजन को छोड़कर मुक्ति आदि को भी नहीं चाहते हैं। भक्ति के द्वारा भक्त त्रिगुणात्मक माया को पार कर प्रेमस्वरूप परम श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लेता है, जहां से पुनः कष्ट संसार में वापस नहीं आता है—

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ गीता 8.21

भगवान् में मन को लगाना, सब कुछ अर्पण करना, उनके प्रभाव को जानकर उन्हीं में रमण करना और उनकी गुणकथा का वर्णन करते हुए परम संतोष एवं तृप्ति को प्राप्त करना भक्ति है—

मच्चित्ता मद्‌गत प्राणाबोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ (गीता 10.9)

भगवान् की भगवत्ता को जानकर, उनकी महानता से प्रभावित होकर श्रद्धापूर्वक हमेशा उनका भजन करना, गुणोत्कीर्तन करना ही भक्ति है। (गीता 10.8) आचार्य गर्ग ने भी लिखा है—कथादिष्विति गर्ग: (नारदभक्तिसूत्र 17) अर्थात् भगवान् की कथा में रति-प्रीति का होना भक्ति है। भागवतकार ने भगवत कथा का महत्त्व प्रतिपादित किया है—

तव कथामृत तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जना:॥ (भा. पु. 10.31.9)

अर्थात् भगवत्कथामृत के सेवन से संसारानल से संतप्त जीवों को अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। हृदय द्रवीभूत होता है, पापों का विनाश होता है, मंगल की प्राप्ति होती है।

भक्ति समर्पण रूपा है। सब कुछ उसी परम पावन में समर्पण कर देना भक्ति है। प्रभु को सब कुछ समर्पितकर भक्त निश्चिन्त हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्पर:।
बुद्धि योगमुपाश्रित्य मच्चित: सततं भव॥ गीता 18/57

अर्थात् सब कर्मों को मन से मुझमें अर्पण करके समबुद्धिरूप योग का आश्रयण कर मेरे पारायण और मेरे में स्थिर चित्त वाला होवे। भक्त भगवान् का आश्रय प्राप्त कर लेता है। जो भगवान् में अनन्यथा भक्ति करते हैं उनका योगक्षेम भी स्वयं भगवान् भी वहन करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गी. 9/22

भगवान् में अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति की उत्पत्ति होती है—

मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। गीता 13.10

इस प्रकार गीता की दृष्टि में भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर में सर्वात्मना समर्पण, उनकी शरणागति, उनके गुणकथा का गायन, चिन्तन, स्मरण, उनकी सेवा, उनके चरणों में पूर्ण अनुरक्ति भक्ति है। जो सर्वसमृद्धिकारिणी, परम-सुखरूपा, अमृतरूपा, प्रेमरूपा, निर्मला, अमला, कल्मषापहारिणी एवं संसार दु:खविशातिनी है।

17.6.1 भक्ति के भेद

गीता की दृष्टि में भक्ति के दो भेद किये जा सकते हैं—सगुण और निर्गुण। सगुण का तात्पर्य भगवान् श्रीकृष्ण के विभिन्न लीला एवं गुण विषयक चिन्तन से है। भक्त भगवान् की मूर्ति, उनके मुख की सुन्दरता, उनके त्रिभुवन कमन रूप पर मोहित होकर उनका स्मरण, चिन्तन करता रहता है वह सगुण भक्ति है। निर्गुण निराकार सर्वव्यापक, सर्वतन्त्र स्वतंत्र प्रभु का चिन्तन निर्गुण भक्ति है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ (गीता 8/8)

अर्थात् हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यासरूप योग से युक्त दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाश स्वरूप दिव्य पुरुष अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

17.6.1.1 सिद्धभक्ति

आठ कर्मों से रहित, आठ गुणों से युक्त, परिसमाप्त कार्य और मोक्ष में विराजमान जीव सिद्ध कहलाते हैं। सिद्धों के प्रति नमस्कार, उनका वन्दन, स्मरण, शरणागति आदि सिद्ध भक्ति है। आचार्य कुन्दकुन्द सिद्धों के

भक्त थे। सिद्धों की भक्ति से स्वयं व्यक्ति सिद्ध स्वरूप हो जाता है। आचार्य सोमदेव का कथन है कि सिद्धों की भक्ति से रत्नत्रय की उपलब्धि होती है।

17.6.1.2 श्रुतभक्ति

गुरु-परम्परा से सुनकर जिसे प्राप्त किया जाय, याद रखा जाए उसे श्रुत कहते हैं। श्रुत, आगम, प्रवचन आदि पर्याय वाचक शब्द हैं। श्रुत के वक्ता के द्वैविध्य के कारण दो रूप उपलब्ध होते हैं: अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। इनका सम्मान, आदर, पूजा, अध्ययन आदि श्रुतभक्ति है। शास्त्र एवं शास्त्राचार्यों की पूजा की जाती है। जैनाचार्यों ने श्रुतदेवी की भी परिकल्पना की है। श्रुत भक्ति से उत्तम-सुख और परमानन्द की उपलब्धि होती है। मोह का विनाश होता है और त्रिभुवन का स्वामित्व सहजतया प्राप्त हो जाता है।

17.6.1.3 चारित्र भक्ति

जो आचरण किया जाता है वह चारित्र है। जैन परम्परा में सम्यक् चारित्र के रूप में स्वीकृत है। पूज्यपाद ने लिखा है—संसार बंध के कारणों को दूर करने की अभिलाषा करने वाला ज्ञानी पुरुष कर्मों की निमित्तभूत क्रिया से विरत हो जाते हैं, इसी को सम्यक् चारित्र कहते हैं। आचार (चारित्र) के पांच भेद स्वीकृत किये गए हैं—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार और चारित्राचार। इन पांचों का आचरण, इनके प्रति श्रद्धा, इनकी वन्दना चारित्र भक्ति है। चारित्र की महिमा का वर्णन करना चारित्र भक्ति है। आचार्य सोमदेव ने लिखा है—"संयम, दम और ध्यानादि से युक्त चारित्र 'सम्यक्त्वरत्नाकर' है, इसके बिना मुनियों के कठोर से कठोर तप भी व्यर्थ हो जाते हैं। चारित्र भक्ति सभी मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला चिन्तामणि रत्न है। इससे स्वर्ग और अपवर्ग दोनों की प्राप्ति होती है।"

17.6.1.4 योगिभक्ति

ध्यान सामग्री अर्थात् अष्टांग योग को धारण करने वाला व्यक्ति योगी कहलाता है। समाधिनिरत योगी होता है। योगि-भक्ति में योगियों की अभ्यर्थना, अर्चना, वंदना, प्रणति, उनकी महिमा का गायन योगिभक्ति है। योगिभक्ति से सर्वोत्तम शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है, सांसारिक दुःखों का विनाश हो जाता है।

17.6.1.5 आचार्य भक्ति

जो उत्तम चारित्रादि गुणों से युक्त होता है, जिसके आचरण का अनुकरण सामान्य जन करता है, जो मंत्र का व्याख्याता होता है, विविध शास्त्रों में पारंगत होता है वह आचार्य है। उसके प्रति निष्ठा, उसका सत्कार, सम्मान तथा उसकी महिमा का गायन आचार्य भक्ति है। शुद्धभाव से आचार्य में अनुराग करना आचार्य भक्ति है। आचार्य भक्ति से कर्मों का विनाश कर भक्त संसार सागर को पार कर जाता है।

17.6.1.6 पंचगुरु भक्ति

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच गुरु या पंच परमेष्ठी कहे जाते हैं। इनकी महिमा का गायन पंचगुरुभक्ति है। पंचगुरुभक्ति से भक्त रत्नत्रय की उपलब्धि होती है। पंचगुरुओं की गुण-महिमा के कीर्तन से नित्य परमानन्द की उपलब्धि होती है।

17.6.1.7 तीर्थंकर भक्ति

संसार रूप समुद्र को तरने में जो सहायक होता है वह तीर्थ है। विविधाचार्यों ने द्वादशांग, रत्नत्रय, आत्मा चतुर्विध संघ आदि को तीर्थ कहा है। जो तीर्थ का निर्माण करता है वह तीर्थंकर है। तीर्थंकर मौलिक मार्ग का स्रष्टा होता है। उसकी ध्वनि दिव्यध्वनि होती है। तीर्थंकर की महिमा एवं गुणनिष्ठ नामों का कीर्तन, भजन, उनकी शरणागति, दर्शन, उनका स्मरण आदि तीर्थंकर भक्ति है। उनके नाम स्मरण मात्र से ही सारे पाप-ताप समाप्त हो जाते हैं। मानतुंग ने भक्तामर-स्तोत्र में लिखा है—

दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्।
त्वन्नाम कीर्तनजलं शमयत्यशेषम्॥
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा।
तं मानतुङ्ग.मवशा समुपैति लक्ष्मी:॥

एकीभाव स्तोत्र में वादिराजसूरि ने लिखा है—प्रभो! आपके चरण कमलों की संगति को प्राप्त कर भक्त सभी पापों से तर जाता है।

17.6.1.8 शान्ति भक्ति

पूर्ण निराकुलता का नाम है शान्ति। शांति के लिए की गई भक्ति को शांति भक्ति कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—जिनेन्द्र के चरणों की स्तुति करने से समस्त विघ्न और शारीरिक रोग समाप्त हो जाते हैं। शांति यन्त्र की पूजा का भी उल्लेख मिलता है।

17.6.1.9 समाधि भक्ति

सम्पूर्ण विक्षेपों का परित्याग कर मन को एकाग्र करना समाधि है। सविकल्प एवं निर्विकल्प रूप से समाधि के दो भेद हैं। मंत्र, इष्ट, गुरु आदि का अवलम्ब लेकर चित्त को स्थिर करना सविकल्पक समाधि है और शुद्धस्वरूप निजात्मा में ध्यान एकाग्र करना निर्विकल्पक समाधि है। समाधि प्राप्त करने वाले पुरुषों से समाधिपूर्वक मरण की याचना समाधि भक्ति है।इससे कर्मबन्ध मुक्ति एवं शाश्वत आनन्द की उपलब्धि होती है।

17.6.1.10 निर्वाण भक्ति

निर्वाण (मुक्ति) प्राप्त आत्माओं की भक्ति निर्वाण भक्ति है। पंचकल्याणक स्तुति, तीर्थक्षेत्रस्तुति तीर्थयात्रा आदि निर्वाण भक्ति है। इससे संसार बन्धन से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

17.6.1.11 नन्दीश्वर भक्ति

नन्दीश्वर-द्वीप में अकृत्रिम जिन मन्दिरों और उनमें विराजमान प्रतिमाओं की पूजा अर्चन करना नन्दीश्वर भक्ति है।

17.6.1.12 चैत्य-भक्ति

चिता पर बने स्मृति चिह्नों को चैत्य कहते हैं। इन स्थानों पर पहले वृक्ष लगाये जाते थे, उन्हें चैत्यवृक्ष कहा जाता था। अभयदेवसूरि ने भगवतीवृत्ति में जिन प्रतिमा को चैत्य कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्ध आत्मा को चैत्य कहा है। इस प्रकार चैत्य वृक्ष-सदन (जिनालय) चैत्य-प्रतिमा आदि की पूजा अर्चा चैत्य भक्ति कहलाती है।

17.6.2 भक्त का स्वरूप

भक्त वह होता है जो ऋजुमना, स्वस्थ चित्त, कोमल ह्दय, समाहित व्यक्तित्व, प्रशान्त चित्त, जितेन्द्रिय, सत्यवादी एवं प्रभु में एकनिष्ठ मन वाला होता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भक्त का स्वरूप विस्तार से वर्णित है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतवर्षभ ॥ (गी. 7.16)

अर्थात् हे अर्जुन! उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मुझको भजते हैं। तात्पर्य है कि भक्त के चार प्रकार का निर्देश गीता में मिलता है—अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए भजने वाला भक्त अर्थार्थी है। संकट निवारण के लिए प्रभु शरण में जाने वाला आर्त्त भक्त कहलाता है। जैसे महाभारत की द्रौपदी, भागवत पुराण की उत्तरा, अर्जुन आदि आर्त्त भक्त हैं। भगवान् को यथार्थरूप से जानने की इच्छा से भक्ति में प्रवृत्त होने वाला भक्त जिज्ञासु

है। 'वासुदेव सर्वम्' की भावना से भावित होकर भगवान् में लीन होने वाला भक्त ज्ञानी कहलाता है। ऐसा भक्त परम दुर्लभ और भगवान् को सबसे प्रिय है—

तेषां ज्ञानी नित्युक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ गी. 7.17

अर्थात् उपर्युक्त चारों भक्तों में नित्य मुझमें एकाकी भाव से स्थित, अनन्य प्रेम वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि तत्त्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है। गीता के 12वें अध्याय में विस्तार से उत्तम भक्त का लक्षण दिया गया है। जो व्यक्ति सभी जीवों में द्वेषभाव से रहित, सबका मित्र और दयालु है तथा ममतारहित, अहंकार से रहित सुख-दुःख में समान भाव वाला, क्षमावान्, योगी, संतुष्ट, यती, दृढ़-निश्चय एवं भगवान् में एकनिष्ठ मन वाला भक्त श्रेष्ठ होता है। जो लोक को उद्वेलित नहीं करता और स्वयं उद्वेग रहित होता है। मुक्तसंग, पवित्र आत्मा, सर्वारम्भपरित्यागी, द्वेष-कांक्षा से रहित, शत्रु-मित्र में समान भाव वाला, सहिष्णु आदि गुणों से युक्त भक्त श्रेष्ठ होता है और वही भक्त भगवान् को सबसे प्रिय है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ (गी. 12.19)

17.6.3 भक्ति का लक्ष्य

प्रभु चरण रति ही भक्ति का परम लक्ष्य है। मोक्षादि की प्राप्ति होने पर भी भक्त उसका परित्याग कर भगवान् चरणों में निवास की ही कामना करता है। भगवान् में अचला श्रद्धा ही भक्ति में काम्य है। भागवत पुराणकार में स्वयं भगवान् का वचन है—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठयं न रसाधिपत्यम्।
न योग सिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्ना॥ (भा.पु. 10.16.37)

अर्थात् जो भक्त भगवच्चरणों की धूलि की शरण ले लेते हैं, वे भक्तजन स्वर्ग का राज्य या पृथ्वी का साम्राज्य नहीं चाहते हैं। न ही वे रसातल के राज्य चाहते हैं और न ही ब्रह्मपद ही लेना चाहते हैं। उन्हें अणिमादि योग सिद्धियों की भी चाह नहीं होती। यहां तक कि वे जन्म मृत्यु से छुड़ाने वाले कैवल्य-मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते हैं। भक्त प्रभु से केवल दुःख की याचना इसलिए करते हैं कि दुःख में ही प्रभु की स्मृति रहती है जिससे उनका दर्शन होता है जो अपुनर्भव का कारण है। कुन्ती भगवान् श्रीकृष्ण से याचना करती है—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥ (भा.पु. 1.8.25)

परम सुखशान्ति, अपरिमेय आनन्द एकमात्र भक्ति से ही प्राप्य है। अनेक सूक्तियां प्रसिद्ध हैं—

मद्भक्तिः सुकरामोक्षदायिनी ।
भक्तियोगान्मुक्तिः
भक्तिर्मोक्षाय केवलम् ।
भक्तिरेकैव मुक्तिदा ।
केवला भक्तिर्हि ब्रह्मसायुज्यकारिणी।

भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ लाभ होती है। भक्तिरेव परोलाभः। भक्ति से वैसी वस्तु की उपलब्धि, परामात्मा की प्राप्ति हो जाती है, जिसको प्राप्त कर लेने पर और कोई प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता है।गीता का वचन है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ (गीता 6/22)

अर्थात् जिस लाभ को प्राप्त करने पर और कुछ प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाता है। उस परमात्म प्राप्ति रूप परमावस्था में स्थित भक्त भयंकर विपत्तियों से भी विचलित नहीं हो पाता है।

17.6.4 जैन परम्परा में भक्ति

आचारांग, सूत्रकृतांग आदि जैन परम्परा के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। इनमें भक्ति का प्रारम्भिक रूप उपलब्ध है। यहां भक्ति श्रद्धा के रूप में उपस्थित है। सूत्रकृतांग सूत्र का 'महावीरत्थुई' भक्ति परक स्तोत्र है। इसमें अनेक साभिप्राय विशेषणों द्वारा भगवान् महावीर की स्तुति की गई है। स्तुति भक्ति के अभाव में नहीं होती है। उपास्य के गुणों का संगान ही स्तुति है, इसे ही कीर्तन भक्ति भी कहते हैं। स्तोत्र, स्तुति, स्तव आदि कीर्तन भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। 'महावीरत्थुई' में अनेक उपमानों के द्वारा भगवान् की महनीयता का संकीर्तन तो किया ही गया है, साथ ही भगवत्गुणों पर श्रद्धा, अनुराग आदि से लाभ का भी निर्देश किया गया है। आप्तवचन है—

सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं समाहितं अट्ठपओवसुद्धं।
तं सद्दहंता य जणा अणाऊं इदाव देवाहिव आगमिस्संति॥ सूत्र. 1.6.29

अर्थात् श्री अरिहन्त देव द्वारा भाषित सम्यक्रूप से उक्त युक्तियों और हेतुओं से अथवा अर्थों और पदों से शुद्ध धर्म को सुनकर उस पर श्रद्धा करने वाले व्यक्ति आयुष्य कर्म से मुक्त हो जायेंगे अथवा इन्द्रों की तरह देवों के आधिपत्य को प्राप्त करेंगे। सर्वार्थसिद्धि में इसी तरह के अर्हदादि के गुणों पर भाव विशुद्धियुक्त अनुराग को भक्ति कहा गया है—

अर्हदाचार्य बहुश्रुत प्रवचनेसु भावविशुद्धि युक्तोऽनुरागो भक्तिः। (सर्वार्थसिद्धि 6.24.339.4)

वहीं पर भावों की विशुद्धियुक्त अनुराग को भक्ति कहा है—

भावविशुद्धि युक्तोऽनुरागो भक्तिः। (सर्वार्थसिद्धि 6.24.339.4)

निज परमात्मा तत्त्व में सम्यग् श्रद्धानादि भक्ति है। रत्नत्रय में प्रथम सम्यग्दर्शन भक्ति का ही दूसरा नाम है। सेवा, श्रद्धा, अनुराग, समर्पण, आराधना, पूजा, अर्चना, वंदन, अभ्यर्थना, भावविशुद्धि आदि शब्द भक्ति के विभिन्न रूप हैं।

आवश्यक निर्युक्ति में फलसहित भक्ति का विवेचन मिलता है—

भत्तीह जिणवराणं खिज्जंती पुव्व संधियाकम्मा।
आयरियनमुक्कारेण विज्जा मंता य सिज्झंति।।
भत्तीह जिणवराणं परमाए खीणपिज्जदोसाणं।
आरुग्ग बोहिलाभं समाहिमरणं च पावंति॥ (आवश्यक निर्युक्ति 1110-1111)

अर्थात् जिनवरों की भक्ति से पूर्व संचित कर्म क्षीण होते हैं। आचार्य के नमस्कार से विद्या और मंत्र सिद्ध होते हैं। पुनः जिनवरों की भक्ति से राग-द्वेष समाप्त होकर आरोग्य बोधि और समाधिका लाभ होता है।

भक्ति से कर्मक्षय, बन्धन-विनाश के उपरान्त भक्त अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। स्व-स्वरूप में अधिष्ठान ही जैन-भक्ति का लक्ष्य है। भक्त भगवान् के गुणों का गायन करते-करते तत्स्वरूप हो जाता है।

जैन परम्परा में दो प्रकार की भक्ति है—निष्काम और सकाम। निष्काम भक्ति अपने स्वरूप में अधिष्ठान स्वरूप है। सारे प्रपंचों का निरास कर निज शुद्धात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना निष्काम भक्ति है।

निश्चय नय की दृष्टि से सम्यग्दृष्टि आत्मा की भावना भक्ति है। निज परमात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, अवबोध, आचरण स्वरूप शुद्ध रत्नत्रय परिणामों का भजन भक्ति है। इसमें कोई सांसारिक या भौतिक कामना नहीं होती है।

निष्काम भक्ति का आदर्श होने पर भी सामान्य जन के लिए दु:साध्य होने के कारण जैनाचार्यों ने सकाम भक्ति की भी विवेचना की है। अनेक जैनभक्त कवियों ने यह निर्देश किया है कि भगवान् की भक्ति से संसार में सब कुछ प्राप्त हो जाता है। रोगमुक्ति, भयमुक्ति एवं अचिन्त्यफल की प्राप्ति होती है। भगवन्नाम श्रवण, स्मरण, कीर्त्तन आदि से सारे पाप ताप समाप्त हो जाते हैं और रोग, जल, आग, सर्प, चोट एवं सिंहादि का भय भी समाप्त हो जाता है। प्रभु के कथा श्रवण से सारे पाप-ताप समाप्त हो जाते हैं—

त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति। (भक्तामर स्तोत्र 9)

अर्थात् आपकी कथा भी सभी पापों का विनाश कर देती है। आचार्य सिद्धसेन ने भी इस ओर निर्देश किया है—

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन! संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहत् पान्थजनान् निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥ (कल्याणमंदिर 7)

17.6.5 गीता और जैन भक्ति में तुलना

गीता और जैन परम्परा दोनों स्थलों पर भक्ति का सांगोपांग वर्णन किया गया है। दोनों में कुछ समानताएं हैं और कुछ विषमताएं। प्रथमदृष्टया समानताओं को अधोविन्यस्त रूप से अंकित किया जा सकता है—

1. दोनों परम्पराओं ने अपने उपास्य में एकनिष्ठ श्रद्धा और अनन्यता को भक्ति कहा है।
2. दोनों स्थलों पर भक्ति की महत्ता ख्यापित है। गीता के साथ-साथ जैनवाङ्मय में भी यह स्वीकृत है कि भक्ति से भवरोग का विनाश एवं अनन्तसुख और परमानन्द की अनुभूति होती है।
3. दोनों परम्परा के आचार्यों ने अपने उपास्य की महिमा, गुणकीर्त्तन, कथाश्रवण, चरणस्मरण एवं शरणागति पर बल दिया है। गीता का अर्जुन सर्वात्मना अपने कृष्ण के चरणों की शरणागति ग्रहण कर लेता है। वह कहता है—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीडयम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः।
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ (गीता 11.44)

अनन्यमन से वह श्रीकृष्ण का ही हो जाता है। भागवत पुराण में नलकुबर मणिग्रीव भगवद्गुणकीर्त्तन में ही अपनी जीवन की सार्थकता समझते हैं—

वाणी गुणानुकथने श्रवणं कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे।
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥ भागवत पुराण 10.10.38

अर्थात् हे प्रभो! मैं अपने शरीर को भलीभांति आपके चरणों में निवेदित कर प्रणाम करके स्तुति करने योग्य आप ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करता हूं। हे देव! पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के और पति जैसे प्रियतमा पत्नी के अपराध को सहन करते हैं, वैसे ही आप भी मेरे अपराध को सहन करने योग्य हैं।

प्रभो! हमारी वाणी आपकी मंगलमय गुणों का वर्णन करती रहे, हमारे कान आपकी रसमयी कथा में लगे रहे। हमारे हाथ आपकी सेवा में तथा मन आपके चरण कमलों में रमण करने लग जाएं। हमारा मस्तक आपके सामने झुका रहे। संत आपके प्रत्यक्ष शरीर हैं हमारी आंखें उनकी दर्शन करती रहें।

जैन परम्परा में अनेक स्थल ऐसे उपलब्ध हैं जहां पर नामकीर्त्तन आदि का महत्त्व बताया गया है। भक्तामर स्तोत्र में मानतुङ्ग. लिखते हैं—

आस्तां तवस्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासमाञ्जि॥ भक्तामरस्तोत्र-9

4. दोनों परम्पराओं के भक्तों ने अपने-अपने उपास्य की श्रेष्ठता की उद्घोषणा की है। चाहे गीता का भक्त हो अथवा जैन परम्परा का, दोनों ने अपने उपास्य को त्रैलोक्य सुन्दर, त्रिभुवन नाथ, संसार के भूषण आदि के रूप में चित्रित किया है। दोनों ने एक जैसे विशेषणों का प्रयोग भी किया है। जैसे गीताकार ने अपने उपास्य के लिए अचिन्त्यरूप, अव्यय, असंख्य, परम, तमसः परस्तात् आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। जैन भक्त कवियों ने भी ऐसे विशेषणों का प्रयोग अपने उपास्य के लिए किया है। गीता में वर्णन है—

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। (गीता 8.9)
परमम् (गीता 8.3, 8.8, 10.12, 11.9, 11.18)

जैन परम्परा के भक्तामर स्तोत्र के दो श्लोक (23, 24) दृष्टव्य हैं—

आदित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् (भक्तामर स्तोत्र 23)
त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वर मनन्तमनंग केतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः॥24॥

गीता के संगायक भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने को ज्ञान स्वरूप कहा है:

ज्ञानं ज्ञानवतामहम् (गी. 10.38)

वैषम्य

1. दोनों परम्पराओं के भक्ति में मूल अन्तर है कि गीता की भक्ति ईश्वरवाद पर आधारित है जहां पर ईश्वर जगत् का कर्त्ता धर्ता और हर्ता है। सांसारिक प्राणियों के कष्ट को दूर करने के लिए ईश्वर अवतार ग्रहण करता है। जैन परम्परा की भक्ति आत्मवाद पर आधारित है। वहां ईश्वर के कर्त्तृत्व का स्वीकरण नहीं है।
2. गीता की भक्ति में ईश्वर-भक्ति, श्रीकृष्ण भजन ही काम्य है। गीता की परम्परा में भक्त मुक्ति का भी परित्याग कर केवल भगवच्चरणाविन्द शरणागति को ही ग्रहण करना चाहता है जबकि जैन परम्परा का भक्त मोक्ष प्राप्त करना चाहता है।
3. जैन परम्परा के कल्याण मंदिर, भक्तामर स्तोत्र आदि प्रमुख स्तोत्र गीता अथवा भागवत भक्ति से प्रभावित हैं।

17.7 सारांश-वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि चाहे गीता की भक्ति हो अथवा जैन परम्परा की दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। भाव के साथ-साथ शब्दों की भी समानता उपलब्ध है।

17.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन और गीता के अनुसार भक्ति के महत्त्व का तुलनात्मक विवेचन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. गीता के आधार पर कर्म का विवेचन करें।
2. जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान का विश्लेषण करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कर्म शब्द में धातु क्या है?
2. विकर्म किसे कहते हैं?
3. निष्कर्म का कर्त्ता कौन है?
4. जैनदर्शन के अनुसार कर्म के कितने प्रकार हैं?
5. मतिज्ञान क्या है?
6. गीता की दृष्टि में भक्ति के कितने भेद किए जा सकते हैं?
7. गीता में भक्त के कितने प्रकार हैं?
8. सूत्रकृतांग का कौन-सा अध्ययन भक्ति परक स्तोत्र है?
9. जैनाचार्यों ने भक्ति के कितने भेदों का उल्लेख किया है?
10. योगी कौन कहलाता है?

संदर्भ ग्रन्थ—

1. श्रीमद्भगवद्गीता—शांकर भाष्य सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर
2. साधक संजीवनी—रामसुखदास—गीता प्रेस, गोरखपुर
3. गीता प्रवचन—विनोबा
4. जैनदर्शन: मनन और मूल्यांकन—आचार्य श्री महाप्रज्ञ
6. जैनदर्शन—महेन्द्रकुमार, न्यायाचार्य
7. तत्त्वार्थसूत्र
8. नारद भक्तिसूत्र
9. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र
10. भक्ति अंक—कल्याण
11. गीता रहस्य-बालगंगाधर तिलक

लेखक—डॉ. हरिशंकर पाण्डेय

☆☆☆

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय दर्शन—लेखक—डॉ. राधाकृष्णन,प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
2. आत्म मीमांसा—पं. दलसुख मालवणिया, प्रकाशक—जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस-5
3. बौद्ध दर्शन मीमांसा—आचार्य बलदेव उपाध्याय,प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
4. आर्हती-दृष्टि—समणी मंगलप्रज्ञा, प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चुरू
5. भारतीय तत्त्वविद्या—पं. सुखलाल संघवी
6. भारतीय दर्शन—डॉ. राधाकृष्णन
7. इंसाइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फिलो. भाग II—कार्ल, एच. पोट्टर
8. सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण
9. भारतीय दर्शन का इतिहास—एस.एन दासगुप्ता
10. जैनधर्म : जीवन और जगत्—साध्वी कनकश्री
11. भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन : एक तुलनात्मक अध्ययन
12. उत्तरज्झयणाणि दूसरा भाग (36वां अध्ययन)
13. औपपातिक सूत्र
14. तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर-दिसम्बर 1993-निबन्ध—जैनदर्शन में मोक्षवाद
15. सर्वदर्शन संग्रह
16. Causation in Indian Philosophy, Mahesh Chandra Bharatiya. p. 1-30, 106-110, 139-148, 273-275,
17.. प्रमाण मीमांसा की प्रस्तावना पृ. 5-11 पण्डित सुखलालजी संघवी
18. भारतीय तत्त्व विद्या पृ. 23-47 पण्डित सुखलालजी संघवी
19. जैन दर्शन मनन और मीमांसा पृ. 652-657 आचार्य महाप्रज्ञ
20. जैन न्याय का विकास पृ. 73 आचार्य महाप्रज्ञ
21. जैन दर्शन और विज्ञान, पृ. 226-231 मुनि महेन्द्रकुमार
22. सांख्य कारिका 9 पर वाचस्पति मिश्र की टीका
23. Encyclopedia of Religion and Philosophy, Vol. p. Article on
24. आत्म-मीमांसा—पं. दलसुखमालवणिया, प्रकाशक—जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस-5
25. जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्यन—डॉ. सागरमल जैन, प्रकाशक—राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर
26. बौद्ध धर्म-दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली
27. भारतीय दर्शन- डॉ. एन.के. देवराज, लखनऊ
28. जैन-दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, देवेन्द्र मुनि शास्त्री, प्रकाशक: तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर।
29. बौद्ध दर्शन मीमांसा- बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।
30. जैन विद्या के विविध आयाम (भाग 6) डा. सागरमल जैन, अभिनन्दन ग्रन्थ, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।
31. प्रमाण मीमांसा—संपा. पं. सुखलाल संघवी,प्रकाशन: सरस्वती पुस्तक, अहमदाबाद
32. जैनदर्शन, मनन और मीमांसा—लेखक—आचार्य श्री महाप्रज्ञ, प्रकाशन: आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राज.)
33. षड्दर्शन समुच्चय—संपा. पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, प्रकाशन: भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
34. जैन न्याय का विकास—आचार्य महाप्रज्ञ

35. प्रमाण मीमांसा (भाषा टिप्पण)—पण्डित सुखलाल द्वारा सम्पादित
36. आर्हती दृष्टि—समणी मंगलप्रज्ञा
37. भारतीय दर्शन में अनुमान—डॉ. ब्रजनारायण शर्मा
38. भारतीय दर्शन में अनुमान—डॉ. ब्रजनारायण शर्मा, प्रकाशन—मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
39. जैन-न्याय का विकास, आचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशन—आदर्श साहित्य संघ
40. ठाणांग—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक-विवेचक मुनि नथमल। प्रकाशन—जैन विश्व भारती।
41. भेद में छिपा अभेद—युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशन—जैन विश्व भारती।
42. विसुद्धिमग्गो (भाग-1) बुद्धघोष आचार्य, प्रकाशक अनुसंधान संस्थान, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी—2, 1969
43. बौद्धदर्शन मीमांसा—आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन चौक, पो.बा. 69, वाराणसी—221 001, चतुर्थ संस्करण 1989
49. बौद्धधर्म दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, प्रा.लि. दिल्ली-110 007, प्रथम संस्करण 1956, पटना
50. अतीत का अनावरण—आचार्य तुलसी, मुनि नथमल, प्रकाशन—भारतीय ज्ञानपीठ।
51. ध्यानशतक—सम्पादक बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक वीर सेवा मंदिर।
52. पातंजल योग प्रदीप—श्रीस्वामी ओमानन्द तीर्थ—प्रकाशन—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
53. षड्दर्शन रहस्य—प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना
54. तत्त्वार्थसूत्र—विवेचक पण्डित सुखलाल संघवी, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
55. तुलसी प्रज्ञा—जैनयोग विशेषांक, फरवरी-मार्च 1982, प्रकाशन जैन विश्व भारती।
56. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता—शांकर भाष्य सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर
57. साधक संजीवनी—रामसुखदास—गीता प्रेस, गोरखपुर
58. गीता प्रवचन—विनोबा
59. जैनदर्शन: मनन और मूल्यांकन—आचार्य श्री महाप्रज्ञ
60. जैनदर्शन—महेन्द्रकुमार, न्यायाचार्य
61. तत्त्वार्थसूत्र
62. नारद भक्तिसूत्र
63. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र
64. भक्ति अंक—कल्याण
65. गीता रहस्य-बालगंगाधर तिलक